स्वामी श्रद्धानन्द

(समग्र मूल्यांकन)

सम्पादक
प्रो. भारतभूषण विद्यालंकार

लेखक
डा. रणजीत सिंह

कुछ पुस्तक के बारे में

यदि राष्ट्र के कार्यों को आगे बढाना है तो एक तरफ जहाँ नवयुवकों को राष्ट्र के प्रति प्रेरित करना है। वहीं कर्मठ, सिद्धान्तवादी और राष्ट्रोत्थान के लिये सर्वदा समर्पित करने वालों का सम्मान भी आवश्यक है। क्योंकि यह वृद्ध–सम्मान व उनका जीवन ही आगे आने वालों का पाथेय बनता है।

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन विविध वर्णी है कहीं वह सभी प्रकार के व्यसनों में लिप्त है तो कहीं दयानन्द का दौडकर पीछा करने की चेष्टा करने वाला बलशाली युवक है। वह हरिजनो को गले लगाने की बात करता है तो इस कार्य को गौण समझने पर गांधी के भी विरुद्ध खड़ा हो जाता है। राजनीति और धर्म को परस्पर पूरक बनाना उसकी रुचि है त्याग सेवा व निष्ठा उसका मूलमंत्र है। इन्होने मुशीं राम को श्रद्धानन्द बना दिया। इन विभिन्न वर्णो को लेकर लेखक ने अपनी तटस्थता से भली भाँति उकेरा है कि कोई भी रंग किसी दूसरे रंग को दबाता नहीं है। न ही कुछ छूट पाता है। अपने पूज्य के प्रति भी यह न्याय की तटस्थता ही समग्र मूल्याकंन को प्रतिफलित करती है जीवनी लेखक इसमें पूर्ण सफल हुआ है।

"स्वामी श्रद्धानन्द"

(समग्र मूल्यांकन)

लेखक

रणजीत सिंह

सम्पादक

प्रो. भारतभूषण विद्यालंकार

निदेशक – श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

अजय प्रिन्टर्स एवं पब्लिशर्स
रुड़की – 247 667

स्वामी श्रद्धानन्द
(समग्र मूल्यांकन)

प्रकाशक :
श्रद्धानन्द शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

लेखक :
डा. रणजीत सिंह

सम्पादक :
प्रो० भारत भूषण विद्यांलकार

प्रथम संस्करण : 22 दिसम्बर, 1996

ISBN : 81-86463-13-5

मूल्य : 300.00 रुपये

मुद्रक :
अजय प्रिन्टर्स एवं पब्लिशर्स
19, सिविल लाईन, (निकट शताब्दी द्वार)
रुड़की – 247 667, उ.प्र., भारत
दूरभाष : 01332 - 73140, 74740
फैक्स : 01332 - 74740

दो शब्द

जिस वीर सन्यासी की वाटिका में मुझे रहने व कार्य करने का अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य ही है। गंगा के पावन तट पर एक मुंशी ने जो विरवा बोया था, वह खूब फला–फूला। उसके पुष्पों के पराग–कण आज भी उस तट को सुवासित एवं तपः पूत कर रहे हैं। वह सुगन्ध फैली तो संसार भर के भँवरो को आकर्षित कर गई। गुरुकुल के अगणित स्नातकों का कुल–पिता मुंशीराम महात्मा था, शिक्षा–प्रणाली का पुनरुद्धारक शिक्षा शास्त्री था। जो शिष्यों का पिता ही नहीं माता भी था।

महात्मा गांधी के शब्दों में "आर्य समाज का सर्वश्रेष्ठ कार्य गुरुकुल का संचालन है। मुझे मालूम है कि इसकी शक्ति का स्रोत महात्मा मुंशीराम जी का महान व्यक्तित्व है। सरकारी सहायता के बिना इन्होंने इतनी विशाल संस्था को सफलतापूर्वक चलाया, यह उनके ही वीरतापूर्ण जीवन के कारण संभव हो सका"

उन "कल्याण मार्ग के पथिक" स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की अनेक जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं। सभी अपने अपने दृष्टिकोण से बहुमूल्य हैं, वे चाहे उनके शिष्यो की भेंट हो या जोर्डन्स सरीखे विदेशियों की। वस्तुतः उनके जीवन के समग्र मूल्यांकन के विचार से प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति की यह जीवनी है वह सदा विवादों से घिरा रहा। वह श्रद्धानन्द सन्यासी कभी कांग्रेस का स्वागताध्यक्ष है तो कभी उसका आलोचक, कभी सादर आमान्त्रित कभी निष्काषन से पीड़ित।

ऐसे व्यक्ति की जीवनी लिखना सहज नहीं होता। शिक्षा के क्षेत्र के विस्तृत अनुभव व विभिन्न जीवनियाँ लिखकर जिसने अपनी कलम को माँज लिया है वह ही इसका अधिकारी विद्वान हो सकता है। डा. रणजीत सिंह में ये दोनों ही गुण हैं। उन्होंने जिस तटस्थ बुद्धि से इस कार्य को पूर्णता प्रदान की वह सराहनीय है।

मैं गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के श्रद्धानन्द शोध संस्थान की ओर से इसके प्रकाशन पर हार्दिक प्रसन्नता अनुभव करता हूँ।

डा. धर्मपाल
कुलपति
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सम्पादकीय

भारतवर्ष के नाति प्राचीन इतिहास में गत शताब्दी का बहुत बड़ा महत्व है। सैकड़ों वर्षो की दासता के अन्धकार में प्रकाश की क्षीण ज्योति से भविष्य के सूर्योदय की सूचना मिलने लगी थी। लम्बे समय के बाद एक ऋषि ने अनेक दीपक प्रज्वलित कर दिये थे। इनका सेवाकार्य और सेवामय जीवन धर्म की आभा से आलोकित थे। सत्य की बाती ओर श्रद्धा के तेल से ये लवालब भरे थे। इन लोगों ने शिक्षा व समाज सुधार को जीवन समर्पित किये। जहाँ ज़हाँ मनुष्य उस विश्वात्मा का दर्शन करता है वहाँ वहाँ उसे अपनत्व की अनुभूति होती है हम सब उस विश्वात्मा के स्फुलिंग हैं। एक ही शक्ति के अंश हैं, एक ही पिता की सन्तान हैं। इस महान सत्य को जितना जितना कोई व्यक्ति आत्मसात करता है उतना उतना उसके प्रेम का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। इस प्रकार वे समाज के विकास के मूर्तरुप आन्दोलन बन जाते हैं। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप इस देश में स्वतंत्रता का सूर्योदय हुआ। परन्तु बहुत शीघ्र ही इस सूर्य पर महा मोहमय बादल घिर आये। इस देश का नवयुवक उस सूर्य की ओर पीठ करके पश्चिमी आदर्शो की ओर उन्मुख हो गया।

आज 'जयहिन्द' का नारा नव युवकों के खून में उबाल नहीं लाता, 'सर फरोशी की तमन्ना' की जगह माइकल जैक्सन ने ले ली है। किसान और जवान' आज उपेक्षित हो रहे हैं। समाज सेवा उपहास हो गया है। सत्य व धर्म की चर्चा पोंगापन हो गया है, चरित्र व संस्कृति की चर्चा कानों को पीड़ा पहुँचाती है। गुरुजनों के आशीर्वाद बुर्जुआ कहे जाने लगे हैं।

ऐसे समय में जो लेखक देश और समाज के उन सेवकों की गाथाएँ लोगों के सामने रखता है जिन्होंने स्थिति –प्रज्ञ की भाँति सुख–दुख, मानापमान, निन्दास्तुति की चिन्ता किये बगैर, निस्वार्थ भाव से , श्रद्धा व निष्ठा से अपनी समस्त शक्ति को अपने लक्ष्य पर केन्द्रित करके, जनता को जनार्दन मानकर निविड़ अन्धकार में प्रकाश स्तम्भ खड़ा करने का प्रयास किया, वह भी तत्तुल्य आदर व श्रद्धा का भाजन बनता है।

आर्य समाज में वीर–पूजा से सम्बन्धित साहित्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ, वह भी उस पूर्णता के साथ नहीं हो सका जैसा अन्य लोगों ने अपने महापुरुषों के प्रति किया। इन महापुरुषों में स्वामी श्रद्धानन्द एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज एवं राजनीति में सुधार की भावना के साथ मैकाले की चुनौती को स्वीकार किया और एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की पुनः स्थापना की जो इस देश व संस्कृति का मूलाधार थी, जिसके सहारे इस देश का वटवृक्ष खड़ा था, न केवल खड़ा था अपितु विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित था।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा मुंशीराम बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में एक ऐसी संस्था स्थापित करने में सफल हुए थे, जिसका स्वरुप प्राचीन भारत के भारद्वाज, कण्व, वशिष्ठ, सन्दिपनी और शौनक ऋषियों के आश्रमों के तुल्य था, जिसकी शिक्षा में प्राच्य और पाश्चात्य तथा प्राचीन और अर्वाचीन तत्वों का सुन्दर समन्वय था और जिसका वातावरण देश भक्ति पूर्ण और राष्ट्रीय था।

दीर्घ सुडौल काया पर फहराती लम्बी दाढी के नीचे हृदय में मानव मात्र के प्रति प्रेम से भरा हृदय ही जामा मस्जिद के मिम्बर से वेद–ध्वनि करने का अधिकारी हो सकता है। जिससे भय स्वयं भयभीत रहता है उस कुलपिता को उसी की वाटिका का एक और पुष्प समर्पित है।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

भारत भूषण विद्यालंकार
निदेशक श्रद्धानन्द शोध संस्थान
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

प्राक्कथन

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

कठोपनिषद् 1/2/23

माता ने जिस बच्चे को जादूगर के प्रभाव से बचाना चाहा, वही बच्चा बड़ा होकर उसी जादूगर का अनुयायी बन गया। बस, इसी को कहते हैं 'जादू का सिर पर चढ़कर बोलना' । स्वामी दयानन्द का जादू स्वामी श्रद्धानन्द के सिर पर ऐसा चढ़ा कि कभी उतरा नहीं प्रत्युत् उसकी खुमारी दिन प्रतिदिन सवाई होती गई । आत्मा ने आत्मा का वरण किया और नास्तिकता का पर्दा हटा । पतन की अतल गहराईयों में आकण्ठ फँसा मुंशी राम स्वामी दयानन्द के सत्संग से पतन की गहराईयों से निकल कर स्वामी श्रद्धानन्द के रुप में विश्रुत हुआ। अन्धकार पर प्रकाश की विजय हुई। इस विजय गाथा के संघर्ष के इतिहास को स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द ने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से लिपिबद्ध किया है । ऐसी स्थिति में स्वामी जी के जीवन चरित्र में नई घटनाओं का समावेश सम्भव नहीं है । परन्तु इसे लेखकों का सौभाग्य ही समझिए कि स्वामी जी द्वारा लिखित 'आत्मकथा' (1892 ई.) का यह पूर्णविराम अकारण न होकर सकारण था । सकारणता को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि (1892) "पंजाब के समस्त आर्य समाजों की प्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया । उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा, सार्वजनिक जीवन हो गया और इसीलिए अपनी जीवन यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहां समाप्त करता हूँ ।"

दूसरी मंजिल की समाप्ति के बाद स्वामी श्रद्धानन्द सन् 1926 ई. तक जीवित रहे। 34 वर्षों की इस लम्बी अवधि को हम स्वामी जी की तीसरी मंज़िल (1917 ई. तक) तथा शेष अवधि को चौथी मंज़िल कह सकते हैं । इन्हीं मंजिलों के कार्यकलापों को आधार बनाकर अनेक लेखकों ने अपनी–अपनी पकड़ के अनुसार स्वामी जी की जीवनियाँ लिखीं। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी श्रृंखला में एक कड़ी है ।

प्रेरणा स्वतः हो या परतः वह नोदन करती है और सोई हुई शक्ति को जाग्रत करती है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना की प्रेरणा स्वामी ओमानन्द आचार्य गुरुकुल झज्जर (हरियाणा) से मिली। स्वामी जी की इच्छा थी कि आर्य सन्यासियों की बृहद्–जीवनियाँ लिखी जानी चाहिए, जिससे भावी पीढ़ी इनको पढ़कर प्रेरणा ले सके । ई. सन् 1986 में कुछ ऐसा घटा कि मैं गुरुकुल कुरुक्षेत्र में प्राचार्य के रुप में एक वर्ष के लिए चला गया । वहाँ छात्रावास के ऊपर बने एक चौबारे की ओर ध्यान गया । पता चला स्वामी श्रद्धानन्द यहाँ आकर ठहरा करते थे । चौबारा खुलवाया और एक अजीब सी शान्ति अनुभव हुई । पूर्व दिशा के द्वार से प्रवहमान प्रातःकालीन पवन ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धारक के विषय में लेखनी को आगे बढ़ाने की ओर संकेत दिया । शनैः शनैः सामग्री का संकलन आरम्भ हो गया । गुरुकुल कांगड़ी के वर्तमान कुलपति डा0 धर्मपाल को जब इस बात का पता लगा कि मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी से सम्बन्धित लिखने के कार्य में व्यस्त हूँ, तो उन्होंने चैन न लेने दी और शीघ्र ही पाण्डुलिपि तैयार करने का भाईचारे का फरमान जारी कर दिया और साथ ही यह आश्वासन भी दे दिया कि पुस्तक का प्रकाशन विश्वविद्यालय की ओर से किया जाएगा । 'अन्धे को क्या चाहिए, बस दो नयन' मन मांगी मुराद पुरी हुई । प्रो. शेरसिंह कुलाधिपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का पदे–पदे सहयोग और परामर्श मिलता रहा । कुलपति

एवं कुलाधिपति दोनों ही महानुभावों का मेरे प्रति जो सद्भाव है, उसी का यह परिणाम है कि पुस्तक पाठकों के सामने है ।

इस पुस्तक की पाठ्य सामग्री के प्रस्तुतिकरण के सम्बन्ध में मैंने यथाशक्ति लेखक की अन्तरात्मा की आवाज़ पर निष्पक्षता का सूत्र पकड़ लिया है । स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखित आत्मचरित (कल्याण मार्ग का पथिक) की प्रथम दोनों मंज़िलों की घटनाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके स्वामी जी का मूल्यांकन किया है । घटनाओं में नवीनता न होते हुए भी पाठकों को वर्णन में नवीनता अवश्य दिखाई पड़ेगी । सन् 1892 ई. से लेकर 1926 ई. तक की घटनाओं की प्रस्तुति में आलोचनात्मक विधि का सहारा लेकर मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है । इस मूल्यांकन में सम्पूर्ण घटनाओं को परिवेशीय आधार पर परख कर स्वामी जी की कमियों की ओर भी ध्यान दिलाया गया है । इस पुस्तक में मैने एक ऐसे शीर्षक को भी जोड़ा है जो अपने आप में अन्य जीवन चरित्र लेखकों की लीक से हटकर है । वह शीर्षक है 'साहित्यिक योगदान' । विष्णु द्वय (विष्णुदत्त राकेश और विष्णु प्रभाकर) के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक ने इस विषय की ओर ध्यान नहीं दिया है ।

पुस्तक की सामग्री के चयन में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय विभाग के कर्मचारियों का सहयोग अविस्मरणीय है । पुस्तकालय के कर्मचारियों ने बिना समय गवाँए सामग्री उपलब्ध करा कर मेरा काम सरल किया है । परिवार के सदस्यों का आभार प्रकट करना मात्र औपचारिकता है, क्योंकि उन्हें तो पता है कि कागज काले करना मेरा स्वभाव है।

रणजीत सिंह

लोहान चिल्ड्रन हॉस्पीटल
एन.आई.टी. 5 फरीदाबाद

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

श्रद्धा के टूटते तार (1856-83)

दूसरा अध्याय

श्रद्धा के जुड़ते तार (1883-1901)

तीसरा अध्याय

श्रद्धा का प्रकाश स्तम्भ गुरुकुल (1902-17)

चौथा अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में (1917-22)

पाँचवाँ अध्याय

श्रद्धानन्द का शुद्धि के लिए बलिदान (1923-26)

प्रथम अध्याय
श्रद्धा के टूटते तार (1856-83)

परिवार, जन्म तथा बाल्यकाल

स्वामी श्रद्धानन्द के स्वभाव में अपरिवर्तनशीलता का अत्यन्त अभाव था । प्रशंसक और निन्दक इस स्वभाव को अपने–अपने मानदण्डों से नापते हैं । प्रशंसक इसे गतिशीलता का नाम देकर गुण की संज्ञा देते हैं तो निन्दक इसे स्वभाव की अस्थिरता मानते हैं । वास्तविकता तो यह थी कि उन्हें परिवर्तन करने में प्रायः क्षण भर भी देर नहीं लगती थी । किसी नई घटना का उनके मन और मस्तिष्क पर ऐसा तीव्र असर होता था कि उनके साथी वहीं खड़े रह जाते थे, जहां पहले खड़े थे और वे पाँच ही मिनट में सैकड़ों मील जा खड़े होते थे[1] । इस प्रवृत्ति को देखकर ही लाला साईदास ने स्वामी जी के विषय में आर्य समाज में प्रवेश करते समय कहा था "आर्य समाज में यह नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आई है । देखें आर्य समाज को तारती है या डुबो देती है[2] ।

आर्य समाज के क्षेत्र में नई स्पिरिट वाले स्वामी श्रद्धानन्द ने किशोरावस्था में मुंशीराम के नाम से कदाचारिता के गलियारों का प्रत्येक अन्धेरा कोना अपना बनाया हुआ था । उनकी आस्तिकता की चूल हिल गई थी। वे भक्ति के क्षेत्र में तुलसी कृत रामायण में आस्था रखते हुए भी श्रद्धा के तारों को तोड़कर चार्वाकीय शैली में 'अन्नमय कोश' की ओर उन्मुख हो रहे थे । उनका यह अकुलीन चारित्रिक स्वभाव पुरखों की देन था अथवा परिवेशीय कुप्रभाव ने ही ऐसा बना दिया था। इस बात की तह में जाने के लिए हम स्वामी जी के पुरुखाओं का पुरातात्विक और परातात्विक विश्लेषण करना चाहते हैं ।

सतलुज और व्यास की मनमोहक गोद में फैले पंजाब प्राप्त के 'दुआबा' क्षेत्र को प्रकृति ने खुले हाथों सब कुछ दिया है । हरियाली ओर खुशहाली यहां के खेतों और चेहरों पर बरसती दिखाई पड़ती है । इसी क्षेत्र में जालन्धर नामक एक जिला है । पौराणिक कथानकों के अनुसार इस का सम्बन्ध दैत्य जालन्धर से जुड़ा हुआ मिलता है। परन्तु हमें तो जालन्धर के दैत्य से कोई अभिप्राय न होकर इस जिले की पूर्वी सीमा पर बसे तलवन नामक कस्बे के दैत्यों के मारने वाले राम 'मुंशीराम' से ही सरोकार है । कभी समय था जब जालन्धर दुआब में ढाई शहरों की गिनती हुआ करती थी पूरा शहर तलवन, पूरा बिजवाड़ा और आधा हदियाबाद । परन्तु हमारे चरित्र नायक के जन्म समय में तलवन पुरानी प्रसिद्धि के खण्डहरों में उसासें लेता हुआ भी ब्याह–शादियों पर होने वाले धूम–धड़ाके के कारण ही चर्चा का विषय बना हुआ था ।

इसी तलवन कस्बे में क्षत्रिय (पंजाबी खत्री) वंश का सुखानन्द नामक व्यक्ति बाहर से आकर बस गया । पुरातात्विक दृष्टि से कद–काठ और रुप–रंग में सुखानन्द का परिवार आर्य नस्ल का जीता–जागता उदाहरण था । ऊंचा कद, उठी हुई प्रोन्नत नाक, गौर वर्ण, काले बाल और काली आँखों की विशेषता लोगों को बरबस अपनी ओर खींच लेती थी । यही व्यक्ति स्वामी श्रद्धानन्द का ज्ञात आदि पुरुष था । स्वामी श्रद्धानन्द के शब्दों में "वे सचमुच सुख और आनन्द की मूर्ति ही थे। मैंने अपने पिता जी से सुना था कि उनका चित्त हर समय प्रसन्न तथा उनके मुख पर शान्ति और कान्ति का मेल रहता था[4] । लाला सुखानन्द के कन्हैया लाल, हीरा लाल, माणिक चन्द, गुलाबराय और महताब राय नामक पाँच पुत्र हुए । कन्हैया लाल राजा कपूरथला की ओर से महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में वकील बन कर रहते थे । उन्होंने तलवन में एक शिव मन्दिर बनवाया जहां उनके पिता सुखानन्द शिव भक्ति में मस्त रहते थे । सुखानन्द का अन्य लड़का गुलाब राय भी कपूरथला रियासत में रानी हीरा देवी की सेवा में मुख्तार कार के उच्च पद पर आसीन था । उसमें पैतृक

संस्कारों के कारण अनायास भक्ति भाव के विचार बचपन से ही घर कर चुके थे । वे नित्य प्रति ब्रह्म मुहूर्त में स्नान करके सुखमणि (सिख धर्म की पाठोपासना की पुस्तक) तथा भगवद् गीता का पाउ करते फिर कबीर तथा अन्य भक्तों के शब्द गाते थे । इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में इनका जीवन धार्मिक संकीर्णताओं के प्रभाव से रहित था । परन्तु वंशानुगत संस्कारिता के कारण इनका मूल धर्म पौराणिक हिन्दू धर्म था । ये गुलाब राय ही स्वामी श्रद्धानन्द के दादा थे । सांसारिक दृष्टि से प्रलोभनों द्वारा इनको जीतना कठिन था। कपूरथला में महाराजा नौनिहाल सिंह के गद्दीनशीन होने पर जब रानी हीरा देवी अपने पुत्रों विक्रम सिंह और सुचेत सिंह के साथ जालन्धर आई तो गुलाब राय को अनेक प्रलोभन देकर रानी के साथ जालन्धर जाने से रोकना चाहा । परन्तु उन्होंने प्रलोभनों को धत्ता बता दिया और रानी के साथ जालन्धर चले आए । उनकी स्पष्टवादिता की तो हद ही थी । जब ये ब्रह्ममुहूर्त में नित्य प्रति उच्च स्वर में भगवद् भक्ति के गीत गाते, तो विक्रम सिंह को नींद लेना दूभर हो जाता था । लाचार होकर एक दिन विक्रम सिंह कह भी बैठे – लाला जी ! क्या आप परमेश्वर का नाम मन में नहीं ले सकते। विक्रम सिंह को तुरन्त सपाट उत्तर मिला "उनके मन में हरदम परमात्मा बसते हैं, परन्तु जो मूढ़ भजन की अमृत वेला में बेहोश सोये रहते हैं, उन्हें सचेत करने के लिए उच्चस्वर में भजन बोले जाते हैं[5] ।

प्रलोभन से रहित ऐसे स्पष्ट वक्ता के घर स्वामी श्रद्धानन्द के पिता नानक चन्द का जन्म हुआ । वे अपने छहः भाई–बहिनों में सबसे बड़े थे । बचपन में दादा जी ने भक्तिभाव के विचार ऐसे बैठाए कि 14 वर्ष कि आयु से जो सगुण पूजा का विधान स्वीकार किया । उसे जीवन पर्यन्त (59 वर्ष की आयु तक) निभाया । इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वामी श्रद्धानन्द का परिवार पुरातात्विक (ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, शुभ कर्म आदि) दृष्टि से परम भागवत था । इस प्रकार के परम भागवतों के परिवार में जन्में स्वामी श्रद्धानन्द के मन में नास्तिकता के विचारों का समावेश परिवेशीय परिस्थितियां के कारण ही माना जा सकता है । चोर–उच्चके को नज़र से ताड़ने वाले नानक चन्द कोतवाल, अपने पुत्र की गतिविधियों को नहीं देख सके । प्रत्येक पिता की भांति उन्होंने अपने पुत्र पर विश्वास किया । आँख बन्द कर विश्वास करना कोताही ही मानी जा सकती है । स्वामी श्रद्धानन्द खरा लोहा था, उन्मुक्त परिवेश ने उन्हें जंग लगा लोहा बना दिया और आर्य समाज ने इस जंग लगे लोहे को सोना बना दिया । बस इन्हीं परिस्थितियों के आकलन से ही जीवन–चरित्र का मूल्यांकन आरम्भ होता है ।

स्वामी श्रद्धानन्द के पिता स्पष्टवादिता में अपने पिता जी से दो गज आगे ही थे । इसीलिए उनको एक नौकरी छोड़कर शीघ्र ही दूसरी तलाशनी पड़ती थी । कपूरथला में थानेदारी की, परन्तु वजीर दानिशबद से कहा सुनी होने पर त्याग–पत्र दे दिया । सियाल कोट में फौजदारी में खजांची का काम किया । वहां भी अंग्रेज हाकिम को खुली सुनाकर नौकरी छोड़ आए । फिर अमृतसर में मुहाफिज दफ्तर (निरीक्षक) हुए और ईमानदारी का डंका बजाया । तहसीलदार शोभाराम लंगड़ा के विरुद्ध रिश्वत का मुकदमा चला । स्वामी जी के पिता जी को छोड़कर तहसील दफ्तर के सारे कर्मचारी रिश्वत के अपराध में हटा दिए गए । परन्तु नानक चन्द ने तहसील के भ्रष्टाचार पूर्ण वातावरण से उकता कर कुछ दिनों के उपरान्त नौकरी छोड़ दी और तलवन में ही कुछ समय बिताया । यहाँ पर ऐसी सनक उठी कि बिना कुछ पैसा लिए एक कोठरी और दालान लेकर परिवार से अलग हो गए । एक समय की पारिवारिक स्थिति यह थी कि सीताराम, प्रेम देवी, मूलाराम, द्रौपदी और आत्माराम नामक पाँच सन्तानों के पिता होते हुए भी छठी की प्रतीक्षा की जा रही थी । फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी, विक्रमी सम्वत् 1873 (फरवरी, 1856) को छठी सन्तान के रुप में एक बालक ने जन्म लिया ।

गाँव के पाधा को बुला कर लड़के का नाम शोधवाया गया । पाधा ने पंचांग शोधकर लड़के का नाम बृहस्पति रखा । घरवालों के यह कहने पर कि नाम कुछ कठिन है, अतः कोई प्रसिद्ध नाम

बताइए । पाधा ने प्रसिद्ध मुंशी राम सुझाया । हमारे चरित्र नायक के जीवन में बृहस्पति नाम लुप्त ही रहा । इसे संयोग ही कहिये कि बृहस्पति और मुंशी दोनों ही शब्दों का अर्थ विद्या के क्षेत्र से सम्बन्धित है । यही लड़का अपने दोनों नामों को सार्थक बनाकर गुरुकुल कांगड़ी का जन्मदाता बना । मुंशीराम नाम 11 अप्रैल, 1917 तक साथ देता रहा । इसके बाद स्वयं ही श्रद्धानन्द नाम धारण करके भारत विख्यात हुए । इस नाम के लिए किसी पाधे या गुरु को पंचांग शोधन की आवश्यकता नहीं पड़ी। सिर पर छहः सन्तानों का भार आने पर मुंशीराम के पिता ने लाहौर में चौकीदारों के बख्शी (वेतन देने वाला कर्मचारी) की नौकरी पकड़ ली । बड़ी लड़की प्रेम देवी के विवाह की चिन्ता न होती तो शायद इसी नौकरी में पड़े रहते । तलवन के खत्री परिवार की हैसियत के अनुसार लड़की का विवाह होना चाहिए, यह सोचकर रुपये–पैसे के जुगाड़ की चिन्ता हुई । बस, धन कमाने की सनक सवार हुई और लाहौर की नौकरी को ठोकर मारकर देशवासियों के देश–प्रेम को दबाने के लिए एक काने टट्टू पर सवार होकर अंग्रेजों की सहायता के लिए दिल्ली की ओर चल दिए। काने टट्टू पर सवार नानक चन्द की किस्मत काफी नहीं थी । भाग्य के बलवान होने से हिसार शहर (हरियाणा) के परकोटे में उस दिन पहुंचे जिस दिन 1857 ई. के विप्लवकारियों ने हिसार को घेर रखा था । एक सिख सरदार भी दो सौ सवारों का दस्ता लेकर हिसार में उस सरकार की जड़ें मजबूत कर रहे थे, जिसने कुछ वर्ष पहिले ही पंजाब को गुलाम बनाया था । सिख सरदार की सहायता से अंग्रेजों को सफलता मिली । नानक चन्द का भाग्य मुस्करा रहा था । उसने एक चौधरी के घर में ब्रह्मभोज के लिए तैयार सामान को लेकर गोरी फौज के भोजन का प्रबन्ध कर दिया । इस सामयिक सहायता से प्रसन्न होकर पुरस्कार स्वरुप उन्हें हिसार का कोतवाल नियुक्त कर दिया और विप्लवकारियों को फाँसी पर लटकाने का काम भी उन्हीं को दे दिया । कुछ निरपराध और कुछ सापराध व्यक्तियों को फाँसी देकर छह फुट से ऊँचे और बलिष्ठ नानक चन्द ने क्षेत्र में शान्ति स्थापित कर दी । लोगों को बनावटी मुकदमों में फँसा कर खूब रुपया कमाया और लड़की के विवाह के लिए पर्याप्त धन राशि घर पर भेज दी ।

उन्नति के महत्वाकांक्षी नानक चन्द यहीं नहीं रुके प्रत्युत उन्होंने घोड़े खरीद कर और अपने से सम्बन्धित 25 आदमियों को रिसाले के छोटे अफसरों के रुप में नियुक्त कर दिया । इस प्रकार निजी व्यक्तियों की भर्ती के कारण विश्वसनीय व्यक्तियों की एक टोली उनके पास हो गई । वे अपने को अधिक सुरक्षित समझने लगे । अंग्रेजी सरकार का संकेत पाते ही वे 75 जाट घुड़सवारों को साथ लेकर विप्लवकारियों को दबाने की इच्छा से मेरठ कूच कर गए। वहाँ रिसालदार नियुक्त होकर तीन महीनों में सहारनपुर जिले के विप्लवकारियों के हथियार छीन लिए । इस जिले में गुलामी की हस्ली डालकर नेपाल की तराई में मेलाघाट की लड़ाई में सम्मिलित हो गए और वहाँ से विजयी होकर बाँस बरेली लौटे ।

यहाँ अंग्रेजी सरकार ने 'सेना पुलिस' के सब रिसाले तोड़ दिए । सरकार ने नानक चन्द की सेवाओं को देखते हुए दो विकल्प उनके सामने रखे । पहले विकल्प के अनुसार 1200 बीघे कृषि भूमि लेकर अलविदा होना था और दूसरे विकल्प में पुलिस इन्सपैक्टर की नौकरी का प्रस्ताव था । नानक चन्द ने हिसार की कोतवाली में घूसखोरी का आनन्द ले लिया था । अतः प्राचीन कहावत 'उत्तम खेती मध्यम बान । अधम चाकरी भीख निदान' के विरुद्ध अधम चाकरी का रास्ता ही अंगीकार किया ।

अब वे बरेली के पुलिस इन्सपैक्टर थे । ठाठ–बाठ में कोई कमी नहीं थी । यदि कोई कमी थी तो यही कि परिवार पास नहीं था । इस कमी को परिवार बुला कर पूरा किया । नानक चन्द की पत्नी अपने तीन पुत्रों सीता राम, आत्मा राम और मुंशीराम के साथ बरेली में आकर प्रसन्न हुई।

उस समय मुंशी राम की आयु तीन वर्ष की थी। नानक चन्द ने अपने दोनों लड़कों के लिए मौलवी को नियुक्त कर दिया। मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) छोटे होने के कारण मौलवी के अनुशासन से बाहर रहे और खेल–कूद में ही मस्ती से समय गुजारते रहे । दोनों बड़े भाई पाठ घोकते–घोकते थक जाते थे, परन्तु मुंशीराम खेलते–खेलते जो कुछ सुन लेता, उसे पूरा का पूरा मौलवी को सुनादेता। मुंशीराम उस आयु में पर्यायवाची शब्द जोड़ कर अन्वय बना लिया करता था[6]। परन्तु मुंशीराम के मन और शरीर के विकास को सही दिशा देने वाला कोई नहीं था । वह तो धीरे–धीरे खुदरौ (स्वयंभू वृक्ष) की तरह बढ़ता जा रहा था। खुदरौ वृक्ष की भांति बढ़ने वाले मुंशीराम की तरफ यदा–कदा माता ही ध्यान देती थी। छोटी आयु में जब मुंशीराम ने शराबी मामा की पगलाई अवस्था समीप से देखी, तो माता ने नौकर को डाँटते हुए कहा – इसे क्यों यहाँ आने दिया । नौकर कुछ उत्तर देता, उससे पहले वह उसे बगल के कमरे में ले गई और उसका ध्यान दूसरी ओर लगा दिया। अनपढ़ माता द्वारा अशुभ से बचाने के प्रयास को अबोध होने के कारण मुंशी नहीं समझ सका। इस बात का उसको जीवन भर पश्चाताप भी रहा[7]।

बरेली से एक दर्जा उन्नति पाकर मुंशीराम के पिता बदायूँ आ गए। वहाँ के तीन वर्ष भी मुंशीराम ने लाड़–प्यार और स्वच्छन्दता में व्यतीत किए । बरेली की पुलिस लाइन्स में सीखी फौजी सलाम से वे कचहरी के कर्मचारियों को रिझाते और पुरस्कार में जो कलम और कागज पाते, उन्हीं से पढ़ाई के प्रति स्वतः रुझान हो गया । एक दिन पिता जी ने जब मुंशीराम को 'करीमा और खालिकबारी–नामक पुस्तकों के पन्नों पर मक्खी पर मक्खी मारते के समान नकल करते देखा तो दंग रह गए। मुंशीराम की पढ़ाई आरम्भ करने की सोचने लगे। इतने में सम्वत् 1922 (सन् 1865) में नानक चन्द का एक दर्जा और बढ़ा और वे विजिटिंग कोर्ट इंस्पैक्टर बन कर बनारस तब्दील हो गए। अतः पढ़ाई की योजना खटाई में पड़ गई ।

शिक्षा - वेदारम्भ संस्कार

बनारस आगमन के समय मुंशीराम की आयु लगभग नौ वर्ष की हो गई थी । अब वह जीवन के सुख–दुख, शुभ–अशुभ को थोड़ा बहुत समझने लगा था । बनारस के बड़े मकान में नानक चन्द की पत्नी ने संगति के लिए बिना किराये लिए एक पंजाबी परिवार को रख लिया था। उस परिवार की गृहस्वामिनी निहाल देवी ने बनारस में रहते हुए चाहे और कुछ न सीखा हो, परन्तु छुआछूत का नया मन्त्र अवश्य सीख लिया था। निहाल देवी की दकियानूसी छुआछूत से सारा घर परेशान रहने लगा था। खेल–खेल में मुंशीराम का पैर दीपक के टूटे हुए एक टुकड़े से टकरा गया । निहाल देवी ने छू गया, छू गया का शोर मचाकर घर को सिर पर उठा लिया । पूछने पर व्याख्या करते हुए – चिराग को कौआ लेकर उड़ा होगा । उसकी चोंच से गिर कर वह टुकड़े–टुकड़े हो गया और लड़के का पैर उससे छू गया । अब तो छूत उतारने के लिए उसे स्नान कराना ही पड़ेगा। मुंशीराम के ननुनच करने पर भी कड़कती सर्दी में गर्म पानी करके नहलाया गया। 'न रहे बांस न बजे बांसुरी' का अनुसरण करते हुए निहाल देवी को घर छोड़ने के लिए कह दिया गया । छुआछूत की भूतनी घर से विदा हुई और घर में बच्चों की निशंक धमाचौकड़ी का राज्य हो गया।

मुंशीराम ने अब तक जो कुछ ढ़ाई अक्षर सीखे थे, वे निगुरा रह कर ही सीखे थे । 'काशी माहात्म्य' और कुछ स्तोत्र सुनते–सुनते कण्ठस्थ हो गए थे । काशी में आकर उनका वेदारम्भ संस्कार किया गया । संस्कार विधि के अनुसार सामान्यतः 11 वर्ष में क्षत्रिय का वेदारम्भ संस्कार होना चाहिए। परन्तु जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार की इच्छा हो और बालक पढ़ने में समर्थ हो, तो क्षत्रिय के लड़के का जन्म अथवा गर्भ से छठे वर्ष में यह संस्कार किया जा सकता है[8]। मुंशीराम की आयु

सामान्य आयु से कम थी और विशेष छूट की आयु पार हो चुकी थी । इससे स्पष्ट पता चलता है कि तत्कालीन हिन्दू समाज में विधि के अनुसार संस्कार करने की परम्परा शिथिल हो चुकी थी और मात्र उसका नाटक ही रह गया था । इस नाटक में पंजाब के पाधाओं ने बहन को न जाने कहाँ से जोड़ लिया। पंजाबी प्रथा में जब भाई यज्ञोपवीत धारण करके ब्रह्मचारी वेश में काशी पढ़ने के लिए जाता था, तो उससमय वह कहता था – "मैं काशी पढ़ने जाउँगा" । इस उक्ति के बाद बहिन बाँह पकड़ कर कहती – भाई! तुम्हें यहीं पढ़ा देंगे और भाई लौट आता । संस्कार के समय मुंशीराम की कोई सगी बहन काशी में नहीं थी । एक धर्म बहिन बनाई गई । काशी में तो मुंशीराम थे ही, अतः उसके स्थान पर काश्मीर शब्द को रखा गया और बहिन भाई को लौटा लाई । अस्तु । इसके पश्चात् मुंशीराम को सगुरा बनाने के लिए एक पण्डित का सौंप दिया गया । बाद में उन्हें एक पाठशाला में प्रविष्ट करा दिया गया । पढ़ाई का यह क्रम सवा डेढ़ वर्ष ही चलने पाया था कि उनके पिता जी की बदली जिला बाँदा में हो गई । काशी निवास की अल्पावधि में दो घटनाएँ ऐसी घटी, जिन्होंने इनके भावी जीवन को प्रभावित किया ।

प्रथम घटना डाकू संग्राम सिंह से सम्बन्धित है । संग्राम सिंह बनारस जिले का एक साधारण राजपूत किसान था । किसी अपराध के प्रसंग में उसकी अनुपस्थिति में पुलिस ने घर की तलाशी लेते हुए उसकी पत्नी के सतीत्व को भ्रष्ट करने की चेष्टा की । संग्राम सिंह ने पुलिस के व्यवहार की उच्च्य अधिकारियों से शिकायत की । लेकिन वहाँ उसके साथ पिशाचत्व का व्यवहार हुआ । राजपूती खून खौल उठा । घर आकर सर्वप्रथम अपनी पत्नी को मारा और फिर पुलिस की जान का दुश्मन बन कर डाके डालने लगा । शहर कोतवाल आलम सिंह ने एक मास के भीतर संग्राम सिंह को पकड़ने की डींग हांकी । कुछ दिन पश्चात् कोतवाली के बोर्ड पर एक इश्तहार लगा पाया – "चन्द्र ग्रहण पर बनारस में स्नान करने आउँगा । यदि क्षत्रिय के बेटे हो, तो सामने आना – संग्राम सिंह" । चन्द्र ग्रहण पर संग्राम सिंह अपनी माता जी के साथ स्नान करने आया। स्नान के बाद जाते–जाते आलम सिंह को कह गया – "संग्राम सिंह स्नान करके जा रहा है" ।

ऐसे साहसी डाकू को पकड़ने का काम मुंशीराम के पिता जी को सौंपा गया । मुंशीराम के पिता के साथ हुई एक मुठभेड़ में संग्राम सिंह के सभी साथी मारे गए और संग्राम सिंह का गोलियों से छिदा शरीर बनारस के अस्पताल में लाया गया । डाक्टर ने उसके घावों को देख कर कहा – आखिर तू पकड़ा ही गया । वीर क्षत्रिय का उत्तर था – "इस प्रकार पकड़ना बहादुरी नहीं। मेरे हाथ में एक तलवार दे दो और सामने बीस सिपाही खड़े कर दो, फिर देखूँ कौन पकड़ता है"। ऐसे साहसी क्षत्रिय को मुंशीराम ने चारपाई पर पड़े हुए देखा था ।

उपर्युक्त घटना का प्रभाव मुंशीराम के भावी जीवन में दो अवसरों पर दिखाई पड़ता है । एक अवसर वह था जब सुलताना डाकू ने डाक द्वारा गुरुकुल को लूटने का नोटिस भेजा था[9] । इस अवसर पर मुंशीराम ने अपने पिताजी के समान सुलताना को सबक सिखाने का संकल्प लिया था । सुलताना न आया यह बात अलग थी । दूसरे अवसर पर संग्राम सिह जैसा क्षत्रियोचित साहस दिखला कर गोरखा सिपाहियों की संगीनों के सामने छाती तान कर पूछा था – "गोली क्यों चलाई"।

दूसरी घटना एक नास्तिक जादूगर की आँखों से मुंशीराम की रक्षा से सम्बन्धित थी । उन दिनों काशी में यह प्रसिद्ध हुआ कि एक वेदशास्त्र का ज्ञाता बड़ा भारी नास्तिक नगरी में आया हुआ है । जिसके दोनों ओर दिन में मशाले जलती हैं । जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है, उसके तेज से दब जाता है । इस साधु के भय से मुंशीराम को अकेले घर से बाहर जाने नही दिया जाता था[10] । यह साधु अन्य कोई न होकर स्वामी दयानन्द ही थे । भावी जीवन में मुंशीराम इसी साधु द्वारा स्थापित आर्य समाज के अनुयायी बने ।

बाँदा पहुँच कर फिर पढ़ाई का माध्यम बदला । यहाँ हिन्दी की प्रतिष्ठा नही थी और उर्दू का ही बोलबाला था । मुंशीराम उर्दू के 'अब्जद' (अलिफ, बे, नीम, दाल) ज्ञान से कोरे थे[11]। अतः पहली ही श्रेणी में दाखिल होना पड़ा । यहाँ तुलसीकृत रामायण और हिन्दी पद्य में महाभारत पढ़ने का गहरा चस्का पड़ गया । बुद्धु भक्त की रामकथा ने इस चस्के को चार चाँद लगाए । यहीं रहते हुए राम जीवन से सम्बन्धित चित्रकूट नामक स्थान की यात्रा भी की ।

विक्रमी संवत् 1928 (सन् 1871) में मुंशीराम के पिता जी का स्थानान्तरण मिर्जापुर को हो गया । मिर्जापुर की सेवा काल अवधि पाँच महीने थी । इस अल्पावधि में मुंशीराम के अनुभव बड़े मजेदार रहे । यहीं पर बन्दूक चलाना भी सीख लिया और पिता जी के अर्दली जोखू मिसर की चौंके–चूल्हे की (छुआछूत वाली दोहरे व्यक्तित्व की पवित्रता की पेट लीला भी देखी) । मुफ्त में मिले सात बकरों के सिर जुआरी, भंगड़, गंजड़ और चरसू जोखू मिसर की गोद में समा जाते थे । एक दिन माँस पकाते समय मुंशीराम के पिता जी के नौकर ने चिमटे से आग लेकर चिलम भर ली । मिसिर इस कृत्य पर आग बबूले हो गए । कारण पूछने पर कहने लगे – कि अरे सरकार! हमने अपना धर्म कभी नहीं छोड़ा ! झूट बोला, जुआ खेला, गाँजे का दम लगाया, दारु पी, रिश्वत ली, चोरी–दगाबाजी की । ऐसे कौन से फरेब हैं जो नहीं किए । लेकिन सरकार अपना धर्म नहीं छोड़ा[12] । जोखू के उपर्युक्त विचार सुनकर मुंशीराम के पेट में हंसते–हंसते बल पड़ गए । चिमटे द्वारा चिलम के लिए आग लेने पर जोखू का धर्म बिगड़ गया और दुष्टाचारणों द्वारा धर्म नहीं बिगड़ा। कैसा विपर्यय धर्मबोध । जिनमानस की अन्धकारमयी अधर्ममूलक धर्म की अनोखी सोच ।

संस्कारिता के निम्न वातावरण में पले जोखू मिसर का मामला तो धर्म की व्याख्या के लिए हास्यास्पद था । परन्तु मुंशीराम द्वारा थाने की छत से एक राजा को स्त्री को नग्न करके देवी पूजते देखने को हम हास्यास्पद कह कर नहीं टाल सकते[13] । क्योंकि इस क्रिया को एक सँस्कारिता सम्पन्न उच्च स्थिति वाला व्यक्ति कर रहा था । धर्म के सम्बन्ध में इन विकृतियों को देखकर किशोर मुंशीराम का मन विचलित हुआ ।

पाँच महीने के उपरान्त मुंशीराम के पिता जी की पदोन्नति हो गई और वे पुनः बनारस आ गए । इस बार का बनारस तीन वर्ष की आयु में प्रथम बार बनारस आए मुंशीराम को अधिक लुभावना लगा । यहाँ पहुँच कर कुछ महीनों के लिए पढ़ना–लिखना सब चौपट हो गया । कजरी सुनने, देवी–देवताओं के दर्शन करने और गौनहारियों के नाच देखने में समय गुजारने लगा । पितृ–पक्ष की समाप्ति पर दशहरा देखने में 20 दिन उड़ा डाले । बच्चों की नए स्थान के दर्शन स्थलों को देखने की उत्सुकता के शान्त होने पर पिता ने बच्चों की पढ़ाई की ओर ध्यान दिया पढ़ाई के लिए एक गंजेड़ी कायस्थ मुंशी लगाए गए । मुंशी जी पढ़ाते कम और फड़कती कहानियाँ अधिक सुनाते थे । मुंशी जी की करतूत का पता लगाते ही पत्ता काट दिया गया । इसके बाद बाबू देवकीनन्दन के 'घण्टाकरण' स्कूल में दाखिला लिया । यहाँ भी पुलिस की धौंस से सब रंगरलियाँ मनाई । पढ़ना–लिखना छोड़ दिया। नवाब बेमुल्क बनकर हुकूमत का खालिस मजा लिया । इन सब व्यवधानों के होते हुए भी अंग्रेजी की पढ़ाई बदस्तूर चलती रही।

इन्हीं दिनों बनारस शहर में एक मुसलमान वकील के घर एक लड़की मर गई। मुखबिर ने कोतवाली में रपट दी कि लड़की मार डाली गई है। पुलिस ने शव–परीक्षण हेतु मृतक शरीर को रुकवा दिया। वकील ने सर सय्यद अहमद की मदद से तहकीकात बन्द करा दी और मुंशीराम के पिता जी, नायब कोतवाल और मुखबिर पर फौजदारी नालिश डाल दी। पुलिस ने बनारस में न्याय की आशा न होने के सन्देह में मुकदमा इलाहाबाद बदलवा लिया। इस मुकदमें में मुंशीराम के पिता जी साथियों सहित ससम्मान छूट गए। परन्तु इनकी बदली बलिया को अवश्य हो गई।

उपर्युक्त घटना के साथ मुंशीराम का साक्षात् सम्बन्ध रहा। क्योंकि उनके पिता जी द्वारा इस मुकदमें से सम्बन्धित जितने भी पत्र अंग्रेजी भाषा में भेजे गए, वे सब के सब मुंशीराम द्वारा लिखे जाते थे[14]। यह पहला अवसर था जब कि पिता ने पुत्र को इस योग्य समझा कि वह अंग्रेजी में पत्र लिख कर उनका विश्वास प्राप्त कर सके। बनारस में रहते हुए मुंशीराम को एक अच्छी आदत भी पड़ गई थी। वह नित्य प्रति प्रातः काल उठकर व्यायाम और कुश्ती करके गंगा स्नान करते थे। तदनन्तर मन्दिरों में देवार्चन करते हुए घर वापिस आते थे। यह विचार स्व प्रत्यय बुद्धि की उपज था, इसमें पर प्रत्यय नेयता का नितान्त अभाव था। किशोरावस्था में ऐसा व्रताभ्यास अदृष्ट रुप से किसी भावी महाव्रत के संकेत का सूचक था। आगे चलकर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करने पर मुंशीराम ने व्यायाम और कुश्ती को ब्रह्मचारियों की दैनिक चर्या में विशेष महत्व दिया। गुरुकुल के प्रारम्भिक वर्षों में बिजनौर जिले के नारायण सिंह नामक वकील ब्रह्मचारियों को कुश्ती सिखाने के लिए आया करते थे[15]।

बलिया में पढ़ाई में कुछ–कुछ मन लगा। परन्तु अधिक समय बनारस में सीखी कुश्ती के अतिरिक्त गतका–लाठी सीखने में जाने लगा। यह शारीरिक बलिष्ठता आगे चल कर आड़े समयों में सहायक सिद्ध हुई। बलिया में उनके पिता जी नित्य प्रति तुलसी कृत रामायण की कथा कहा करते थे। एक दिन कथा में पाप का प्रसंग आने पर उनके पिता जी ने कहा कि यदि मनुष्य अपने पाप को स्वीकार करले, तो उससे बढ़कर कोई प्रायश्चित नहीं। भगवान शरणागत को त्यागते नहीं। रामकथा का श्रोताओं पर इतना प्रभाव पड़ा कि एक अपराधी ने साष्टांग लेटकर यह कहते हुए "राम ते अधिक रामकर दासा" चोरी और खून का अपराध स्वीकार कर लिया। इस घटना का मुंशीराम पर बड़ा प्रभाव पड़ा। भावी जीवन में उन्हें कई बार इस घटना का स्मरण आया। बलिया में रहते हुए उन्हें सभ्य कहे जाने वाले सरकारी अधिकारियों से इसलिए घृणा हो गई कि वे सब के सब वेश्यागामी और प्रजा को लूटने वाले थे । बलिया प्रवास के समय वे नियमपूर्वक पढ़ाई नहीं कर सके । वहाँ की पढ़ाई के विषय में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है "जिस प्रकार रुखड़ बैरागी बाबा ने अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी थी और गुरु एक भी नहीं बनाया था, इसी प्रकार अब तक मैं 'लै भज' (जो मिले उसे ले लो) बना रहा । इधर–उधर की बातें और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सब रगड़ मारी और गुरु किसी एक को भी धारण नहीं किया[16] ।"

पढ़ाई के लिए बनारस जाना

बलिया में रहते हुए मुंशीराम के पिता नानक चन्द्र को अपने लड़कों की पढ़ाई की चिन्ता हुई। इस समय तक लड़के किशोर हो चुके थे और उन्हें अपने से दूर कहीं भी शिक्षा के लिए भेजा जा सकता था। बहुत विचार करने के पश्चात् पिता ने मुंशीराम को बनारस भेजने का निश्चय किया। इस प्रकार बनारस में तीसरी बार आने पर विधिवत् पढ़ाई आरम्भ हुई। बनारस का क्वीन्स कॉलेज उस समय संयुक्त प्रान्त के सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालयों में से एक था। तत्कालीन शिक्षा नीति के अधीन इस कॉलेज के साथ स्कूल की कक्षाएँ भी चलती थी। इस कॉलेज की आधारशिला 1857 के विप्लव से पहले ही रखी गई थी। इस कॉलेज का मुख्य उद्देश्य प्राच्य विद्याओं की शिक्षा देना था। परन्तु शनैः–शनैः इसमें प्रतीच्य शिक्षा के विषय भी पढ़ाए जाने लगे। इसी कॉलेज के स्कूल विभाग में मुंशीराम ने पौष सम्वत् 1930 (1873 ई.) में प्रवेश लिया। बनारसी वातावरण का मुंशीराम के मन पर असर पड़ना आरम्भ हो गया और जीवन के व्यावहारिक और मानसिक चिन्तन में स्पष्ट परिवर्तन दीखने लगे । इस परिवर्तन को मुंशीराम ने वर्णित करते हुए लिखा है "मेरे स्वभाव का ज्ञान मुझे काशी में 'गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुना दास' हुआ। बनारस पहुँचते ही मैंने अपने जीवन की सारी गति बदल डाली । बलिया में तीन महीने के अन्दर ही मैं भोजपुरी बोली और हुकूमत के झकोलों

से मस्त होकर ठाठ–बाठ से सिंह–सरदारों की पोशाक पहिनने लग गया था। बनारस पहुँच कर एक महीने के अन्दर बनारस की खड़ी बोली बोलने लग गया था। स्कूल में प्रवेश के पन्द्रह दिन पीछे ही हुकूमत का सारा नशा हिरन हो गया और विद्वानों के विद्यार्थी जीवन की कहानियाँ पढ़–पढ़कर उनके अनुकरण की चेष्टा करने लगा। बाँके दस्तारे का स्थान बनारसी दुपल्लियाँ टोपी ने ले लिया, शानदार लबादे के स्थान में अंगरखा पहिन लिया, दुपट्टा बाँकेपन का तिर्छापन छोड़ कर गले का हार बना, चुस्त चुड़ीदार पाजामे का स्थान सीधे–सीधे घुटन्ने ने लिया और चमकते हुए सल्मे सितारों की जूती को ठोकर मारकर लक्कड़तोड़ बूट पैरों का श्रृंगार बना[17]।" इस प्रकार कोतवाल का बेटा ठेठ बनारसी गवँई का बेटा प्रतीत होने लगा।

परिधान परिवर्तन ने मानसिक विचारों को प्रभावित किया। पूर्वजों के भागवत धर्म के प्रति आस्था के अंकुर फूटे और ब्रह्म मुहूर्त में चार बजे उठकर गंगा स्नान आरम्भ कर दिया। स्नानोपरान्त डलिया में फूल और झारी में पानी लिए धर्मभीरु श्रद्धालु भक्त की भाँति विश्वनाथ की सारी परिक्रमा देवपूजन करते। निवास स्थान पर आकर नियमित व्यायाम करना और भीगे चनों के साथ दूध लेना भी कभी नहीं भूलते और स्वाध्याय में लग जाते। इस दिनचर्या को देखकर बलात् यह कहने को बाध्य होना पड़ता है, मानों कोई अदृश्य शक्ति 1902 ई. में हरिद्वार में गंगा की धारा के तीर पर खुलने वाले गुरुकुल कांगड़ी के लिए ही यह पूर्वाभ्यास करा रही थी। बनारस और गुरुकुल में प्रातः काल चार बजे उठकर गंगा स्नान करने की समानता है। परन्तु दोनों स्थानों के गंगाजल में अवश्य अन्तर था। हरिद्वार का गंगाजल बनारस में जाकर उतना पवित्र और शीतल नहीं रहता था, जितना पवित्र और शीतल हरिद्वार में था । बनारस के देवपूजन के स्थान पर गुरुकुल में अग्नि पूजन (यज्ञ) आरम्भ हो गया था । डलिया और झारी के स्थान पर सोटा और लोटा आ गया था। शेष प्रातराश में दोनों स्थानों में सात्विकता थी।

वस्त्रों एवं विचारों में सात्विकता आने पर अध्ययन के क्रम में कोई दुविधा दिखाई नहीं पड़ी। पढ़ाई की तेज गति के साथ सांयकलीन भ्रमण भी तेज गति से होने लगा । वस्तुतः मुंशीराम की स्वभाव से तेज चलने की आदत थी। उन दिनों वे शीघ्रगामी आँधी की भाँति चलते थे। प्रायः सांयकालीन दिनचर्या भी सामान्य से परिवर्तन के साथ पूर्वाह्न की दिनचर्या के समान ही थी।

बनारसी जीवन के पहले वर्ष के सात्विक जीवन का यह अभिप्राय नहीं कि वे ब्रह्मचारी बन चुके थे । उनकी रगों में कहीं न कहीं कोतवाल पिता के शौर्य प्रदर्शन का उन्माद भी उबल पड़ता था । इस उन्माद का ही परिणाम था कि वे कभी–कभी बनारसी गुण्डों के समान अपनी कमर में छुरी लटका कर सांयकाल को अकेले ही घूमने के लिए निकल पड़ते थे। माता–पिता से सुडौल शरीर और खुले हाथ–पाँव प्राप्त हुए थे । इसके साथ व्यायाम ने शरीर को ओर भी गठित कर दिया था। इस प्रकार उनके छैले शरीर पर छुरी बड़ी फब्ती थी । परन्तु इतना सब होने पर उन्होंने अकारण ही किसी से उलझने का कभी प्रयास नहीं किया । इसके विपरीत उनकी शारीरिक शक्ति ने पीड़ितों की अथवा अपनी ही रक्षा की थी। इस प्रकार की घटनाओं का वर्णन आगे आएगा ।

श्रद्धा के तार टूटने लगे

किशोर अवस्था की कोमल भावनाओं में औचित्य और अनौचित्य का भेद करना अपरिपक्व बुद्धि वाले बालकों के बस की बात नहीं होती। इस अवस्था में तो मित्र और साथी की वे बातें ही भाती हैं जो पारिवारिक परम्पराओं का अवमूल्यन करती हैं। मित्रों के प्रभाव में आकर ऐसी ही एक बात मुंशीराम भी कर बैठे। बनारस में पढ़ते हुए बसन्त पंचमी पर स्कूल की छुट्टी होने पर वे बलिया चले गए। वहाँ मुहल्ले के सिख लड़कों श्याम सिंह और अजीत सिंह ने मुंशीराम को 'मुजरा' में

सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया । मुंशीराम के पिता रामचरितमानस के भक्त थे और सदा नाच तमाशों से दूर रहते थे। अतः पिता जी से आज्ञा मांगने का प्रश्न ही नहीं उठा और उन्होंने मित्रों द्वारा सुझाई विधि को अपनाया और पिता जी के सोने पर चुपके से घर से निकल कर मुजरे में उपस्थित हो गए। माता–पिता के विश्वास को ठुकरा कर जब कुल परम्परा को प्रथम बार तोड़ा जाता है, तो मन में एक अजीब सी घबराहट होती है। यही स्थिति मुंशीराम की थी। उन्हें पहले शंका ने घेरा और लज्जा भी आने लगी। लेकिन इन दोनों भावों को दबाने के लिए बेभाव के पचासों पान एक घण्टे में खाकर कहीं चैन की सांस ली। उन्हें मुजरा देखने में कितना आनन्द आया, यह तो निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्रातः काल नींद से उठने पर उनका गला सूख कर कांटा हो गया था और पिता से विश्वासघात करने की झेंप चेहरे पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी। वे अपने इस कृत्य पर पछताये तो बहुत, परन्तु प्रायश्चित करके पिता से क्षमा माँगने का साहस न जुटा सके।

जीवट की घटनाएँ

छुट्टी समाप्त होने पर बनारस आना ही था। वहाँ आकर तीन घटनाएँ ऐसी हुईं जिन्होंने मुंशीराम की आँखें खोलनी आरम्भ कर दीं और उन्हें शहरी जीवन के अनाचार और कुवासना के चेहरों से हिसाब चुकता करने में कोई झिझक नहीं हुई। बात ऐसी थी कि मुंशीराम के एक मामा ने बनारस में दुकान खोल रखी थी। एक दिन रविवार को वे उनसे मिलने के लिए गए। मार्ग ठठेरी बाजार में से था, जहाँ गुण्डों का एक टोल बैठता था। एक गुण्डा आवाजें करता हुआ उनके पीछे लग गया । वापिसी पर उस गुण्डे ने मुंशीराम के कन्धे पर हाथ रखा ही था कि वे चौकन्ने हो गये और ऐसे जोर से थप्पड़ मारा कि वह भूमि चाटने लगा और सब आँई–बाँई भूल गया ।

दूसरी घटना में मुंशीराम ने एक लड़के को बदमाशों के चंगुल से बचाया । एक दिन वे स्कूल जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि कुछ गुण्डे एक कमसिन लड़के के पीछे लगे हुए हैं । उस लड़के के साथ नौकर भी था और वह बस्ता उठाये चल रहा था। भला, नौकर में इतना साहस कहाँ कि पाँच–छह गुण्डों का सामना कर सके। मुंशीराम ने उस लड़के को अपने तांगे में बैठाया और स्कूल पहुँचा दिया। गुण्डे मुँह ताकते रह गए।

तीसरी घटना की कहानी मुंशी की निजी कहानी है। एंट्रेन्स (मैट्रिक) में पाँच बार अनुत्तीर्ण होने पर रामलखन मिश्र नाम का 22 वर्ष का लड़का स्कूल में पड़ता था। वह अपनी कुचेष्टाओं से विद्यार्थियों के नाक में दम रखता था। वह एक दिन मन में कुवासना के विचार को लेकर मुंशीराम के निवास पर पहुँच गया और मुंशीराम के साथ कुचेष्टा का प्रयास करने लगा । रामलखन को क्या पता था कि वह एक ऐसे लड़के से शरारत करने जा रहा है जिसने रामभक्त हनुमान की तरह अपने शरीर को व्यायाम से कसा हुआ है। मुंशीराम ने उसे बरामदे से ऐसा धकेला कि उसके होश ठिकाने आ गये और गिड़गिड़ा कर मिन्नतें करता हुआ बोला कि वे इसकी पोल न खोलें । परन्तु मुंशीराम कहाँ मानने वाला था। अगले दिन स्कूल में जाकर उसकी पोल खोल कर दुर्गति की कहानी सुना दी । रामलखन तीसरे दिन ही स्कूल से नाम कटाकर घर को चल दिया।

किशोरावस्था से मुंशीराम को संकटों से खेलने में बड़ा आनन्द आता था । बनारस के अपने पहले प्रवासों में वे डोंगी चलाने में निपुणता प्राप्त कर चुके थे । इस निपुणता की परीक्षा कभी नहीं हुई थी । वह समय भी अचानक आ पहुँचा । बात ऐसे बनी कि वर्ष के अन्त में होने वाली छुट्टियों में मुंशीराम बलिया के लिए चल दिए और इसकी सूचना पिता जी को दे दी । उस वर्ष उस क्षेत्र में वर्षा अत्यधिक हुई थी और बलिया से डुमराव के मार्ग पर 18 से 20 मील तक पानी ही पानी

भरा हुआ था । अतः मुंशी राम के पिता ने बक्सर के स्टेशन पर एक आदमी इसलिए भेजा हुआ था कि वह मुंशीराम को सुरक्षित रुप में सही रास्ते से बलिया ले आए। बक्सर स्टेशन पर मुंशीराम की उससे मुलाकात न हो सकी और वे सीधे डुमराव जाकर उतर गए। यहाँ से पैदल और किश्ती में बैठ कर बलिया जाने का मार्ग था । अब साहसिक यात्रा का प्रथम चरण आरम्भ हुआ। मालूम हुआ तांगा एक डेढ़ मील तक जाकर रुक जायेगा और शेष मार्ग घुटनों से लेकर कमर तक के पानी में चल कर पार करना पड़ेगा। मुंशीराम ने तांगा न लेकर एक मजदूर को किराये पर लिया और सारा सामान उसको दे कर पैदल ही जल यात्रा आरम्भ कर दी। मजदूर नाटा था गहरे पानी में स्वयं सामान उठाते और उथला पानी आने पर फिर बौने मजदूर के सिर पर भार आ जाता। इसी लेन देन के खेल में उन्होंने बरसाती पानी को पार किया और दिन के एक बजे गंगा किनारे पहुँचे और उसके दूसरे किनारे पर बलिया था।

मजदूर को मजदूरी देने के लिये जब जेब में हाथ डाला तो जेब कटी हुई मिली। मजदूर को मजदूरी कैसे दी जाये, इसी चिन्ता में थे कि सामने बलिया के दो किसान दिखाई दिए । पुलिस इन्सपैक्टर का पुत्र जानकर उन्होंने चार रुपये उधार दे दिए। मजदूरी देने की समस्या समाप्त हुई। अब भूख ने आ घेरा, वहाँ सतपकवानी हलवाई की दुकान की कल्पना करना निरा अनाड़ीपन था। एक भड़भूजे की दुकान ही वहाँ का मिठाई बाजार था । मुंशीराम को इसमें पेटपूजा के लिए केवल आठ ही लड्डू मिले। लड्डुओं का शरीर वज्रसार की भांति दृढ़ था। मुंशीराम के दृढ़ दाँत भी उन्हें काट नहीं सके। पत्थर पर फोड़ कर जब निगलने का प्रयास किया तो गले में अटक गए। जैसे–जैसे उन्हें उदरीकृत करके सन्तोष की साँस ली। इन लड्डुओं को खाकर मुंशीराम को जो तृप्ति हुई वह बनारस के गोपाल मन्दिर के छप्पन प्रकार के भोजन से भी कहीं अधिक थी।

घटना का दूसरा चरण बड़ा रोमांचक है। घाट पार करने के लिए कोई भी मल्लाह तैयार नहीं हुआ। मुंशीराम निराशा में रेतीले मैदान में ही रात काटने की सोचने लगे थे कि इतने में डाक वाले की छोटी सी डोंगी आ गई और अन्य सवारियों के साथ मुंशीराम उसमें बैठ गये जब तक डोंगी उथले पानी में चलती रही सबको आनन्द जाता रहा, परन्तु तेज धारा में आते ही डोंगी डगमगाने लगी। चप्पूवाला आदमी चक्कर खाकर गिरा। मुंशीराम ने चप्पू संभाल कर डोंगी ठीक की और मांझी को धकेल कर पतवार स्वयं अपने हाथ में ले ली। अब मांझी ने समझ लिया डोंगी डूबी। परन्तु उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि तीस–चालीस फीट ऊंची लहरों में भी एक अल्हड़ किशोर डोंगी को साफ निकाल ले गया।

छुट्टियों की समाप्ति पर मुंशीराम बनारस लौटे और परीक्षा की तैयारी में लग गए। उस समय परीक्षा भी शिक्षा विभाग द्वारा ली जाती थी। उसमें अनुत्तीर्ण होने वाला छात्र एंट्रेन्स पास नहीं माना जाता था।

विवाह की बाधा

लगभग तीन वर्ष पूर्व जालन्धर के रईस शालिग्राम तहसीलदार ने अपनी लड़की के लिए मुंशीराम को 'रुकवा' लिया था। मुंशीराम की परीक्षा के पश्चात् वे नाते का शकुन उसके पल्ले डालना चाहते थे। मुंशीराम ने परीक्षा के लिए पूरी तैयारी की, लेकिन भाग्य दो लाठी आगे चला। सोमवार को अंग्रेजी, मंगल को गणित और बुधवार को इतिहास भूगोल के पर्चों के उत्तर उत्तम रीति से किये। बृहस्पतिवार को फारसी का प्रश्नपत्र ऐसा हुआ कि अनुत्तीर्ण होने के लिए पर्याप्त था, लेकिन दूसरा प्रश्न पत्र आते ही परीक्षा अधीक्षक ने घोषणा कर दी कि अंग्रेजी का प्रश्नपत्र परीक्षा के दिन से पूर्व ही छात्रों का पता चल गया था, अतः अंग्रेजी की पुनः परीक्षा सोमवार को होगी। इस घोषणा से

मुंशीराम की सारी योजनायें गड़बड़ा गई, क्योंकि उनके पिता जी का आदेश था कि हर परिस्थिति में उन्हें शुक्रवार को तलवन (जन्म स्थान) पहुँच जाना चाहिए। सोमवार की पुनः परीक्षा और शुक्रवार को तलवन पहुँचने की आज्ञा के मध्य छिड़े अन्तर्द्वन्द्व में तलवन की विजय रही। शगुन का, विवाह के लिए पक्के बन्धन का अधकचरा ज्ञान जहाँ मुंशीराम के मन को गुदगुदा रहा था, वहाँ मातृ मिलन की उत्सुकता ने भी तलवन की राह की ओर मुख कर दिया । परीक्षा परिणाम निकलने पर असफल घोषित होना ही था, क्योंकि अंग्रेजी की पुनः परीक्षा में अनुपस्थित होने पर शून्य ही मिलना था। अतः अगली कक्षा में उन्नति नहीं मिली। दस-बारह दिन मुंशीराम नियमपूर्वक अपनी पुरानी कक्षा में पढ़ते रहे । परन्तु कुछ दिनों बाद लगभग सभी पुराने साथियों के, उच्च कक्षा में चले जाने के कारण आत्म ग्लानि तथा नये विद्यार्थियों के साथ बैठने में लज्जा अनुभव होने से पढ़ाई से मन उचाट हो गया। पूर्व पठित पुस्तकों को पुनः पढ़ने में अरुचि होने लगी। परिणाम यह हुआ कि समय काटने के लिए स्तरहीन अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने लगे । उपन्यासों ने मन को और भी डांवाडोल कर दिया। शनैः शनैः स्कूल जाना छूट गया और स्कूल से नाम कट गया ।

नाम कट जाने की बात को घर वालों से छिपाये रखा। स्कूल की छुट्टियां होने पर पाठ्य पुस्तकों को छोड़ा। उपन्यास, इतिहास एवं जीवन चरित्र की पुस्तकें खरीदी और पिता जी के पास चले गए । वहाँ जाकर इन पुस्तकों से मन बहलाने लगे। पिताजी को यह भ्रम रहा कि पुत्र परीक्षा की तैयारी में दिन-रात एक कर रहा है । स्कूल खुलने पर पुनः बनारस की राह पकड़ी । एक दिन किसी कार्यवश मुंशीराम के पिता कमिश्नर से मिलने के लिए बनारस आए ! वहाँ आने पर उन्हें अपने पुत्र की करतूत का पता चला और व्यथा की गहरी साँस लेते हुए कहा "बेटा मैं तुम पर इतना विश्वास करूँ और तुम ऐसा अविश्वास करो" । इस वाक्य ने बिना दण्ड दिये भी सबसे बड़ा दण्ड दे दिया था। मुंशीराम आठ-आठ आँसू रोये । आँसू बन्द होने पर आँखें पथरा गईं और भूख तथा प्यास ने भी साथ नही दिया और बिना खाये ही सो गए। अगले दिन प्रातः काल मन कुछ हल्का हुआ और उनके पिता जी ने अपने प्रभाव से पुनः स्कूल में नाम लिखवा दिया। परीक्षा का मात्र एक महीना शेष था । इतने थोड़े समय में मुंशीराम पहले पढ़ी पुस्तकों की धूल भी नहीं झाड़ सके, अतः अनुत्तीर्ण होना निश्चित था, परीक्षा में बैठे ही नहीं और स्कूल से नाम कटवा लिया ।

धर्मो के प्रति अनास्था

अब प्रवेश लेने के लिए नये स्कूल की खोज आरम्भ हो गई। बनारस का 'रेवड़ी स्कूल' अच्छा लगा और पौष सम्वत् 1932 (1875 ई.) में इसमें प्रवेश ले लिया । यहाँ भी कुछ दिनों के लिए आवारगी और धमाचौकड़ी चलती रही । स्कूल के तीन-चार फेलशुदा बिगडैल लड़कों के ये नेता बने । ठीक ही तो था 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्'। रेवड़ी स्कूल में पढ़ते हुए मुंशीराम के साथ दो घटनायें ऐसी हुई कि जिन्होंने धर्म के विषय में इनके विचारों में आमूल चूल परिवर्तन कर दिया ।

प्रथम घटना का सम्बन्ध पुनः नियमित रुप से गंगा स्नान, कुश्ती और विश्वनाथ आदि की पूजा से है। बनारस का विश्वनाथ मन्दिर एक गली में है जिसके दोनों ओर पुलिस का पहरा रहता था। मुंशीराम एक दिन जब मन्दिर के फाटक पर पहुँचे तो सिपाही ने यह कह कर रोक दिया कि रीवाँ रियासत की रानी दर्शन कर रही है। इस रुकावट से किशोर मुंशीराम के मन को गहरी ठेस लगी और बिना पूजा किये अपने निवास स्थान पर लौट आए। घटना देखने में सामान्य थी। प्रायः लोक व्यवहार में महिलाओं को महत्ता प्रदान की ही जाती है, परन्तु मुंशीराम के मन में तो लोक व्यवहार न होकर 'भगवान व्यवहार' हलचल मचा रहा था। सारी रात उन्नीदें रहे और सोचने लगे 'क्या यह सचमुच जगत्स्वामी का दरबार है जिसमें एक रानी भक्तों को रोक सकती है या वे देवता

कहला सकते हैं जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो"। इस प्रकार मुंशीराम का हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा का पहला तार झनझना कर टूट गया । मूल शंकर (स्वामी दयानन्द) और मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) दोनों की जड़मूर्तियों में अश्रद्धा का कारण "न रोक सकना" और "रोक सकना" ही तो था। शिव अपनी मूर्ति पर चढ़े चूहे को मल–मूत्र आदि करने से नहीं रोक सका था, दूसरी ओर एक रानी की उपस्थिति ने सामान्य भक्तों को विश्वनाथ दर्शन से रोक दिया। इस प्रकार दोनों के मनों ने जड़ सत्ता की अन्ध भक्ति के तटबन्धों को तोड़ दिया। बस अन्तर इतना ही था कि एक सच्चे शिव की खोज के लिए व्याकुल हो गया और दूसरा अन्य धर्मों में दीक्षित होकर धार्मिक होने की चाह में भटकने लगा। इसी भटकन में मुंशीराम को पादरी ल्यूपोल्ट (रेवड़ी स्कूल के प्रिंसिपल) मिल गए। पादरी बड़ा प्रसन्न हुआ कि एक हिन्दू विद्यार्थी ईसाइयत अपनाने की ओर बढ़ रहा है। उसने मुंशीराम को ईसाईयों के प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय में दीक्षित करने का प्रयास किया। किन्तु वह मुंशीराम की धार्मिक शंकाओं का समाधान नहीं कर सका। अतः उसने ऐसा करने की आशा ही छोड़ दी। एक भंवर से निकल कर मुंशीराम शीघ्र ही दूसरी भंवर में फँस गया। ईसाई मत के चक्कर में कुछ दिनों के बाद एक रौमन कैथोलिक सम्प्रदाय के लीफ नामक पादरी मिल गए। उन्होंने मुंशीराम को समझाया कि ईसाईयत का तत्व जानना है, तो कैथोलिक सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहिए।

मुंशीराम उस पादरी के विचारों और तर्कों से इतने प्रभावित हुये कि वे ईसाई धर्म में दीक्षित होने का मन बना बैठे। उसी सन्दर्भ में दीक्षा लेने की तिथि निश्चित करवाने की इच्छा से पादरी लीफूं के निवास की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर पादरी के अध्ययन कक्ष में पैर ही रखा था कि एक पादरी और नन (ब्रह्मचर्य व्रतधारिणी) को ऐसी पापाचार की स्थिति में पाया कि उल्टे पाँव ही लौट आए। मुसलमानी मत के विषय में मुंशीराम के अच्छे विचार नहीं थे। अतः उस ओर झुकने का प्रश्न ही नहीं उठा। सारांश यह है कि मुंशीराम को हिन्दू मूर्ति पूजा से घृणा हो गई। ईसाइयत पोच मालूम हुई। कुश्ती और गंगा स्नान का नित्य कर्म चला और दर्श–स्पर्श से छुट्टी हुई। वे नास्तिकता की राह के राही बन गए। यह नास्तिकता यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने पंडित विद्याधर को यहाँ तक कह दिया कि 'संस्कृत में अक्ल की कोई बात नहीं', इसलिए अब वे 'कौमुदी' नहीं पढ़ेंगे[18] ।' परन्तु एक महान् आश्चर्य! संस्कृत में अक्ल की बात न मानने वाले मुंशीराम ने आगे चलकर इसी भाषा को और इसके साहित्य को पुनर्जीवित करने के लिये ही गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों संस्कृत भाषा अर्थात् अपनी संस्कृति के प्रति असत्य कथन के प्रायश्चित के रूप में उन्होंने अपना भावी जीवन समर्पित कर दिया था।

माता की मृत्यु से नव चेतना

नास्तिकता के इसी झकोले में मुंशीराम की माता तलवन से बलिया जाते हुए बनारस ठहरी थी। मुंशीराम ने देखा माँ के सिर में पीप से भरा एक बड़ा फोड़ा निकला हुआ था। इस फोड़े के कारण उनकी माँ की बचने की कोई आशा नहीं थी। अतः स्कूल की छुट्टियां होते ही मुंशीराम बलिया पहुँच गए और माता जी की सेवा में जुट गए। स्कूल का अवकाश समाप्त होने पर माँ का स्नेह और मृत्यु सूचक माँ के फोड़े की चिन्ता, दोनों ही विरोधी भावों को अपनी झोली में डालकर बनारस आ गए। परन्तु युवकों को उदासी देर तक नहीं सताती। मुंशीराम शीघ्र ही माँ की बीमारी को भूल गए और उसी पुराने ढर्रे से रेवड़ी स्कूल में चहकने लगे। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' छूटा और उर्दू शायरों के कलामों में गोते लगाने लगे। कवि–सम्मेलनों में मजा लूटने लगे। इसी प्रसंग में वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पर्क में भी आए[19]। उनकी ऋंगार रस की कविता ने मुंशीराम की मानसिक पवित्रता को ढीला करने का काम किया। वाल्टर स्काट के आचार सम्बन्धी उपन्यासों ने अपेक्षया कुछ स्थिरता अवश्य प्रदान की।

आवारगी के जीवन में एक झटका लगा और मुंशीराम को माता जी के देहान्त की सूचना मिली। माता जी की मृत्यु से उन्हें अपार दुःख हुआ। बलिया जाकर शोक-सन्तप्त पिता के चरणों में आँसुओ का अम्बार लगा दिया। माता जी के अभाव में सब सूना-सूना लगा। यह शून्यता उस समय टूटी जब उनके पिता जी ने माँ की अन्तिम इच्छा का हवाला देते हुए इस प्रकार कहा – "एक ही इच्छा मन में रह गई, अपने मुंशी का विवाह मैं अपने हाथों से करती। आप भूलना मत, मेरे बच्चे का विवाह उसी हौसलें से करना जैसे मैं करना चाहती थी। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मैं अपनी पुत्रवधू सहित उसका ऐश्वर्य देखूँगी[20]।

उपर्युक्त वाक्यों को सुनकर मुंशीराम के चेहरे पर शोक के भाव तिरोहित हो गए और एक विशेष उत्तरदायित्व पूर्ण गम्भीरता छा गई।

माता जी की मृत्यु के उपरान्त की जाने वाली क्रियाओं से निवृत्त होकर एक दृढ़ निश्चय के साथ बनारस लौट गए। स्कूल के प्रिंसिपल से पुस्तकालय का कमरा अध्ययन के लिए माँग लिया और परीक्षा की तैयारी में लग गए। इस सम्पूर्ण तैयारी के समय माँ की अन्तिम इच्छा की पूर्ति का लक्ष्य सामने था। अन्ततः परिश्रम फल लाया और मुंशीराम स्कूल में उत्तीर्ण होने वाले छात्रों में प्रथम स्थान पर रहे। कॉलेज में प्रवेश लेने से पूर्व मुंशीराम ने हुक्का पीने की आदत पकड़ ली थी।

कॉलेज में प्रवेश और असंयमित जीवन

सन् 1876 ई. में क्वीन्स कॉलेज बनारस में प्रवेश लेकर पढ़ाई आरम्भ कर दी। शनैः शनै मुंशीराम के निवास स्थान पर हुक्काई विद्यार्थियों का जमाव होने लगा और शाम को शानदार दरबार होने लगा। यौवन और धन सम्पत्ति की गर्मी में पड़े मुंशीराम अपने साथियों के शीघ्र ही नेता बन गए। इनकी नेतागिरी का कारण भुजबल था। कॉलेज की पहली छमाही में ही 'गाढ़ी कम्पनी' की बुनियाद पड़ गई। इस 'गाढ़ी कम्पनी' (मित्र मण्डली) ने कॉलेज में अपनी ही सांकेतिक भाषा गढ़ रखी थी। जिसमें 'चंगल, मंगल और पंगल' आदि शब्दों के प्रकरणानुकूल बीसियों प्रयोग होते थे। रविवार के दिन मुंशीराम के मकान पर 'गाढ़ी कम्पनी' की बैठक होती। इस बैठक में हुक्का पीते हुए केवल ताश और शतरंज की ही बाजियाँ नहीं होती थी, प्रत्युत वहाँ मुंशीराम द्वारा लिखे जाने वाले अंग्रेजी उपन्यास की चर्चा-परिचर्चा भी होती थी।

कॉलेज की दो महीने की लम्बी छुट्टियों में मुंशीराम अपने पिता के पास बलिया चले गए। बलिया में गये तो यह सोचकर थे कि परीक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन के साथ-साथ उपन्यास लेखन का कार्य भी होता रहेगा। परन्तु वहाँ जाकर उल्टी आवारगी बढ़ गई और आनन्द प्राप्ति में भी ताजगी का अभाव महसूस हुआ। शीघ्र ही मन उचाट हो गया और छुट्टियां समाप्त होने के दिन अंगुलियों पर गिनने लगे।

छुट्टियाँ समाप्त हुई और मुंशीराम बनारस पहुँचे। इस बार का बनारस निवास मुंशीराम के जीवन की उस घटना से आरम्भ होता है जब कि वे सतीत्व के रक्षक होने के साथ-साथ सतीत्व के भक्षक भी बने। बनारस में गंगा की बाढ़ से सेंधिया घाट हिल चुका था और उसके नीचे एक गुफा सी बन गई थी। उसमें कुछ समय से एक नंगा साधु रहता था जो एक समय उस के भोजन को ग्रहण करता था, जो सर्वप्रथम भेंट में लाता था। अतः अनेक स्त्री-पुरुष उत्तम से उत्तम भोजन तैयार करके सर्वप्रथम पहुँचने का प्रयत्न करते थे। एक दिन मुंशीराम उस घाट की ओर सैर करने के लिए निकल गए। अचानक उन्हें नारी-स्वर में एक चीख सुनाई पड़ी। वे दौड़कर गुफा के पास गये तो देखा कि एक स्त्री को कोई बलात् गुफा में खींच रहा है और वह बाहर निकलने का प्रयास

कर रही है। मुंशीराम से यह दृश्य देखा नहीं गया। उसने वहाँ पहुँच और पैर गुफा के द्वार पर मजबूती से लगाकर उस स्त्री की दोनों भुजाओं को अपने हाथों में पकड़ कर बाहर की ओर खींचने का प्रयास किया। परन्तु अन्दर का पापिष्ठ पिशाच कामान्धता के कारण दुगनी शक्ति का प्रयोग करता दिखाई दिया। बेचारी अबला दोनों ओर से खींची जाकर रबड़ के समान बढ़ रही थी। मुंशीराम ने घाट के चौकीदार को पुकारा। तब कहीं जाकर दोनों ने मिल कर उस स्त्री को बाहर खींचा। उसकी आयु सोलह वर्ष से अधिक न थी। उसके कपड़े चीथड़े–चोथड़े हो गए थे, शरीर से रक्त बह रहा था और वह भय के कारण थर–थर कांप रही थी। इतने में उसके साथ आई स्त्री भी आ गई। मुंशीराम ने फटे वस्त्रों के कारण लज्जा में गड़ी उस षोडशी को अपनी चादर देकर विदा किया। इस घटना ने नास्तिकता की लहर के कारण और पुराने अंग्रेजी उपन्यासों को पढ़ने वाले मुंशीराम के मनोभावों को बदल दिया। वह अपने आप को ललित नायक मान बैठा और उस अपरिचित षोडशी को मन ही मन में 'प्रिया' की उपाधि दे बैठा। उन्हीं दिनों बनारस में रहने वाले मामा की संगति से मुंशीराम को शराब पीने का चस्का भी लग गया था।

बात यहीं समाप्त हो जाती तो कोई हानि नहीं थी । ललित नायक की भावना दो कदम और आगे बढ़ी। उपर्युक्त घटना के एक सप्ताह के भीतर ही मुंशीराम विजय दशमी के दिन प्रातःकाल ही गंगा–स्नान के लिए निकल पड़े। वह गंगा स्नान की भीड़ में दो कदम भी नहीं बढ़ा पाये थे कि एक स्त्री भीड़ से घबरा कर उस ओर आई जिस ओर मुंशीराम चल रहे थे। एक गुण्डे ने उस स्त्री पर हाथ डाला। मुंशीराम ने तपाक से उसके मुँह पर दमदार तमाचा मारा। गुण्डे को यदि दीवार का सहारा नहीं मिलता तो वह निश्चित रुप से गिर पड़ता। वह स्त्री घबराहट के कारण आगे जाने से डरने लगी। उसका पति गंगा स्नान के लिये अपने लोगों की रेल–पेल में बिछड़ गया। मुंशीराम अन्य कोई उपाय न देखकर उस स्त्री को अपने मकान पर ले आया। उस स्त्री को तसल्लीपूर्वक मकान में बैठा कर उसके पति की खोज में चल पड़ा और शीघ्र ही उसे खोज लाया।

इसी भागा–दौड़ी में दोपहर के भोजन का समय हो गया। मुंशीराम का नौकर दो दिन से अवकाश पर था। अतः बाजार से पूरी लाकर भूख मिटानी चाही। परन्तु परदेशी जोड़े ने ऐसा नही करने दिया और उस स्त्री ने ही भोजन बनाया। भोजन करते–करते परस्पर आत्मीयता बढ़ी और वह दम्पत्ति जहाँ आकर ठहरे हुए थे, वहाँ से सामान उठाकर मुंशी राम के मकान में आ गए। तीसरे पहर उस स्त्री का पति विजय दशमी का मेला देखने चला गया। 'पर स्त्री' का दर्शन, स्पर्शन और भाषण तो पहले ही हो चुका था। काम के इन तीन मैथुनी दूतों ने भूमिका बाँध ही दी। अब विविक्तासन की स्थिति का लाभ उठाकर शेष बचे पाँच मैथुनों ने (विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग) दोनों ओर से यौवन को भड़का दिया और वर्षों की अमूल्य कमाई एक घण्टे में ही डूब गई और अमृत–बिन्दू ढुलका बैठे। इस स्थिति में रामचरितमानस के नायक राम के 'एक पत्नीव्रत का गुणगान करने वाला राम का मुंशी रावण ही तो बन गया। श्रद्धा का दूसरा तार उत्तेजित होकर टूट गया। श्रद्धा के पहले तार की टूटन भी नारी थी (रीवाँ रियासत की रानी की घटना) और दूसरी टूटन का कारण भी नारी ही थी। पश्चाताप में रात का भोजन भी नहीं किया। प्रायश्चित में स्त्रियों से दूर रहना आरम्भ कर दिया।

देवी–देवताओं में अश्रद्धा हो चुकी थी, शराब की आदत भी पड़ चुकी थी, व्याभिचार की पहली सीढ़ी पार कर ली थी, बस एक जूए का ऐब ही तो बचा था और शीघ्र ही उसमें फँस गए। भंग पीना भी सामान्य सी बात हो गई थी। कहने का अभिप्राय यह है कि मुंशीराम ने अनाचार की अंधियारी गलियों के प्रत्येक कोने को अपना बनाया हुआ था।

मथुरा के अनुभव

पढ़ाई में मन लगाया ही था कि इतने में मुंशीराम के पिता जी की बदली बलिया से मथुरा हो गई। मथुरा की बदली के समय में ही उन्होंने जुलाई मास में मुंशीराम का विवाह करने का निश्चय कर लिया। इस निश्चय के अनुसार मुंशीराम को बनारस से मथुरा होते हुए तलवन पहुँचने का आदेश था। वे मथुरा पहुँचे। मथुरा की दो बातें उनके दिमाग में सदा के लिये जम कर बैठ गईं – एक का सम्बन्ध 'भोजनमट्ट' चौबों से था और दूसरी घटना का सम्बन्ध गुसाई जी की पापलीला से जुड़ा हुआ था।

पिता–पुत्र दोनों मथुरा में ही थे। एक दिन मुंशीराम के पिता जी ने भागवत संस्कारों से प्रेरित होकर पुत्र की मंगल कामना के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराने का निश्चय किया। इनके चौबे ने आदेश पाकर पूछा – यजमान मन के दस निमन्त्रित किये जायें या मन के चार। मुंशीराम को चौबे की बात अटपटी सी लगी। चौबा खुलासा देते हुए बोला – एक मन भोज्य पदार्थ (चालीस किलो) को खाने वाले दस चौबे हों या इसी भार के भोज्य पदार्थ को खाने वाले चार हों। मुंशीराम के पिता जी ने रहस्यमय मुस्कान के साथ कहा – चार ही हों तो अच्छा है। क्योंकि वे सोचते थे कि एक आदमी के बस का दस किलो खाना नही हो सकता। मथुरा में मन के चार खाने वालों की एक चौकड़ी थी। इसके सदस्यों के नाम भी सोटा, मोटा, छोटा और लंगोटा आदि बड़े बेतुके थे। भंग पीकर चौबे भोजन के आसन पर बैठे। पहले डेढ़–डेढ़ सेर लच्छेदार मलाई अन्दर गई। फिर भांग पी। फिर तो क्या कहना था दो–दो सेर पेड़े, उन पर भाजी–पकौड़ी आदि के साथ तीस–तीस पूरियाँ की तह, फिर खुर्चन, फिर उतनी ही पूरियों की तह, फिर हलवा और अन्त में मलाई की पूर्णाहुति। मुंशीराम के पिता जी इनका पेट न फट जाये इस भय से व्याकुल थे, परन्तु सांय की सैर के बाद लौटे तो मुंशीराम ने जब यह बताया कि वे चारों तो कुश्ती लड़ रहे हैं और प्रतीक्षा में हैं कि कोई लड्डुवा खिलाने वाला यजमान मिल जाए[21]। उपर्युक्त घटना की पुनरावृत्ति गुरुकुल में ब्रह्मचारी यदा–कदा करते रहते थे। कभी–कभी ब्रह्मचारी यह निश्चय कर लेते थे आज आटा दोबारा–तीबारा गुंधवाना है। ऐसे समय उनकी वृत्ति 'मन के चार चौबों' की भांति होती थी। सांयकाल उन्हीं ब्रह्मचारियों को व्यायाम करते देखकर मन ही मन मथुरा की घटना को याद करके मुस्करा देते थे।

दूसरी घटना का आरम्भ मुंशीराम के गोपाल मन्दिर की झांकी देखने से ज्ञात होता है। इनके साथ सफेद कपड़ों में एक पुलिस का आदमी भी था। उसने कहा चलो गुसांई के अन्दर महल की सैर करा लाऊँ। अभी अन्दर गये इनको पाँच ही मिनट हुए थे कि चीख की आवाई आई। ये चीख वाले कमरे का दरवाजा खोलकर अन्दर गये। एक अबला कुमारी को गुसांई जी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ाकर भागने का प्रयास कर रही थी। जब कुमारी ने गुसांई के चरण स्पर्श करने का प्रयत्न किया तो उसने इसे पकड़ लिया और पापाचार के लिये अन्दर घसीट ले गया। मुंशीराम ने उस कुमारी को उसके पिता के पास पहुँचा दिया[22]।

इस घटना ने मुंशीराम को यह सोचने के लिये बाध्य कर दिया कि साधु समाज में सच्चरित्रता का ताना–बाना बिखर गया है। काशी की पहली घटना एक कामान्ध गुफाशायी अकिंकर नागा साधु की थी, तो दूसरी घटना मथुरा के मन्दिर महल शायी सकिंकर वस्त्रों से ढके स्वादु (साधु) गुसांई की थी। दोनों घटनाओं के मूल में कारण एक ही था। इसके बाद तो मुंशीराम के मन में मन्दिरों की लीलाओं के प्रति बिल्कुल ही अनास्था हो गई और श्रद्धा की तन्त्री का तीसरा तार भी टूट गया। शेष कोई चीज बाकी थी, तो अपनी भावी पत्नी के विचारों में खो जाने की थी।

विवाह

मथुरा से चलते ही विवाह की धुन ने सब कुछ भुला दिया। अपनी होने वाली पत्नी के विषय में मुंशीराम ने अंग्रेजी उपन्यासों की नायिकाओं की कल्पना मन में संजो रखी थी। विवाह धूम–धाम से हुआ पर पौराणिक परम्परा के अनुसार मुंशीराम को पत्नी का मुख देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ और ससुराल का ब्राह्मण उस को विदा करा ले गया। अंग्रेजी उपन्यासों की कल्पना की पहली कली अनखिली ही रह गई। मुकलावा (गौणा) होने पर भी वही ढाक के तीन पात निकले और बड़े भाई ने मुंशीराम से परिचय कराये बिना ही विदा कर दिया। इस बार भी कल्पनाओं के सजीले बादलों को भाई की तेज हवा ने उड़ा दिया। अनपढ़ धर्मपत्नी को पाकर कॉलेज के भावुक विद्यार्थी की भांति उसे स्वयं पढ़ाने का संकल्प मुंशीराम के मन में जागा और धीरे–धीरे प्रयास हुआ। इसमें मुंशीराम को सफलता मिली। अनपढ़ पत्नी को पढ़ाते समय मुंशीराम ने यह निश्चय कर लिया था कि समय आने पर वे स्त्री–शिक्षा की ओर भी ध्यान देंगे। 'सद्धर्म प्रचारक' के दूसरे अंक से ही उन्होंने एक लेखमाला आरम्भ की थी। उस लेख माला का शीर्षक था 'अधूरा इन्साफ'। उसमें उन्होंने स्त्रियों को सुशिक्षिता होने का पुरुषों के समान अधिकार है, को बतलाते हुए लिखा था । सभी को आत्मिक विद्या पर वैसा ही अधिकार है जैसा पुरुषों को, इसलिये जिस प्रकार पुत्रों पर पवित्र वेद की आज्ञानुसार, पहले छोटी आयु में माता–पिता का अधिकार है कि शिक्षा दे और जब यज्ञोपवीत संस्कार हो जावे तो तत्काल ही लड़का गुरुकुल में भेजा जाना चाहिये, वैसे ही लड़कियों के साथ भी बर्ताव होना चाहिये[23]। इसीलिये कन्या गुरुकुल को स्थापित करने के लिये फिरोजपुर में पुत्री पाठशाला बनाने का प्रस्ताव मुंशीराम ने ही प्रस्तुत किया था। हमारी तो मान्यता है कि यदि उनकी धर्मपत्नी का इतना शीघ्र देहान्त नहीं होता तो निश्चित रुप में वे पत्नी से भी कन्या गुरुकुल के लिए सर्वस्व देने को कहते और आर्यसमाज के इतिहास में इस त्याग की कहानी स्वर्णाक्षरों में लिखी जाती।

उसी समय मुंशीराम ने बालविवाह की कुप्रथा के परिणामों को अनुभव किया था। बड़े होने पर उन्होंने इस प्रथा को दूर करने का प्रयास किया। अपने अनुभव को उन्होंने इन शब्दों में प्रकट किया था। 'मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता तो काशी से ग्रेजुएट बनकर मैं किसी ऊँची दशा में चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु 16 वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आँखें खोलकर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता जिसमें आगामी दो–ढाई वर्ष के लिये गिरा था[24]।" मुंशीराम ने जालन्धर आर्य समाज में जो सबसे पहला व्याख्यान दिया था, उसका विषय भी बाल विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य की महिमा ही था। स्वामी श्रद्धानन्द बनने के पश्चात् 'हिन्दू संगठन' नाम से जो पुस्तक लिखी, उसके पाँचवे प्रकरण (अध्याय) का आरम्भ ही 'बाल विवाह और पदददलित स्त्री समाज' है। इस प्रकरण में उन्होंने बाल विवाह के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हुये लिखा है–

"सारांश यह है कि लगभग 1300 वर्ष पूर्व हर्षवर्धन के राज्य काल के समय भारत की यह अवस्था थी – बाल विवाह एक अज्ञात वस्तु थी। इसलिए बाधित वैधव्य नहीं था और हिन्दू समाज की शान्ति में खलल पैदा नहीं हुआ। परन्तु जब अत्यन्त रूप से, सुदृढ़ धार्मिक श्रद्धा से और पौरुष के साथ मुस्लिम आक्रान्ताओं ने इस देश पर आक्रमण करके असंगठित हिन्दू शत्रुओं को पराजित कर दिया तो हिन्दू नव युवतियाँ विजेताओं की कामुकता का शिकार होने लगीं । उत्तर भारत के कुलाचार भ्रष्ट हिन्दुओं ने हिन्दू घरों पर मुस्लिम गाजियो के आक्रमणों से बचने के लिय बाल–विवाह और पर्दे जैसी अप्राकृतिक वस्तुओं को रिवाज के रूप में अपने में ग्रहण कर लिया। छोटी–छोटी कन्याओं का छोटे लड़कों से ब्याह होने लगा और कभी तो उदरस्थ बच्चों का वाग्दान दिया जाता था[25]।

बरेली में काया पलट

विवाह के उपरान्त सम्वत् 1934 (1877 ई.) के आश्विन मास में बरेली पहुंचे और संवत् 1937 में अपने पिता के साथ खुर्जा चले गये। बरेली निवास के ढाई वर्षों में मुंशीराम रईस लड़कों की टोली में फँस गये। बरेली के रईसों का यह हाल था कि कोई चाहे कितना ही धनाढय हो वह तब तक रईस कहलाने का अधिकारी नहीं होता था जब तक उसके घर में कम से दो घोड़ों वाली एक चौपहिया गाड़ी, घर में डाली एक वेश्या और कुछ हजार रुपये ऋण के रूप में सिर पर चढ़ा हुआ न हो। बरेली में मुंशीरम ने ऐसा कोई सप्ताह खाली नहीं जाने दिया, जो बिना शराब और नाच–रंग के हो। इसका परिणाम यह हुआ कि बनारस जाकर पढ़ने का विचार ही छूट गया। पढ़ाई तो चालू रखनी ही थी। अतः इलाहाबाद के म्योर कॉलेज मे दाखिला ले लिया। इसी कॉलेज में पं. मोतीलाल भी पढ़ते थे। राजनीति के भावी जीवन में दोनों की अचानक मुलाकात भी हुई। परीक्षा देने से पूर्व मुंशीराम अस्वस्थ हो गए। बनारस के कॉलेज की पढ़ाई में विवाह फाँस बन गया। इलाहाबाद के कॉलेज की पढ़ाई में माँ की बीमारी ने फच्चर ठोक दी और परीक्षा को बीच में छोड़ना पड़ा। एफ.ए. तो करनी ही थी। यह कार्य अलीगढ़ के कॉलेज में जाकर पूरा किया।

बरेली निवास के दिनों में एक घटना ऐसी घटी कि उसने मुंशीराम के नास्तिकपन को भगा दिया। इस घटना के नायक थे स्वामी दयानन्द। स्वामी दयानन्द 14 श्रावण, संवत् 1936 में प्रचारार्थ बरेली आये थे। इनके व्याख्यानों से मुंशीराम के पिता बड़े प्रभावित हुए। रात को घर आते ही उन्होंने कहा – "बेटा मुंशीराम! एक दण्डी सन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान और योगिराज हैं। उनकी ओजमयी वाणी से तुम्हारे संशय दूर हो सकते हैं"। उत्तर में मुंशीराम 'हाँ' कर बैठे। परन्तु मन में यही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा ? दूसरे दिन वे पिता जी के साथ व्याख्यान–स्थल पर गए। प्रथम दर्शन से ही स्वामी जी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई। श्रोताओं में यूरोपीय लोगों की उपस्थिति ने मुंशीराम की श्रद्धा को संबल दिया। मुंशीराम के मन में स्वामी दयानन्द के प्रति इतनी आस्था हो गई कि उनकी दैनिक चर्या के विषय में भी रुचि होने लगी। इस रुचि को हम उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार प्रकट करते हैं–

"मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर, केवल कोपीन पहने, लट्ठ हाथ में लिये साढ़े तीन बजे बाहर निकल जाते हैं और छह बजे लौटकर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिए कि बाहर वे क्या करते हैं? 'दबदबे केसरी' अखबार के एडिटर मेरे साथ हो लिये। दयानन्द ठीक साढ़े तीन बजे बाहर निकल कर चल दिये। हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे–धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझ सा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गए। दूसरे प्रातःकाल हम ढाई बजे ही घात में उस जगह छिपकर जा बैठे जहाँ तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्र मूर्ति को आते देखकर हम भागने को तैयार हो गये। वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये एडिटर भी लुड़कते–पुढ़कते आ रहे थे। बीच में एक–आध मील की दौड़ भी रुद्रस्वामी ने लगाई। परन्तु वहाँ मैदान था, मैंने आँख ओझल नहीं होने दिया। अन्त को पांव मील धीरे–धीरे चलकर एक पीपल के वृक्ष तले बैठ गए। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधि में स्थित रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गई । उठकर दो अंगड़ाइयाँ ली और टहलते हुए अपने तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये[26] ।

मुंशीराम को अपने नास्तिकपन पर अभिमान था। एक दिन स्वामी दयानन्द से ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर बैठे। पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में मुंशीराम की जिह्वा पर मोहर लग गई। फिर भी दो–तीन बार वे पूरी तैयारी के साथ गए, किन्तु परिणाम पूर्ववत् रहा। अन्त में हार कर मुंशीराम ने कहा कि आपने मुझे चुप तो करा दिया, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व पर तो विश्वास नहीं दिलाया। स्वामी जी का सीधा–साधा उत्तर था – "तुमने प्रश्न किये, मैने उत्तर दिये, यह युक्ति की बात थी । मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा । तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें वरण करेंगे[27]।

मुंशीराम पर तुरन्त ही स्वामी दयानन्द का कोई जादूमन्त्र चला हो और वे कदाचारों को छोड़ बैठे हों, यह बात हमें दिखाई नहीं पड़ती। क्योंकि हम उन्हें उसी प्रकार व्यसनी देखते हैं। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे स्वामी दयानन्द की तर्कणा शक्ति एवं शारीरिक गठन से अवश्य प्रभावित हुए। यही प्रभाव आगे चलकर जीवन को नया मोड़ देने में पर्याप्त सिद्ध हुआ।

भारतीय नारी के प्रति आस्था

पत्नी शिवदेवी के व्यवहार ने उन्हें भारतीय नारी के प्रति अवश्य आस्थावान् बनाया। विवाह के उपरान्त मुंशीराम ने गृहस्थी को संजीदगी से नहीं लिया। वे एक दिन अपने मित्र त्रिवेणी सहाय के हाथ चढ़ गए। उसने गजक सामने रखी और यह कह कर जाम भर दिया कि तुम्हारे लिये ही तो 'आतशा' खिंचवाई है और यह जौहर है। दरअसल वह बड़ी नशीली दारु थी। मुंशीराम गटागट पी गए। वहाँ से उठते ही असर मालूम हुआ। नशे की हालत में एक वेश्या के चौबारे पर जा चढ़े। वेश्या कोतवाल साहब के बेटे को चौबारे में आया देखकर अपना अहोभाग्य समझने लगी और मुजरा करने का हुक्म दिया। अचानक ही मुंशीराम 'नापाक–नापाक' कहर कर कोठे से नीचे उतर गए। घर आने पर नौकरों ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। ऊपरले बरामदे के पास पहुँचे ही थे कि उलटी कर दी। उसी समय नाजुक छोटी अंगुलियों वाला हाथ सिर पर पहुँचा पाया। अब मुंशीराम पत्नी की गोद में बालकवत् पड़े थे। पत्नी ने सती के समान सर्वभावेन सेवा की। उस समय अंग्रेजी उपन्यासों की रीति कालीन नायिकाओं के चित्र आँखों से ओझल हो गये और तुलसी की श्रद्धामयी सीता के समान एक सौम्य एवं करुणा की मूर्ति हृदय पटल पर छा गई[28]। मुंशीराम ने बचपन में भी होली के रंग में शराब में धुत अपने मामा की सेवा में लगी अपनी माँ को देखा था। परन्तु उस समय नारी के कारुण्य भाव को वे समझ नहीं पाए थे। अब आपबीती को अनुभव करके उनका रोम–रोम पसीज रहा था।

सेवा से नहीं प्रत्युत अपने हृदय की विशालता से भी शिव देवी ने मुंशीराम को भावविभोर कर दिया था। छावनी के पारसी शराबी ठेकेदार का बिल दिन–रात भूत की तरह मुंशीराम को सता रहा था। अपनी कोई कमाई नहीं थी और पिता जी से किस मुँह से शराब के भुगतान के लिए रुपये मांगे जाएं, बस इसी दुविधा में वे चिन्तित से रहते थे। पत्नी के अनुनय करने पर उन्होंने सारी बात उगल डाली। सुनने के उपरान्त धर्मपत्नी का सच्चा कर्त्तव्य निभाते हुए शिवदेवी ने अपने हाथों से सोनें के कड़े उतार कर भुगतान करने के लिए दे दिए। मुंशीराम स्वभावतः आभूषण प्रिय नारी का यह त्याग देखकर नतमस्तक हो गए। पत्नी के बार–बार आग्रह करने पर कड़ों को बेच कर शराब के तीन सौ रुपयों का भुगतान किया[29]।

नौकरी का अनुभव

मुंशीराम के पिता जी ने सारे पापड़ बेलने के उपरान्त अनुमान लगा लिया कि बेटा पढ़ने की पटरी से उतर गया है। अन्तिम सन्तान होने के कारण रिटायर्ड होने से पूर्व लड़कों को अपने

पैरों पर खड़ा करना नानकचन्द अपना कर्त्तव्य समझते थे। अतः उन्होंने कमिश्नर एडवर्ड को पहुँच की। शुभ परिणाम निकला और अवकाश पर गये नायब तहसीलदार के स्थान पर मुंशीराम की नियुक्ति हो गई। ढाई–ढाई तीन जुम्मा ही गये थे कि नायब तहसील के क्षेत्र में ठहरकर सेना को रात काटनी थी। फौज गोरों की थी। इसके लिये रसद–पानी की देखभाल करना मुंशीराम का कार्य था। गोरी सेना के कुछ सिपाहियों ने दुकानदारों से अण्डे खरीद कर दाम देने से इन्कार कर दिया। सिपाहियों की इस हरकत से दुकानदारों में असन्तोष फैल गया। इस घटना की सूचना देने तथा अण्डों के पैसे देने के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये वे कर्नल से मिले। बातचीत के प्रसंग में मुंशीराम ने कर्नल को स्पष्ट कह किया यदि भुगतान नहीं किया तो वे सब के सब दुकानदारों को वापिस जाने के लिये कह देंगे। कर्नल को यह बात अटपटी लगी और तैश में आकर बोल उठे – "ऐसा करोगे तो तुम नुकसान उठाओगे। तुम्हारी गुस्ताखी का क्या मतलब है" । 'गुस्ताख' शब्द को सुन कर सरकारी नौकरी में नये घुसपैठिया मुंशीराम को भी क्रोध आ गया और उन्होंने सपाट शब्दों में कहा कि वे अपने आदमियों को ले जा रहे हैं आप जो कुछ कर सकते हैं, कर लें। कर्नल इस प्रकार की मुँहजोरी की बात सुनने के अभ्यस्त नहीं थे। कर्नल ने हाथापाई करने की सोची, परन्तु मुशीराम के हाथ में हन्टर देख कर सहम गए और मुंशीराम अपने घोड़े को एड लगाकर चलते बने।

अगले दिन प्रातः अपनी रिपोर्ट को बगल में दबाये मुंशी राम कलेक्टर साहेब के दफ्तर पहुँच गए। कर्नल वहाँ पहले ही बैठा था। कलैक्टर ने मुंशीराम को माफी मांगने के लिए कहा। मुंशीराम को अपमानित करने के लिये कलेक्टर ने उनको कुर्सी नहीं दी। इससे वे मन ही मन में अपमान रूपी विष से खौलते रहे। अन्तः में मुंशीराम ने अवकाश की समाप्ति पर लौटे नायब तहसीलदार को नियमपूर्वक चार्ज दिया और अंग्रेजों की चाकरी से सदा के लिये मुक्त हो गये[30]। काजल के समान नायब तहसीलदारी की काली कोठरी से मुंशीराम बेदाग निकल आए। इस प्रकार नौकरशाह मुंशीराम की अपेक्षा एकनये निर्भीक मुंशीराम का जन्म हुआ। मुंशीराम का यही रूप आगे चल कर दिल्ली में गोरखों की संगीनों से भी नहीं घबराया था। दिल्ली की और नायब तहसीलदारी की घटनाओं में अन्तर था। नायब तहसीलदारी की घटना में मुंशीराम अपने बचाव के लिये भागा था, तो दूसरी घटना में अपने प्राणों का मोह त्याग कर देश की स्वतन्त्रता के लिए परवाना बना श्रद्धानन्द अडिग था।

मुंशीराम के पिता जी की आयु पैंशन पाने की दहलीज छू रही थी। पिता ने पुनः एक बार लड़के को सरकारी पुर्जा बनाना चाहा। बुलन्दशहर में निरीक्षण के समय आए कारमाईकेल (सीनियर मेम्बर ऑफ दी बोर्ड ऑफ रेवेन्यू) से नानक चन्द ने मुंशीराम की नौकरी की बातचीत की। कारमाईकेल ने मुंशीराम को बुलाकर 150 से 350 के ग्रेड में नौकरी देने को कहा और भविष्य में उन्नति का दाना भी डाला। परन्तु मुंशीराम ने दो मास पश्चात् उपस्थित होने का वचन देकर छुट्टी पाई। पिता को पुत्र का भविष्य तो निश्चत करना था। पिता–पुत्र में परस्पर विचार–विमर्श हुआ और मुंशीराम वकील बने यह निर्णय हुआ। पिता का मन हलका हुआ और बात सिरे पर चढ़ाने की सोचने लगे। अस्तु, पिता ने मुंशीराम को तलवन की जायदाद का प्रबन्धक बनाकर भेज दिया।

वकालत का धन्धा

मुंशीराम अपनी घरेलू जमीदारी का दायित्व और लाहौर में कानून की पढ़ाई की इच्छा लेकर संयुक्त प्रान्त के रसीले वातावरण को छोड़कर पंजाब के सजीले वातावरण में आ गए। पंजाब की धरती पर जन्म लेने पर भी संयुक्त प्रान्त में रहने के कारण 'पंजाबियत' से अछूते ही रहे। पंजाब

में उन्होंने दत्तक पंजाबी के रूप में यौवनावस्था में पदार्पण किया। गाँव में आकर वे मुंशीराम से लाला मुंशीराम हो गए। पंजाब में खत्रियों के नाम में लाला शब्द जुड़ जाने कीपरम्परा क्यों और कब आरम्भ हुई, यह बताना कठिन है। तलवन में बहियों के हिसाब के गोरखधन्धे और जमीनों की पैदावार की बटाई के कार्य में इतने उलझ गए कि पढ़ना लिखना छूट गया, परन्तु मद्य–माँस न छूटा। दिन कटी शतरंज से होती रही।

पिता जी की इच्छा पूर्ति का ध्यान आया और जनवरी 1881 ई. के तीसरे सप्ताह में लाहौर में 'मुखतारी' में प्रवेश ले लिया। वहाँ बखशीश सिंह नामक व्यक्ति के झाँसे में आकर अनार कली में 500 रुपये व्यय करके दुकान भी खोल दी। बखशीश सिंह बड़ा काँइया किस्म का व्यक्ति था। मैनेजर के रूप में दुकान पर बैठ गया। वह दुकान में घाटा ही घाटा दिखाता रहा। मुंशीराम को उस पर सन्देह हो गया और सामान को बेच कर जो लिया जा सकता था, उसे लेकर व्यापारी बनने की इच्छा को सदा के लिए छोड़ दिया। कानून की पढ़ाई में बड़े भाई मूलराज की लड़की के विवाह के कारण और भाई आत्माराम की पत्नी को गाजीपुर पहुँचाने के कारण और कुछ अपनी आवारगी के कारण पिचहत्तर प्रतिशत उपस्थिति नहीं हो सकी और परीक्षा देने से रह गए। वकालत का पहला चरण असफल रहा। मुंशीराम अकृत कार्य होकर घर लौट आए।

अगले वर्ष (1882) में पुनः प्रवेश लेकर 75 प्रतिशत से अधिक उपस्थिति करके घर पर ही रहकर परीक्षा की तैयारी करने की इच्छा से मुंशीराम गाँव में आ गए। गाँव का वातावरण अध्ययन में अनुकूल न होने के कारण वे जालन्धर में श्वसुर–गृह में जाकर पढ़ने लगे। उनकी ससुराल में मांस खाना सामान्य बात थी और मद्य पान को सभ्यता का चिन्ह माना जाता था। दामाद को दोनों चीजें बिना दमड़ी खर्च किये मिलती थीं। इससे आवारगी बढ़ी और वकालत की पुस्तकों से किनारा करके अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने आरम्भ कर दिये। रात का समय अपने सालों को उपन्यास की कथा सुनाने में व्यतीत होने लगा। इस प्रकार जालन्धर में रह कर पढ़ाई करना असम्भव हो गया और लाहौर की राह पकड़ी। लाहौर में आकर ये 'सर्वहितकारी सभा' के अधिवेशनों से लेकर ब्रह्म समाज और आर्य समाज तक के साप्ताहिक सत्संगों में जाने लगे। मद्य पान भी कम हो गया। परन्तु जिस कार्य के लिए आए थे, उस कार्य (वकालत की परीक्षा) में सफलता नहीं मिली। वकालत करने का दूसरा चरण भी पहले ही चरण में मिल गया।

मुंशीराम के पिता रिटायर्ड होकर तलवन में आ गए थे। भाई आत्माराम भी नौकरी से अलग होकर परिवार सहित घर लौट आए थे। ऐसी परिस्थिति में पिता जी पर भार न डालने की इच्छा से मुंशीराम ने नौकरी करने का विचार बनाया। कमाने की धुन में कानून की परीक्षा का विचार पीछे रह गया और नौकरी के लिए प्रार्थना पत्रों को लिखने और फाड़ने में ही समय व्यतीत होने लगा। अंग्रेजों की चाकरी करके देख ली थी, वहाँ पटती न देखकर राजपूताना की रियासतो में अपने भाग्य को आजमाने का विचार तरंगे मारने लगा। फिर देर कैसी? टिकट लेकर लाहौर के लिए कूच किया। मार्ग में विचार आया कि गुलामी समझ कर पहली नौकरी छोड़ी थी, राजपूताना में भी तो वही गुलामी मिलेगी। बस, 'मियाँ मीर' स्टेशन तक पहुँचते–पहुँचते विचारों ने पलटा खाया और उल्टे पाँव मुखतारी की परीक्षा देने का संकल्प कर लिया। इस बार उन्हें परीक्षा में सफलता मिली। मुंशीराम के पिता के आनन्द की सीमा नहीं रही। ठाकुरों का ऋंगार करवाया गया और ब्रह्मभोज भी हुआ। वेश्या का नाच कराना भी नहीं भूले।

मुंशीराम जालन्धर की अदालत में अपनी वकालत का काम करने लगे। पहला मुकदमा फिल्लौर के तहसीलदार की अदालत का मिला। मुकदमें में सफलता मिली। मित्रों के आग्रह पर

फिल्लौर को अपने लिये शुभ समझ कर वहीं वकालत करने का विचार बना लिया और घर से बरेली कोर्ट और मुश्कन घोड़ी, बर्तन आदि नौकर सहित आ गए। वकालत चल निकली और कुसंगति के अभाव में शराब आदि पीने की आदत भी कम हुई। अपनी पहली कमाई की बचत (75 रुपये) तलवन जाकर पिता जी के चरणों में भेंट करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। इसी समय पिता ज़ी के आदेश से भाइ आत्माराम के मुकदमें की पैरवी के लिये मेरठ जाना पड़ गया। फिल्लौर छोड़ना पड़ा। मेरठ में दो-तीन महीने लग गए। आत्माराम ससम्मान मुक्त हुए। वहाँ से आकर जालन्धर में पुनः वकालत आरम्भ कर दी। काम खूब चलने लगा, आमदनी बढ़ती गई और भोग के सभी साधन सुलभ हो गए। परन्तु शराब इतनी हावी हो गई थी कि उसने शरीर और आत्मा दोनों को खोखला कर दिया था।

अपने वकीली जीवन को उन्नत बनाने की इच्छा से मुखतार से एक कदम आगे बढ़कर वकील बनने का मन बनाया। सौभाग्य से मुखतारों को वकील बनने के लिए एक वर्ष का समय बढ़ा दिया गया था। इसके पश्चात् कोई भी मुखतार बी.ए. पास किये बिना वकालत की परीक्षा में नहीं बैठ सकता था। मुंशीराम इस अवसर को खोना नहीं चाहते थे। जब हम निवाला और हमप्याला दोस्तों को मुंशीराम के विचार का पता चला तो सांयकालीन दावतों में मुर्गों के गले काटे जाने लगे और प्याले के दौर दावत की दरिया में रंगीनी भरने लगे।

एक दावत के बाद जब ये एक पियक्कड़ मित्र के साथ वापिस आ रहे थे, तो शराब के नशे में मित्र के पैर लड़खड़ा रहे थे। मुंशीराम उसको पकड़े हुये ले जा रहे थे। वह अचानक बाँह छुड़ा कर एक घर में चला गया। मुंशीराम जब वहाँ पहुँचे तो देखा कि एक वेश्या थी। जैसे तैसे 'पाँचों एब शायरी' मुखतार मित्र को उसके घर पहुँचा कर अपने मित्र के डेरे (जहाँ वे ठहरे हुए थे) पर गए। मित्र भी बोतल खोले बैठे थे। फिर दौर चला। बोतल पर बोतल खुली। मित्र को बहुत चढ़ गई थी। मुंशीराम ने उन्हें रोका और सोने को कहा। मित्र बीच का किवाड़ खोलकर साथ के कमरे में चले गए। उनके जाते ही मुंशीराम ने एक जाम और गटक लिया। दूसरा भर ही रहे थे कि साथ के कमरे से एक नारी की चीख सुनाई दी। किवाड़ धकेल कर जब अन्दर गये तो देखा कि नशेड़ी मित्र के हाथों में एक युवती छटपटा रही है। मुंशीराम ने मित्र को धकिया दिया और युवती के सतीत्व की रक्षा की। इस दृश्य को देखकर मुंशीराम को गुफाशायी साधु के चंगुल से छुड़ाई गई राजरानी नाम युवती की घटना स्मरण हो आई।

इस घटना के बाद नींद कहाँ थी ? जागते-जागते अपने गत जीवन की जुगाली करने लगे। इस चिन्तन का परिणाम यह निकला कि शराब के प्रति उत्कट घृणा उत्पन्न हो गई। परन्तु पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझा कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिए इससे छुट्टी पाऊँगा। छुट्टी पाने की कहानी उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है-

"इस विचार से पूरा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक और पर्दा उठा और यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाये, शरीर में विभूति रमाये और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा जँचा मानों महात्मा कह रहे हैं-क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ? आँखें मली। मूर्ति कहीं सामने न थी, परन्तु हृदय काँप उठा। मेरा कमरा सड़क की ओर था - जहाँ किसी दूसरे के घर की दीवार थी। गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लग कर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फेंकी, वह भी दीवार से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गई[31]"।

प्याला चूर-चूर हुआ, बोतल टुकड़े-टुकड़े हुई, परन्तु इससे मुंशीराम का चूर-चूर होता

शरीर और टुकड़े–टुकड़े होती आत्मा का जुड़ाव हुआ। उनका मन आदर्श जीवन के प्रति लालायित हो उठा और वे निश्चिन्त होकर सो गये। प्रातःकाल होने पर वकील बनने की साध लेकर लाहौर के लिये चल दिए। मित्रों की मनुहारें भी उन्हें न रोक सकीं। श्रद्धा का टूटता तार जुड़ता प्रतीत हुआ। नारी पुनः परिवर्तन का कारण बनी। पर सद्बुद्धि उन्हें सत्ताइसवें वर्ष में प्राप्त हुई। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 17 से 27 वर्ष की आयु के मध्य मुंशीराम ने अपने जीवन में उत्थान और पतन के सात झटकें देखे। इन सात में से चार झटके यौन समस्या और शराब से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं तथा शेष तीन परिवार की घटनाओं से सम्बन्धित हैं। ये सातों झटके यह सिद्ध करते हैं कि मुंशीराम के जीवन में स्थिरता का अभाव था और वे वातावरण से शीघ्र प्रभावित होते थे। 'जैसा देश वैसा वेश' अपना लेना उनके स्वभाव का अंग था। इस कमी के होने पर भी हमें उनमें एक विशेषता भी दिखाई पड़ती है। वे चाहे औपचारिक परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण होते रहे हों, किन्तु उनमें स्वतन्त्र रूप से स्वाध्याय करने की प्रवृत्ति अत्यधिक थी। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' इनकी सांस्कृतिक पूंजी थी। इसी के भरोसे डूबती जीवन नैया को उभार देते रहे। अपने जीवन की इस अवधि को वे 'अन्धकार और प्रकाश' युद्ध मानते रहे।

सन्दर्भ
प्रथम अध्याय

1.(क) इन्द्र, मेरे पिता : संस्करण पृष्ठ 148
(ख) निरुपण एवं विनोदचन्द्र, स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण व्यक्तित्व " 548
2. भवानी लाल भारतीय, स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली–खण्ड एक 101
3. " " " 9
4. " " " 10
5. " " " 11
6. " " " 12
7. " " " 13
8. स्वामी दयानन्द, संस्कार विधि " 94–95
9. निरुपण एवं विनोदचन्द 143
10. भवानी लाल भारतीय, स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली खण्ड एक 18
11. " " 18
12. " " 20
13. " " 20-21
14. " " 24
15. इन्द्र वही 123
16. भवालीलाल भारतीय वही खण्ड 27
17. " " " 33
18. " " " 46
19. " " " 48
20. " " " 49
21. " " " 63–64
22. " " " 64
23. " " " 187
24. " " " 65–66
25. " " खण्ड पाँच 212
26. " " खण्ड एक 74
27. " " " 77
28. " " " 79–80
29. " " " 81–83
30. " " " 94

दूसरा अध्याय
श्रद्धा के जुड़ते तार (1884 - 1901)

आर्य समाज में प्रवेश

मुंशीराम को सद्बुद्धि मिल चुकी थी। मानसिक दृष्टि से ईश्वर पर विश्वास हो चुका था। अब डगर साफ थी। अतः लाहौर में पहली रात जब सो कर उठे तो सब कुछ मनभावन लगा। लॉ क्लास में प्रवेश लेकर पढ़ाई आरम्भ कर दी। लाहौर आने के उपरान्त रविवार को 'आर्यसमाज' मन्दिर में गए। दो मुसलमान रबाबियो के भजन अच्छे लगे। व्याख्यान अच्छा नहीं लगा, क्योंकि उसमें विषयों की विविधता होने के कारण संगति नही थी। इसके बाद सांयकाल को 'ब्रह्म समाज' में गए। वहाँ भी वही रबाबी गा रहे थे। वहाँ विश्वनाथ शास्त्री का 'भक्ति का महत्व' विषय पर व्याख्यान सुना। शास्त्री जी के भाषण से इतने प्रभावित हुए कि तत्सम्बन्धी पुस्तकें लेकर पढ़ डालीं। ब्रह्म समाज के साहित्य में जीवात्मा की उत्पत्ति साथ ही उसकी अनन्त उन्नति का सिद्धान्त मन में नहीं बैठा। अतः पुस्तक के लेखक काशीराम के पास जा पहुँचे और अपनी शंकाएँ उनके सामने रखीं। उनके उत्तर से मुंशीराम को सन्तोष तो होना दूर की बात थी। प्रत्युत पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धान्त पर निश्चय और भी दृढ़ हो गया। तब पादरी स्काट के साथ 'पुनर्जन्म' विषय पर बरेली में हुये स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थ का स्मरण आया। मुंशीराम सीधे बच्छोवाली आर्य समाज की ओर "सत्यार्थ प्रकाश" खरीदने चल दिये। बड़ी दौड़–धूप के बाद सत्यार्थ–प्रकाश मिला। इसको पढ़कर पुनर्जन्म और कर्मफल के सन्देहों का निवारण हो गया। उनके हितैषी सुन्दर दास जी का प्रयास था कि ब्रह्म समाज की ओर झुका हुआ मुंशीराम आर्य समाज में प्रविष्ट हो जाए। 'सत्यार्थ प्रकाश' ने यह कार्य सरल कर दिया।

आर्य समाज एवं ब्रह्म समाज दोनों के साप्ताहिक सत्संगों में मुसलमान रबाबियों के भजन गाने की बात से हम एक निर्णय पर पहुँचते हैं कि सुधारवादी आन्दोलनों के आरम्भिक दिनों में भक्ति के क्षेत्र में वर्ण, जाति, सम्प्रदाय अथवा धर्म की संकुचित दीवार खड़ी नहीं हुई थी। उस युग में संगीत कला का स्वागत खुले दिल से किया जाता था। लेकिन कला के प्रति यह उदारता शनैःशनैः लुप्त हो गई और सिद्धान्तवादी भजनों की टोली आर्य समाजों के मंचों पर छा गई। इससे भक्ति का महत्व घटा।

मुंशीराम के संदेह निवारण के पश्चात् अचानक उनके हितैषी सुन्दरदास जी आ गए। उन्होंने पूछा – किस चिन्ता में हैं, कहिए कुछ निश्चय हुआ। मुंशीराम ने उत्तर दिया – "पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सदस्य बन सकता हूँ[1]"। अब कोई रुकावट नहीं थी। सुन्दरदास के साथ रविवार को आर्य समाज में चले गए। आर्य समाज के मन्त्री जवाहर सिंह ने मुंशीराम की आर्य समाज में प्रविष्ट होने की घोषणा कर दी और उनको कुछ कहने के लिए आमन्त्रित किया। यह सब इतनी शीघ्रता से हुआ कि मुंशीराम स्तब्ध रह गए और उन्हें सोचने का अवसर ही नहीं मिला। उस समय मुंशीराम ने जो विचार प्रकट किए थे, उनका सारांश यह था, "हम सब के कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिएँ और इसलिये जो वैदिक धर्म के एक–एक सिद्धान्त के अनुकूल अपना जीवन नहीं ढालता है उसे उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिए"।........भाड़े के ट्टटुओं से धर्म का प्रचार नही हो सकता। इस पवित्र कार्य के लिए स्वार्थ त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है[2]।" मुंशीराम के उपर्युक्त विचारों को सुनकर लाला साईदास प्रधान आर्यसमाज लाहौर ने अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए कहा था – "आर्य समाज में एक नई

स्पिरिट आई है। देखें आर्य समाज को तारती है या डुबो देती है[3]।" इस प्रकार पुराने आर्य नेताओं ने मुंशीराम को भावी नेता के रूप में देखने का प्रयास किया और अपने-अपने नेतृत्व के लिये एक शक्ति सम्पन्न और प्रतिभाशाली प्रतिद्वन्दी समझा। आगे आने वाली घटनायें हमारी मान्यता को सत्य सिद्ध करेंगी।

जब जालन्धर में यह समाचार पहुँचा कि मुंशीराम ने आर्य समाज में प्रवेश ले लिया है तो उनकी अनुपस्थिति में ही उन्हें जालन्धर आर्य समाज का प्रधान बना दिया गया। आर्य समाज जालन्धर चाहे छोटा आर्य समाज था और तीन-चार टोटरु इसके सदस्य थे[4], परन्तु मुंशीराम को इस समाज ने प्रधान बनाकर उनके नेतृत्व की पहली सीढ़ी तैयार कर दी। इसके उपरान्त मुंशीराम ने लाहौर आर्य समाज में दिये गये वक्तव्य के अनुसार अपने जीवन को ढालना आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्द कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' का अध्ययन करते समय दसवें समुल्लास में 'भक्ष्याभक्ष्य' को पढ़कर भोजन सम्बन्धी वर्जनाओं में मांस को भी पाया।

मांस का त्याग

पंजाब में मुसलमानों के प्रभाव से हिन्दुओं में भी मांस भक्षण करना सामान्य बात थी। मुंशीराम ने अपने परिवार में बाल्यकाल से ही मांस भक्षण को देखा था। वे मांस त्याग के विषय में अभी पूर्णतया सोच भी नहीं पाये थे कि अचानक आँखों के सामने गुजरने वाली घटना ने इस लत से भी छुट्टी दिला दी। होली के चार-पाँच दिन पहले जब वे प्रातःकालीन भ्रमण करके लौट रहे थे तो अनारकली बाजार में एक मनुष्य के सिर पर रखे माँस के टोकरे में भेड़-बकरियों की कटी हुई टाँगें बाहर लटकती हुई देखीं। इस वीभत्स दृश्य को देखकर उनके मन में स्वतः ही मांस भक्षण के प्रति घृणा हो गई। रात्रि भोजन के समय साथियों के सामने मांस का कटोरा फेंक कर सभी को अचम्भे में डाल दिया। मुंशीराम का यह व्यवहार अत्यधिक घृणा का सूचक होते हुये भी उनकी अपनी दृष्टि में कायरता थी, क्योंकि बचपन में पड़ं हुये अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शान्ति से काटने की शक्ति अभी उनमें नहीं थी[5]।

व्रत एवं मूर्ति पूजा में अश्रद्धा

होली के दिनों में जालन्धर आने पर आर्य समाज के प्रधान के रुप में उनका पहला व्याख्यान हुआ। व्याख्यान का विषय था 'बाल विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य का महत्व'। व्याख्यान की सफलता पर कुछ वकील साथी बधाई दे ही रहे थे कि एक साथी ने अट्टाहास करते हुए कहा कि बधाई हो रांय शालिग्राम (मुंशीराम के श्वसुर) अपने एक वर्ष के पोते की सगाई सवा वर्ष की लड़की से कर रहे हैं। यह लड़का अन्य कोई न होकर जालन्धर आर्य समाज के मन्त्री और मुंशीराम के साले देवराज का पुत्र था। इस समाचार को सुनकर मुंशीराम रिवसिया गए। यहाँ पाठकों को यह बताना आवश्यक है कि यह विवाह नहीं हो सका क्योंकि देवराज ने अपने लड़के की 25 वर्ष की आयु पूर्ण होने से पहिले विवाह के प्रस्ताव की स्वीकृति नहीं दी। पर लोगों को तो मजाक का विषय मिल ही गया।

मद्य-मांस का सेवन सर्वथा छूट जाने से मुंशीराम की बुद्धि और मन दोनों शान्त और निर्मल हो गए और वकालत की पढ़ाई अधिक तत्परता से करने लगे। मिस्टर ई.डब्ल्यू पारकर उन दिनो 'जुरिस्प्रडेंस' का विषय पढ़ाते थे। जुरिस्प्रडेंस में अन्य छात्रों की अपेक्षा मुंशीराम को अधिक प्रतिभाशाली समझ कर उन्होंने 'वागवर्धिनी सभा' खोल दी और प्रधान मुंशीराम को बना दिया। मुंशीराम ने जुरिस्प्रडेंस के विषय में भिन्न-भिन्न देशों की पुस्तकें पढ़नी आरम्भ कर दी। इसका कारण यह था कि कि वे अपने मन में एक ऊंची आशा बना बैठे थे। वह आशा थी लाहौर 'चीफकोर्ट' की कुर्सी

की। लेकिन उन्हें चीफकोर्ट की कुर्सी तो नही मिली, हाँ, आर्य समाज के चीफ नेता की कुर्सी अवश्य मिल गई।

मुंशीराम के अब तक के जीवन में जितनी घटनायें हुई थीं, वे समाज के अन्य लोगों से टकराने के कारण हुई थीं। उन घटनाओं में पारिवारिक हस्तक्षेप शून्य ही था। लेकिन आगे जो घटित हुआ वह तो मात्र पारिवारिक घटना ही थी। कानून की पढ़ाई से कुछ फुर्सत निकाल कर मुंशीराम अवकाश के दिनों में लाहौर से जालन्धर आये। यहाँ आकर दो–तीन व्याख्यान ही देने पाये थे कि पिता जी के रोगग्रस्त होने का समाचार मिला और पैर तलवन की ओर चल पड़े। पिताजी की सेवा सुश्रूषा करने की अवधि में ही ज्येष्ठ मास की निर्जला एकादशी का व्रत आ गयां यह व्रत लाहौर में आर्य समाज में प्रविष्ट होते समय दिए गये वक्तव्य की अनुपालना की परीक्षा का अवसर लेकर था। क्योंकि मुंशीराम की ज्ञात वंशावली में दो–तीन पीढ़ियों से प्रचलित था। व्रत की समाप्ति पर परिवार के सभी सदस्यों को संकल्प पढ़ना अनिवार्य था। अब मुंशीराम के सामने एक तरफ आर्य समाज था और दूसरी तरफ परिवार में मनाये जाने वाले संस्कारों, त्याहौरों एवं व्रतों को पाखण्ड कह कर दुत्कारना था। परिवार के संस्कारों की पक्की दीवार को सहसा तोड़ना कठिन था। अतः पहले पुस्तक पढ़ने का बहाना करके अपनी बैठक मे जा बैठे और सोचा शायद टकराव की घड़ी टल जावे। क्या कभी आँख बन्द करने से कबूतर का भय जाताहै ? पिता जी के बुलावे पर जाना ही पड़ा । पिता जी ने पुत्र को संकल्प पढ़ने को कहा। मुंशीराम ने भयभीत होकर उत्तर में इतना ही कहा – "संकल्प तो दिल से सम्बन्ध रखता है, जब आपने संकल्प किया है, तो आपका दान है, जिसे चाहें दें। इसलिये मैंने आना आवश्यक नहीं समझा[6]"।

मुंशीराम के पिता जी को यह सुनकर झटका लगा और बोल उठे – "क्या तुम एकादशी और ब्राह्मण पूजा पर विश्वास नही रखते।" मुंशीराम ने अन्य कोई उपाय न देखकर स्पष्ट ही तो कह दिया कि ब्राह्मणत्व पर तो उन्हें विश्वास है, किन्तु जिसको दान देना चाहते हैं, वह उनकी दृष्टि में ब्राह्मण नहीं है और एकादशी के दिन में भी कोई भी विशेषता नहीं है[7]। दो–एक दिन के लिए पिता पुत्र तनाव में रहे। इसके बाद पिता के व्यवहार में सहजता देखकर निर्जला एकादशी की घटना का बोझ मन से उतर गया। सारी छुटिटयाँ पिता जी की सेवा और स्वामी दयानन्द कृत पुस्तकें के पढ़ने में बीती। हाँ, आर्यसमाज में प्रवेश करते समय शतरंज खेलने की जो आदत छूट गई थी, वह जाग गई और उससे समय कटने लगा। सितार का पुराना शौक भी जागा। इस प्रकार सब कुछ मिलाकर जो कुछ हुआ अच्छा ही रहा।

छुट्टियाँ समाप्त होने पर लाहौर के लिए तैयारी कर ली। चलने से पूर्व पिता जी के चरणों में नतमस्तक हुए। एक कदम भी नहीं बढ़ाया था कि पिता जी का संकेत पाकर रुकना पड़ा। इतने में भीमा सेवक ने एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रखकर मुंशीराम की ओर बढ़ा दी। पिता जी का आदेश हुआ – "ठाकुर जी की पूजा करके विदा होवो"। मुंशीराम इतना सुनते ही सकते में आ गए। काटो तो खून नहीं। उत्तर भी कुछ नहीं सूझ रहा था। इस स्थिति को देखकर पिता जी ने यह समझ कर शायद मुंशीराम 'ठाकुर जी' की भेंट में अठन्नी को कम समझता है, थाली में रुपया रखवा दिया। फिर भी मुंशीराम उसी स्थिति में खड़े रहे। अन्त में उन्हें मुँह खोलना ही पड़ा – "मैं अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ। हाँ सांसारिक व्यवहार में जो आप आज्ञा दें, उसके पालन के लिये हाजिर हूँ[8]।" पिता गुर्राये और कहने लगे कि तुम्हारी दृष्टि में हमारे ठाकुर जी धातु–पत्थर के हो गए। बात कुछ आगे बढ़ी। मुंशीराम ने विनम्रता से कहा कि बात ऐसी नहीं है, वस्तुतः ये मूर्तियाँ भगवान नहीं है, इनके आगे भेंट रखना मक्कारी होगी। इस उत्तर से सर्वथा निराश होकर मुंशीराम के पिता के मुख से निकल पड़ा – "मुझे विश्वास नहीं कि

मरने के बाद मुझे कोई पानी देने वाला भी मिलेगा।" रुढ़िगत पारिवारिक संस्कारों से टकराने की यह दूसरी घटना थी। प्रथम टकराव की अपेक्षा इस टकराव के समय मुंशीराम ने कोई बहाना नहीं बनाया अपितु पिता को अपने व्यवहार से स्पष्ट बता दिया कि उन्हें परिवार की अवैज्ञानिक परम्पराओं की तुलना में आर्य समाज के सिद्धान्त अधिक प्यारे हैं।

लाहौर के लिए चलते समय पिता जी ने पचास रुपये थमा दिए। रुपये तो मुंशीराम ने ले लिये, लेकिन दूसरे किसी व्यक्ति के हाथ लौटा दिये। लौटाने का कारण यह था कि जब वे पिता के मन्तव्य के विपरीत विचार रखते हैं, तो उनको कोई अधिकार नहीं कि उनसे कुछ ग्रहण करें। पिता जी ने उल्टे पाँव रुपयो सहित आदमी भेजा और प्रतिज्ञा स्मरण करा कर रुपये रखने को कहा।

गुरुदत्त से परिचय

मुंशीराम सितम्बर, 1885 ई. की समाप्ति पर लाहौर पहुँच गए और वकालत की परीक्षा की तैयारी में लग गए। दिसम्बर में परीक्षा होनी थी। सितम्बर और दिसम्बर के मध्य मुंशीराम ज्वर के कारण अस्वस्थ रहे। इसी अस्वस्थता की अवधि में नवम्बर, 1885 ई. के लाहौर आर्य समाज के उत्सव में सम्मिलित होना अपना कर्त्तव्य समझा। इसी उत्सव पर उनका परिचय गुरुदत्त से हुआ। इस परिचय को उन्होंने अपनी ही तूलिका से इस प्रकार प्रकट किया है – "यह पहला ही अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त को मैंने दयानन्द कॉलेज के लिए लाहौर आर्य समाज की वेदी पर से अपील करते हुए सुना। उसी व्याख्यान से मेरा चित्त पण्डित गुरुदत्त की ओर आकर्षित हो गया और अधिक मिलने से मैंने शनैःशनै अनुभव किया कि यही एक आत्मा है, जिसके साथ मेरे आत्मिक भाव ऐक्य को प्राप्त हो सकते हैं। जब मैं दूसरे दिन विशेष प्रकार से पण्डित गुरुदत्त से मिलने गया, तो उन्होंने भी अपने भावों से यही प्रकट किया कि हम दोनों एक–दूसरे को समझते हैं[9]।" वकालत के प्रथम वर्ष की परीक्षा का समय निकट आया, परिणाम भी निकला। मुंशीराम लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण थे, परन्तु फौजदारी कानून की मौखिक परीक्षा में दो अंक से अनुत्तीर्ण रहे। मुंशीराम ने तो परीक्षाओं में प्रथम बार असफल होने की परम्परा डाल रखी थी, फिर वह इसे कैसे तोड़ते ? अब लाहौर में ठहरने का कोई प्रयोजन नहीं था, अतः मुंशीराम जालन्धर आ कर मुखतारी के काम में लग गए।

पिता के विचारों में परिवर्तन

जब सुयोग होता है तो सब ठीक होता चला जाता है। मुंशीराम के पिता जी के विचारों में भी उदारता ने प्रवेश किया। वे शनैःशनै अपने पुत्र के विचारों के समर्थक बनते गए। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि जब एक बार आर्य समाज जालन्धर के सत्संग के अन्तिम कार्यक्रम को छोड़कर मुंशीराम अपने पिता जी से मिलने आये तो पिता जी ने कहा – "सारा कार्यक्रम समाप्त करके आना चाहिए था"। बदलाव की प्रक्रिया में पास के मास्टर पण्डित काशीराम ने भी सहायता की और वे मुंशीराम के पिताजी को 'सत्यार्थ प्रकाश' का पहला समुल्लास सुनाकर परिवर्तित करने में लगे रहे। इस का अन्तिम परिणाम क्या रहा ? इस विषय में मुंशी राम ने लिखा है कि पिता ने कहा – "पण्डित जी ! हम तो अविद्या में ही पड़े रहे, हमारा मोक्ष कैसे होगा ? हमने तो निरर्थक क्रियाएँ ही कीं, अब से वैदिक सन्ध्या करेंगे। बस फिर क्या था, पिता जी ने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थकण्ठस्थ करना आरम्भ कर दिया। अब वैदिक सन्ध्या और पंचायतन अर्थात् पाँच देव–मूर्तियों की पूजा साथ ही साथ होने लगी[10]।" परिवार में एक से डेढ़ आर्य समाजी बने। पिता के व्यवहार ने पुत्र को आनन्दित किया।

फरवरी, 1886 ई. में मुंशीराम के पिता जी को अर्धांग रोग हो गया। अतः वे जालन्धर से प्रायः प्रत्येक रविवार तलवन पहुँच कर पिता जी की सेवा–सुश्रूषा में तल्लीन रहते। एक दिन

मुंशीराम के पिता जी ने वह वसीयतनामा जो उन्होंने लिखा था, मुंशीराम को सौंप दिया। उसके अनुसार मुंशीराम को अन्य दोनों भाईयों की तुलना में अधिक धन–सम्पत्ति दी गई थी। यदि अन्य कोई सामान्य व्यक्ति होता तो, इसे स्वीकार करके नितान्त प्रसन्न होता, लेकिन मुंशीराम वसीयतनामे को पढ़कर उदासीन हो गए और पिता से बोले – कि उन्हें उनके अधिकार से बढ़कर कुछ नहीं चाहिए। यदि वसीयत कर दोगे तो वे अपना भाग लेने से भी इन्कार कर देंगे। यदि आप इस वसीयत नामें को फाड़ देते हैं, तो वे निश्चित रुप में उन धार्मिक कार्यों को अवश्य सम्पन्न करेंगे जो आप कहते हैं[11]। पिता का उत्तर भी बड़ा सन्तुलित था – "यह वसीयतनामा तुम्हारा माल है, जैसा बर्ताव चाहो करो।" पिता जी के संकेत को अपने अनुकूल जानकर मुंशीराम ने वसीयतनामा फाड़ दिया। पिता–पुत्र सात्विक भावों में शरदकालीन निरभ्र चन्द्र ज्योत्सना के समान दिखाई पड़े। मुंशीराम की पैतृक सम्पत्ति में से, अधिकार से अधिक न लेने की त्याग भावना स्वार्जित सम्पत्ति के सम्पूर्ण त्याग की भावी घटना की सांकेतिक सूचना देने वाली थी।

प्रथम शास्त्रार्थ

एक बार जब मुंशीराम अपने पिता जी की सेवा से निवृत्त होकर जालन्धर पहुँचे, तो उन्हें सूचित किया गया कि श्यामदास नामक सनातनी पण्डित आर्य समाज को शास्त्रार्थ के लिए ललकार रहा है। मुंशीराम ने उसकी चुनौती स्वीकार कर ली। शास्त्रार्थ का विषय 'मूर्ति पूजा तथा अवतारवाद मण्डन' निश्चित हो गया। जालन्धर आर्य समाज के पास अपना कोई संस्कृतज्ञ पण्डित नहीं था। अतः लाहौर आर्य समाज से प्रार्थना की गई। उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की स्थापना नहीं हुई थी और सिवाय लाहौर आर्य समाज के किसी अन्य आर्य समाज को यह अधिकार नही था कि वे शास्त्रार्थ के लिए अपने अधिकार का प्रयोग कर सकें। लाहौर से कोरा उत्तर मिला। ऐसी स्थिति में अमृतसर से लाजपत नामक पंडित को तैयार किया गया। शास्त्रार्थ की एक शर्त यह थी कि वह संस्कृत भाषा में ही होगा। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। आर्य समाज की तरफ से प्रस्तुत पण्डित लाजपत संस्कृत में बोलते रहे। सनातनी पण्डित श्यामदास ने उपस्थित जनता पर प्रभाव डालने के लिए हिन्दी भाषा में बोलना आरम्भ कर दिया। प्रतिज्ञा भंग का लाभ उठाकर मुंशीराम बीच में कूद पड़े और हिन्दी भाषा में सनातनी पण्डित के प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ कर दिया। मुंशीराम के तर्कपूर्ण एवं सटीक उत्तरों एवं प्रश्नों से सनातनी पण्डित दायें–बायें देखने लगा और जैसे–तैसे पीछा छुड़ाया। इस शास्त्रार्थ ने आर्य समाज के शास्त्रार्थ में नया युग ला दिया। इस शास्त्रार्थ से पूर्व आर्य समाज और सनातन धर्म के जितने भी शास्त्रार्थ पंजाब में होते थे, वे संस्कृत भाषा में ही होते थे और दोनों ओर के प्रवक्ता भी ब्राह्मण ही होते थे। इसके बाद शास्त्रार्थ के क्षेत्र में संस्कृत की अनिवार्यता समाप्त हुई और साथ में ही धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्याओं के विषय में ब्राह्मणों का एकाधिकार ढीला हुआ और गैर ब्राह्मणों को भी यह अधिकार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त इस शास्त्रार्थ से आर्य समाज जालन्धर, आर्य समाज लाहौर के समानान्तर शास्त्रार्थ के क्षेत्र में द्वितीय शक्ति के रूप में उभर कर आया।

जाति बहिष्कार की धमकी

शास्त्रार्थ में चारों खाने चित्त होने पर जालन्धरी सनातनी लोगों ने आर्य समाज में प्रविष्ट हुए व्यक्तियों को जाति–बहिष्कृत करने की दुर्भावना से एक पंचायत बुलाने की घोषणा की। इस घोषणा से आर्य समाजी बने विभिन्न जातियों के सदस्यों में हड़कम्प मच गया। परन्तु लाला देवराज और मुंशीराम की बुद्धिमता ने पंचायत मे जाति बहिष्कार की व्यवस्था देने वाले पंडितो के जारी–जुआरी आदि दोषों को उजागर करके उन्हें जाति–बहिष्कृत करने की धमकी देकर पंचायत से दूर ही रहने दिया। इसका परिणाम यह निकला कि पंचायत टाँय–टाँय फिस हो गई।

फिर कुछ दिनों के उपरान्त सनातनी जालन्धरी उसी पुराने पंडित श्यामदास को ले आए। उसने आते ही आर्य समाज के विरुद्ध बोलना आरम्भ कर दिया। तलवन से आकर मुंशीराम सीधे उस पंडित की सभा में पहुँचे। उस समय वह 'सत्यार्थ प्रकाश' के एक अंश को उसके सन्दर्भों से काटकर लोगों को आर्य समाज के विपरीत भड़का रहा था। मुंशीराम ने श्रोताओं के मध्य से जोर से बोलकर कहा – जरा पूरे सन्दर्भ को पढ़ कर सुनाइये। पंडित जी ने जब इस बात को अनसुना कर दिया तो मुंशीराम अपने को रोक नहीं सके और सीधे मंच पर पहुँच गए और बड़ी शालीनता से हाथ से पुस्तक लेकर सारे सन्दर्भ को पढ़ गए। उन्होंने वहीं घोषणा कर दी कि वे अगले दिन भाषण देंगे। यदि उत्साह है तो आइए। अगले दिन पंडित जी अपने साथियों के साथ मुंशीराम की सभा में गये, परन्तु मध्य में 'जय राधाकृष्ण' की करके उठ गए।

पिता की मृत्यु

मुंशीराम के पिता जी की बीमारी कम होने की अपेक्षा बढ़ती ही गई। अपने जीवन में उन्हें सुरा–सुन्दरी की कभी चाह नहीं रही, हाँ वे मांस भक्षण के आदि अवश्य थे। इस आदत को भी उन्होंने मृत्यु से पूर्व ही छोड़ दिया था। इसके छोड़ने में मुंशीराम कारण थे अथवा नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। मांस त्याग की मनःस्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि मुंशीराम के बड़े भाई गिलास में कुछ पीने की वस्तु लिये खड़े थे। उन्होंने (पिता ने कहा – "यदि मुंशीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं है तो मैं पी लूंगा, मेरे भले के लिए भी झूठ नहीं बोलेगा[12]। मुंशीराम के कहने पर उन्होंने दवाई पी ली। मुंशीराम का मन पिता जी के इस विश्वास के कारण विनीत से विनीत होता गया और श्रद्धा के कारण आँखें तरल हो गई।

26 जून, 1886 ई. का दिन ग्रीष्म काल का प्रचण्ड सूर्य अपराह्न बेला के अन्तिम छोर की ओर शनैःशनैः बढ़ रहा था। मुंशीराम के पिता नानक चन्द जी भी शनैः शनैः अपने जीवन के अन्तिम श्वासों को गिन रहे थे। इस स्थिति में भी वह मुंशीराम को यह प्रदर्शित करना नहीं भूले कि उन्हें – उसके धार्मिक सिद्धान्तों में विश्वास होता जा रहा है। पिता ने पुत्र से कहा – "वैदिक हवन कराओ[13]"। रात्रि के प्रथम पहर के आठ बजे थे। मुंशीराम के हाथ में नाड़ी थी और वे वेद मन्त्रों का पाठ कर रहे थे। वैदिक हवन में आहुति डालने की चाह मन में लेकर 9 बजे नानक चन्द इस संसार से विदा हो गये और जीवन की अन्तिम सन्ध्या में "वैदिक हवन कराओ" कह कर पूर्ण आर्य समाजी बन कर शरीर त्याग गए। मरणोपरान्त सारा परिवार शोक में मलिन–मुख हो गया। अन्तिम संस्कार की क्रियाओं के सम्बन्ध में भाईयों के धार्मिक विचारों में अन्तर होने के कारण वैदिक रीति से संस्कार न होने का भय मुंशीराम को आशंकित कर रहा था। परन्तु भाई ने अर्थी उठने से पूर्व तक पारिवारिक रीति–रिवाजों को किया। घर से बाहर अर्थी जाने पर श्मशान भूमि में दाह संस्कार मुंशीराम की इच्छानुसार हुआ।

पिता की मृत्यु के उपरान्त सम्पत्ति के बँटवारे में मुंशीराम ने हद दर्जे की ईमानदारी का परिचय दिया। पिता जी की मृत्यु के उपरान्त बारहवें दिन भीमा ने मुंशीराम के सामने चाबियाँ लाकर रख दी। मुंशीराम ने भाईयों की इच्छानुसार सम्पत्ति का बँटवारा किया। तीनों भाईयों ने नगदी अधिक ली और निरन्तर खर्च मांगने वाली वस्तुओं (घोड़े, बग्घी) का पूरा मूल्य लगाकर मुंशीराम को सौंप दीं। इसके पश्चात् एक महीना लगाकर खुर्जा, बरेली और बनारस की कोठियों में पिता जी द्वारा जमा किया रुपया प्राप्त करने में बिताया। यह रुपया भी परस्पर बाँट दिया।

अब मुंशीराम को अपने भविष्य के विषय में सोचने की कुछ फुर्सत मिली। पिता जी की बीमारी और देहान्त पर जालन्धर से वे लगातार लम्बी अवधि तक अनुपस्थित रहे। इस कारण मुखतारी का काम बन्द हो चुका था। दशहरे तक जालन्धर ही रहे और इसके बाद लाहौर चले गए तथा दूसरी

बार परीक्षा दी। परीक्षा से निवृत्त होकर जालन्धर आर्य समाज के प्रथम वार्षिकोत्सव की तैयारी में लग गए। जालन्धर आर्य समाज के पश्चात् गुरुदत्त के सत्संग ने काया ही पलट दी। ऋषिकृत ग्रन्थों का स्वाध्याय बढ़ गया। गुरुदत्त के प्रभाव को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा कि "पंडित गुरुदत्त की यह साक्षी मेरे लिए बहुत उत्तेजक हुई कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों की प्रत्येक नयी आवृत्ति पर नये भाव विदित होते हैं[14]।" इसी अवधि में 'आर्य प्रतिनिधि सभा', पंजाब की स्थापना हो गई थी।

दिसम्बर, 1886 ई. में दी गई वकालत का परीक्षा परिणाम महीनों तक रुका रहा। इसका कारण था पंजाब विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार मिस्टर लार्पेण्ट का दोनों हाथों से रिश्वत लेना। इस काम में गण्डासिंह उनका बिचौलिया था। मुखतारी के प्रार्थियों से एक हजार और वकालत पास करने के पन्द्रह सौ देना पड़ता था। परीक्षा में उत्तीर्ण लोगों को भी यह राशि देने के लिए यह कह बाध्य किया जाता था कि प्रमाणपत्र नहीं मिलेगा। मुंशीराम इस बार परीक्षा में उत्तीर्ण थे। परन्तु लार्पेण्टशाही की शिकायत हिसार के प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणि ने तत्कालीन वायस चांसलर रैटिंगन से कर दी। विश्वविद्यालय की सीनेट ने लाला चूड़ामणि को छोड़कर सबको अनुत्तीर्ण कर दिया और बलवे की भीड़ में निरपराध मुंशीराम भी कुचला गया।

पं. दीनदयाल को चुनौती

परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर मुंशीराम की रुचि धार्मिक कार्यों की ओर झुक गई। सन् 1887 ई. में सनातन धर्म के प्रसिद्ध व्याख्याता रोहतक जिले के झज्जर नामक कस्बे के निवासी पं. दीनदयालु व्याख्यान वाचस्पति (पं. मौलिचन्द्र के पिता) जालन्धर पधारे। उन्होंने जालन्धर की सनातन धर्म सभा से आर्य समाज के मन्तव्यों का खण्डन आरम्भ किया। उन दिनों मुंशीराम तलवन में थे। उनके पास जालन्धर से एक आदमी पत्र लेकर गया, जिसमें लिखा था कि आर्य सभासदों को मुँह दिखाना कठिन हो रहा है। पं. दीनदयालु में दूसरे पक्ष को उल्टा दिखाने और उपहास करने की शक्ति उस समय यौवन पर थी। मुंशीराम ने पत्र पढ़ते ही सर्वप्रथम पं. दीनदयालु को शास्त्रार्थ की चुनौती लिख कर भेज दी। इसके बाद जालन्धर आकर आर्यों के उत्साह वर्धन के लिए भाषण दिया। एक दिन पंडित दीनदयालु के व्याख्यान में सैकड़ों व्यक्तियों के साथ अचानक पहुँच गए। उस समय पण्डित जी ने एक पत्र की व्याख्या की, जो कि उनके हाथ में था। वह पत्र किसी अन्य का न होकर मुंशीराम का शास्त्रार्थ सम्बन्धी पत्र था। पण्डित जी ने पत्र की हंसी उड़ाते हुए पत्र के कुछ भाग को छोड़कर वह भाग पढ़ा। जिससे लेख की श्रंखला टूट कर पण्डित जी का स्वार्थसिद्ध होता था। भीड़ में से ही मुंशीराम ने कहा कि बीच में और भी कुछ है, उसे भी पढ़िये। मुंशीराम का इतना कहना था कि सनातन धर्म सभा के प्रधान ने पण्डित जी को बताया था कि यही तो मुंशीराम है। पण्डित जी परिस्थिति को भांप गए और उन्होंने शेष बचे अपने भाषण में वैराग्य के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर कुछ बोला ही नहीं। पण्डित जी के भाषण की समाप्ति पर आर्य समाज के एक व्यक्ति ने घोषणा कर दी कि पण्डित जी के व्याख्यान का उत्तर आर्य समाज मन्दिर में दिया जाएगा। सारे नगर में ढोल पिट गया "आर्य बड़े जबरदस्त हैं, दूसरे के घर पहुँच कर खबर ले डालते हैं[10]"।

दूसरे दिन मुंशीराम ने आर्य समाज में 'चाऊ चाऊ का मुरब्बा' नाम से पण्डित जी के व्याख्यान का उत्तर दिया। इस भाषण को लोगों ने बड़े चाव से सुना। इस वक्तृता का प्रभाव यह पड़ा कि कि एक सरदार ने एक बड़े मुकदमे में मुंशीराम को एक हजार पर नियत करके पाँच सौ रुपये तुरन्त दे दिए। इस अवधि में मुंशीराम ने अपने परिवार की ओर भी ध्यान देना आरम्भ कर दिया और अपनी पत्नी को पढ़ाने तथा पर्दा आदि कुरीतियों के दोषों को समझाने में भी समय देने लगे। मुंशीराम की धर्मपत्नी ने शनैःशनैः इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि वे स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थों का सुविधापूर्वक अध्ययन करने लगीं। मुंशीराम के विचारों से प्रभावित

होकर वे बिना पर्दे के सामाजिक कार्यों में आने –जाने लगीं। उस आदर्श नारी ने सदा पति के अनुकूल रह कर धार्मिक कार्यों में पति को सदा स्वतन्त्र विचरने का अवसर प्रदान किया। इस समय मुंशीराम की बड़ी लड़की वेद कुमारी सात वर्ष की और अमृत कला (पूर्व नाम हेमन्त कुमारी) अनुमान से चार वर्ष की हो चुकी थी।

अच्छे उपदेशकों का अभाव

इसी वर्ष (1887 ई.) में मुंशीराम अपने साले रायजादा भक्तराम को इंग्लैण्ड के लिए छोड़ने बम्बई गए। बम्बई में उन्होंने प्रसिद्ध–प्रसिद्ध आर्य समाजियों से भेंट की और एक व्याख्यान भी दिया और जालन्धर लौट आए और मुखतारी के काम के साथ साथ अपने मुख्य उद्देश्य वकालत पास करने की ओर भी ध्यान दिया । वकालत की परीक्षा दिसम्बर, 1887 में होनी थी। नवम्बर 26 तथा 27 को आर्य समाज लाहौर के वार्षिकोत्सव की तिथियाँ निश्चित हो चुकी थीं। मुंशीराम ने सोचा चलो, एक पन्थ दो काज, परीक्षा भी दे आएँगे और उत्सव भी देख लेंगे और लाहौर के लिए चल दिए। 27 नवम्बर, रविवार के दिन प्रातः 10 बजे जब ये लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर गुरुदत्त का भाषण सुन रहे थे तो उन्हें बड़े पुत्र हरिश्चन्द्र के जन्म की सूचना तार द्वारा मिली। आर्य निहाल सिंह (आर्य समाज के दान माँगने वाले) ने झोली फैलाते हुए कहा – कुछ डालिए। मुंशीराम ने बड़ी प्रसन्नता से सौ रुपये का नोट झोली में डाल दिया। निहाल सिंह ने दान सुनाते हुए एक चुटकला छोड़ा – "ईश्वर करे, हमारे प्रधानों के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हों, जिससे नित्य दान मिले। वातावरण प्रसन्नता के अट्टाहास से गूंज उठा।

वार्षिकोत्सव के पीछे अभी वे दो दिन ही ठहरने पाये थे कि सूचना मिली की परीक्षार्थियों के आग्रह पर परीक्षा दो मास आगे जा रही है, अब चौथी बार कैसे होगी, यही चिन्ता मुंशीराम को सता रही थी । अब लाहौर रहने का कोई औचित्य नहीं रहा, अतः वे दिसम्बर के आरम्भ में ही जालन्धर लौट आए। जालन्धर आकर आर्य समाज के द्वितीय वार्षिकोत्सव की तैयारी में लग गए। अच्छे उपदेशक के लिए लाहौर आर्य समाज को लिखा। वहाँ से टका सा उत्तर मिला। मुंशीराम ने अपने प्रयास से काली बाबू को आने के लिए मना लिया। अच्छे उपदेशक के अभाव में काली बाबू, मुंशीराम और देवराज ने उत्सव को यथाशक्ति सम्पन्न किया किन्तु मुंशीराम काली बाबू के आर्य सिद्धान्तों की आधी–अधूरी जानकारी से दुःखी हुए।

पंजाब में तत्कालीन आर्यसमाजियों की सदस्य संख्या तो अवश्य बढ़ रही थी, परन्तु आर्य सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण का स्वभाव नहीं बन पाया था। इस बात की जानकारी हमें मुंशीराम की लेखनी से मिलतीहै। जब वे 17 जनवरी, 1888 ई. को चौथी बार वकालत की परीक्षा देने लाहौर गए तो मार्ग में गुरदासपुर आर्य समाज के उत्सव के लिए ठहर गए। इस समाज के विषय में अपनी सम्मति देते हुए उन्होंने लिखा कि "इस समाज की दशा बड़ी शोचनीय है। सब अधिकारी हैं तो धनाढ्य, किन्तु सब शराबी, कबाबी और शिकारी हैं। इसलिए समाज की सेवा करने के स्थान में वे उल्टे हानिकारक हो रहे हैं[16]"। इस हानि को पहुँचाने में थोड़ा बहुत हाथ हमारे आर्यसमाजी नेताओं का भी था। जब फरवरी में आरम्भ होने वाली परीक्षा देने के लिए लाहौर पहुँचे तो वहाँ लाला साईदास से मिले और उपदेशक काली बाबू की शिकायत करते हुए कहा कि उन्हें आर्य सिद्धान्तों की जानकारी के लिए सत्यार्थ प्रकाश पढ़ने को कहा जाए। काली बाबू का उत्तर विचित्र होते हुए भी सत्यता से युक्त था। उन्होंने कहा – "लाला जी मुझे कैसे कह सकते हैं ? इन्होंने तो मुझे भाई तारु सिंह और बाघ सिंह व धोल सिंह की कहानियाँ सुनाकर आर्य समाजी बनाया था। तुम्हारी जो मर्जी आवे कहो[17]।"

चिरंजीव के वकील

इस बार की वकालत की परीक्षा में उत्तर अच्छे लिखे थे और परिणाम भी अच्छा ही निकला। अब मुंशीराम पूरे वकील थे। उन्होंने जालन्धर में वकीलों और अन्य अंग्रेजी पढ़े–लिखों की एक डिबेटिंग सोसायटी (वाग्वर्धिनी सभा) खुलवायी, जिसका मन्त्री उन्हीं को चुना गया। यह सभा कुछ दिन चलकर समाप्त हो गई। आर्य समाज के सम्बन्ध में सन् 1888 ई. के मार्च के मास में एक घटना ऐसी हुई जिसकी वकालत मुंशीराम को करनी पड़ी। लुधियाने का चिरंजीव नामक एक बाँका पहलवान था। वह आर्य समाजी होकर बैतुल बाजी (कवित्त) किया करता था। वह प्रचार में राहु–केतु आदि की पूजा का खण्डन किया करता था। एक दिन किसी ब्राह्मण ने ग्रहों की शान्ति के लिए यजमान से प्राप्त दान को सामने किया और कहा – यदि हिम्मत है तो ले ले। चिरंजीव ने अंगोछे में बंधे चावल–नकदी सब ले लिये और चलता बना। ब्राह्मण हक्का–बक्का रह गया। ब्राह्मण ने लक्ष्मीनारायण के यहाँ दावा दायर कर दिया। वे ब्राह्मण थे। चिरंजीव को कैद का दण्ड मिला। उसी समय एक आदमी मुंशीराम के पास भेजा गया। उन दिनों लुधियाने की अपीलें जालन्धर सेशन जज के यहाँ होती थीं। उन्होंने अपील दायर की और चिरंजीव बरी हो गया। चिरंजीव अपनी बैतुल बाजी द्वारा समा बाँधकर लोगों की भीड़ लगा कर मुंशीराम के भाषणों में सहायता करने लगा।

राजनीति में प्रवेश :

सन् 1888 ई. में मुंशीराम के जीवन में एक परिवर्तन आया। अब तक का उनका जीवन आर्यसमाज के लिए समर्पित था। परन्तु उपर्युक्त वर्ष में उनका सम्बन्ध कांग्रेस पार्टी से आरम्भ हो गया और आगे चलकर एक ऐसा समय आया जबकि ये स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में इसमें आकण्ठ डूब गए। लाहौर के ट्रिब्यून के सहकारी सम्पादक काली बाबू आर्यसमाजी होने के साथ–साथ मुंशीराम के मित्र भी थें, काली बाबू को जालन्धर नगर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना का कार्य सौंपा गया। मुंशीराम ने उनकी सहायता के लिए अपने रिश्तेदार बालक राम को बुलाया। वे नगरपालिका के सदस्य और आनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे। उनके उद्योग से जालन्धर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना हो गई और मुंशीराम का उसका मन्त्री बना दिया गया। कार्यकारिणी की एक बैठक में मुंशीराम ने कांग्रेस के प्रचार के लिए स्वयंसेवकों का आह्वान किया। इस प्रस्ताव पर उनके साथियों ने व्यंगात्मक टिप्पणी करते हुए कहा – "महाशय जी, यह आर्य समाज नहीं है, जहाँ सदस्यों को केवल भावना के वशीभूत होकर अपने सांसारिक हितों की बलि के लिए कहा जाता है। इस टिप्पणी से मुंशीराम का मन खट्टा हो गया और उन्होंने मन्त्री पद से त्याग–पत्र दे दिया[18]।

जालन्धर में अपनी कमाई से कोठी बनाना

अब मुंशीराम पूर्ण रूप से अपने व्यवसाय और आर्य समाज के कार्यों में व्यस्त हो गए। 3 जून, 1888 ई. में उन्होंने अपनी विशाल कोठी की आधार शिला रखी, जिसको आगे चल कर सन् 1910 ई. में गुरुकुल के लिए दान में दे दिया। इस कोठी के विषय में विस्तृत विवरण देना अनिवार्य है, क्योंकि महात्मा मुंशीराम की आलोचना करने वाले व्यक्तियों ने उन पर आरोप लगाते हुए कहा था कि वकालत चलती नहीं थी, गुरुकुल में शाही ठाठ से रहते हैं। मुंशी ने त्याग ही क्या किया है ? नीच प्रवृत्ति के लोग जीवन दान को त्याग नही मानते, उनके लिए भौतिक वस्तुओं का त्याग ही प्रदर्शन की वस्तु है। कोठी क्या थी ? एक सामन्त के निवास से होड़ लेने वाली थी। कोठी का नक्शा किले के ढंग का बनाया गया था। सड़क की ओर जो दीवार थी, उसके दोनों कोनों पर गोलाई लिए हुए बुर्ज थे। दीवार के मध्य में बड़ा फाटक था। फाटक के अन्दर दाँई ओर अस्तबल था। अस्तबल में दो गाड़ियाँ, एक गाड़ी घोड़ा और एक सवारी का घोड़ा और प्रायः दो गौएँ रहती

थी। एक बन्द गाड़ी थी, जो उस समय का फैशन था।.......... फाटक के दूसरी ओर 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस और अखबार का कार्यालय था।..........: अस्तबल और प्रैस के बाद दूसरा बड़ा सर्वथा बन्द रहने वाला फाटक था, जिसमें एक खिड़की थी।........ फाटक के अन्दर एक छोटी सी बाँकी–वाटिका थी। वाटिका में एक कुआँ था। वाटिका में घास का मैदान, फलों के पेड़ और सब्जियों की क्यारियाँ थीं। घास के मैदान के चारों तरफ बहुत सुन्दर फुलवारी थी। फुलवारी से लगता हुआ एक लम्बा–चौड़ा पक्का चबूतरा था, जिसके पश्चात् तीन मुख्य कमरे थे, जिनमें एक बैठक, दूसरा दफ्तर और तीसरा शयनागार था। इन कमरों की सजावट बहुत बढ़िया थी। वाटिका से दूसरा रास्ता हवेली में जाता था, जिसकी दो ड्योढ़ियां थीं। अन्दर की ड्योढ़ी दाएँ–बाएँ दो ओर खुलती थी, दाएँ ओर की ड्योढ़ी रसोई घर में और बाँई ओर की हवेली में जाती थी। हवेली में चौकोर आंगन था, जिसके तीन ओर बड़े–बड़े कमरों की पंक्तियाँ थी। प्रत्येक पंक्ति में पाँच–पाँच कमरे थे[19]।"

अछरुमल की धमकी

सन् 1888 ई. को मुंशीराम वैदिक धर्म के प्रचार के लिए कपूरथला जाते दिखाई पड़ते हैं। वहाँ उन्होंने 'मूर्तिपूजा' विषय पर पोल्होमल से शास्त्रार्थ किया। कपूरथला में वैदिक धर्म के प्रचार के भारी विरोधी अकाउन्टटैन्ट जनरल मिश्र अछरुमल थे। यदि उनके मकान की दीवार पर कोई आर्य समाज के अधिवेशन का विज्ञापन लगाने जाता, तो उसे वे मार क़र भगा देते थे। यदि कोई आँख बचा कर लगा भी जाता, तो उसे धुलवा डालते थे। मुंशीराम से इनकी टकराहट का समय भी आया। मुंशीराम 2 अगस्त को एक आर्य भाई की माता के देहान्त पर उसका अन्त्येष्टि संस्कार करवाने कपूरथला गए। अछरुमल ने बड़ा विरोध किया। इस संस्कार का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। इस बार दीवान अछरुमल ने कहला भेजा – अबके तो मौत के कारण छोड़ दिया, फिर आवेंगे तो कैद करा दूँगा। इस चुनौती को सुनकर मुंशीराम अनेक बार कपूरथला गए, किन्तु दीवान साहेब की धमकी कार्य रूप में कभी परिणत नहीं होने पाई।

कन्या-पाठशाला खोलना

सितम्बर, 1889 में ये तलवन में कुछ अवधि के लिए चले गए। वहाँ उन्होंने एक कन्या पाठशाला खुलवाई, किन्तु अध्यापिका की अयोग्यता के कारण जालन्धर आते समय उसको बन्द करना पड़ा। तलवन की कन्या पाठशाला तो बन्द हो गई, लेकिन कन्याओं की पढ़ाई का विचार मन को कुरेदता रहा। इंस कुरेदना को लाडो माई की हरकत ने और भी गम्भीर बना डाला। उस समय जालन्धर में एक पहाड़ी वृद्धा रहती थी जिसे सभी "लाडो माई" कहते थे। इसी ने जालन्धर शहर की हिन्दू महिलाओं को देवनागरी अक्षरों की टूटी–फूटी शिक्षा दी थी। मुंशीराम की धर्मपत्नी तक ने इससे कुछ पढ़ा था। 'लाडो माई' को विशेष प्रलोभन देकर ईसाइयों ने अपनी पुत्री पाठशाला में रख लिया था। यह माई अपने सम्बन्धों के कारण हिन्दू लड़कियों को शनैःशनैः.ईसाई पाठशाला में ले जाने लगी। मुंशीराम की लड़की भी इसी पाठशाला में पढ़ने लगी। एक दिन कचहरी से लौटे पिता को लड़की ने पाठशाला में गाया जाने वाला यह भजन सुनाया–

"इक बार ईसा-ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल।

ईसा तेरा राम रमैया, ईसा तेरा कृष्ण कन्हैया।।"

इस भजन को सुन कर मुंशीराम सन्न रह गए। शनैःशनैः लड़की को कुरेदा तो पता चला कि वैदिक ग्रन्थों की निन्दा करनी भी सिखाई जाती है। ईसाइयों द्वारा अबोध बालिकाओं की 'मस्तिष्क धोवन' को देखकर आर्य समाज की पुत्री पाठशाला आरम्भ करने का विचार कौंधा। इस विचार को

हवा देने में बख्शी सोहन लाल वकील भी पीछे नहीं रहे, क्योंकि उनकी लड़की भी 'ईसा ईसा बोल' का भजन गाती थी और उसी स्कूल की छात्रा थी। फिर देरी किस बात की थी, रातों–रात बैठकर एक अपील लिखी और चन्दा लिखना आरम्भ कर दिया। इस अपील को लोगों तक पहुँचाने के लिए 3 नवम्बर, 1888 ई. को अपनी कोठी पर स्वामी दयानन्द निर्वाण दिवस के दिन एक वृहद् यज्ञ करवाया और कन्या पाठशाला के लिए अपील की। कन्या पाठशाला का विचार लोकप्रिय होता गया और देवराज जी ने इसे सिरे चढ़ाने का संकल्प ले लिया। मुंशीराम को व्यस्त रहने का एक कार्य मिल गया। स्कूल का यही पौधा आगे चलकर 'कन्या महाविद्यालय' जालन्धर के नाम से उत्तर भारत में लड़कियों की शिक्षा का सिरमौर बन गया। ऋषि दयानन्द का 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का संकल्प पूरा हुआ।

सन्यासियों के विषय में संशय की निवृत्ति

उन दिनों आर्य समाज लाहौर वैदिक धर्मियों के लिए तीर्थ स्थान के समान था। इस तीर्थ स्थान के धार्मिकोत्सवों पर जाना प्रत्येक आर्य समाजी अपना कर्त्तव्य समझता था। नवम्बर, 1888 ई. में हुए लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर जालन्धरियों की टोली के साथ मुंशीराम सम्मिलित हुए। इस उत्सव पर पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान ने इनको इतना प्रभावित किया कि हुक्का पीना छोड़ दिया। हुक्का छोड़ने से शरीर की सुस्ती जाती रही और भूख भी खुल कर लगने लगी।

इसके बाद दिसम्बर, 1888 ई. में जालन्धर आर्य समाज का तीसरा वार्षिकोत्सव मनाया गया। इस वार्षिकोत्सव पर लाला सांईदास, महात्मा हंसराज और गुरुदत्त सहित लगभग 40 आर्यजन लाहौर से मण्डली बनाकर पधारे। लाहौर के शीर्षस्थ नेताओं के मण्डली सहित पधारने से यह स्पष्ट हो गया कि जालन्धर आर्य समाज भी लाहौर के समान शक्तिशाली समाज है। मुंशीराम के मन में अनेक महीनों से यह बात घूम रही थी कि क्या आर्यसमाजी सन्यासियों का सन्ध्या–अग्निहोत्र में सम्मिलित होना उचित है। इस उत्सवपर उन्होंने पण्डित गुरुदत्त के सम्मुख यह संशय उपस्थित किया। गुरुदत्त ने उत्तर में कहा "जो सन्यासी महात्मा, योगी हैं और सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त हैं, अल्पाहारी तथा उच्चकोटि के साधन–सम्पन्न हैं, उनके लिए इन बन्धनों से सर्वथा मुक्ति का विधान है। किन्तु जो सन्यासी रात–दिन गृहस्थों की सेवा में लगे हुए सब प्रकार के भोजन–छादन में फँसे हुए हैं, उन्हें दो काल संध्या तथा अग्निहोत्र करना ही उचित है[20]।" गुरुदत्त की यह व्याख्या कितनी सिद्धान्तानुकूल है और कितनी उनकी व्यावहारिक बुद्धि की उपज है, इस विषय में यह कहना उचित है कि इससे मुंशीराम के संशय की निवृत्ति हो गई । इसी उत्सव पर अंग्रेजी उपन्यास के पठन को सदा के लिए नमस्ते कर दी।

सद्धर्म प्रचारक पत्र का आरम्भ

मुंशीराम में कॉलेज जीवन से ही लिखने की प्रतिभा थी। लेकिन वकालत और आर्य समाज के प्रचार के कारण लेखनी की अपेक्षा वाणी की विदग्धता ही जोरदार हो गई थी। वाणी को भी स्थायित्व के लिए निज रूप की आवश्यकता होती है, यह सोचकर 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू साप्ताहिक पत्र निकालने की सोची। पच्चीस–पच्चीस रुपये के सोलह हिस्सेदार बना कर, एक वैशाख, 1947 को पहला अंक निकाल दिया। अब मुंशीराम के पास वाणी और लेखनी दोनों के साधन आर्य समाज के प्रचार के लिए उपलब्ध थे। इस प्रकार 1888–89 की अल्पावधि में उपर्युक्त दोनों कार्य आरम्भ करके अपने कार्य क्षेत्र को विस्तृत कर लिया। 1886–87 की अवधि में उपजी निराशा और खिन्नता को इन योजनाओं ने दूर कर दिया और उनके जीवन में नवीनता का उदय हुआ। नवीनता के लाने में गुरुदत्त का हाथ भी कम नहीं था। एक दिन गुरुदत्त ने मुंशीराम से पूछा – क्या वकालत करते

हुए मनुष्य ईमानदार रह सकता है ? मुंशीराम का स्पष्ट उत्तर था – ऐसा होना सम्भव नही। इसी व्यवसाय के अपनाने के कारण एक बार गुरुदत्त ने लाला लाजपतराय का अवमूल्यन भी किया था। अतः वे अपने अनुयायी रामभजदत्त से कह उठे – वकील मत बनना। यह बात कही तो गई थी रामभजदत्त को, लेकिन वह मुंशीराम को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकी। इसके अतिरिक्त गुरुदत्त की संगति से पूर्व तक मुंशीराम की दृष्टि में मांस भक्षण केवल व्यक्तिगत रुचि और आदत का ही एक अंग था, परन्तु इस संगति के बाद उनके लिए यह आर्य समाज के मन्तव्यों का प्रश्न बन गया। मांस भक्षण का विषय ही मुख्य रूप से आगे चलकर आर्यसमाज में दो दल बनाने का मूल कारण बना।

उपदेशक कक्षा खोलने का विवाद

मुंशीराम अपनी लग्न और परिश्रम के कारण शीघ्र ही आर्यसमाज में एक शक्ति के रूप में उभर कर आए। उनके आर्यसमाज में बढ़ते हुए प्रभाव के समय में ही पंजाब आर्यसमाज में विचार भिन्नता के कारण ऐसा वातावरण बना जो कि 1893 ई. के आर्यसमाज विभाजन के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

विभाजन से बहुत पहिले जालन्धर में 'द्वाबा उपदेशक मण्डली' खोलने का विचार पक्का हो चुका था। तभी जालन्धर में साधु पूर्णानन्द नामक व्यक्ति आए। इस व्यक्ति को स्वामी रामानन्द ने आर्य समाज में दीक्षित किया था। रामानन्द और पूर्णानन्द उपदेशक पाठशाला खोलना चाहते थे। इसके लिए मुंशीराम से सहायता माँगी। उन्होंने सुझाव दिया कि उपदेशक पाठशाला के लिए काशी की अपेक्षा लाहौर अत्यधिक उपयोगी स्थान रहेगा, जहाँ दयानन्द कॉलेज से भी अच्छी सहायता मिल जाएगी। लाहौर जाकर इन दोनों साधुओं ने पण्डित गुरुदत्त तथा अन्य लोगों से परामर्श किया। गुरुदत्त को योजना पसन्द आई और धन की अपील पर हस्ताक्षर कर दिए। परन्तु जब उपदेशक–क्लास खोलने का आन्दोलन खड़ा हुआ, तो उस समय पूर्णानन्द स्वयं पढ़ने के लिए कपूरथला चले गए और सारा बखेड़ा मुंशीराम के गले पड़ गया। उन दिनों पण्डित गुरुदत्त लाहौर की आर्य सामाजिक व्यवस्था से अप्रसन्न थे। अप्रसन्नता के दो कारण थे –.एक दयानन्द कॉलेज छात्रावास में मांस का भोजनालय होना और दूसरा मांस भक्षण के पक्षपाती राय मूलराज का आर्य समाज में नेतृत्व होना। दयानन्द कॉलेज की प्रबन्ध समिति में मूलराज की तूती बोलती थी। मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' में उस समय यह लिख दिया कि जब तक दयानन्द कॉलेज कमेटी उपदेशक कक्षा को अपने अधीन खोलना स्वीकार न करे तब तक इस कार्य के लिए धन पण्डित गुरुदत्त के नाम भेजा जाए। इस अपील से मूलराज के अनुयायी यह सोचने लगे कि डी.ए.वी. कमेटी के समानान्तर गुरुदत्त को खड़ा किया जा रहा है। मुंशीराम गुरुदत्त के पक्ष में थे। अतः उन्होंने मूलराज के अनुयायियों के आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर दिया। 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रथम तीन वर्ष के अंक इसकी गवाही देते हैं।

प्रियजनों की दुःखद मृत्यु

आगे आने वाले कुछ वर्ष मुंशीराम के लिए कष्टदायक सिद्ध हुए। इन वर्षों में भगवान ने उनके हाथों से उनके पथप्रदर्शकों एवं प्रियजनों को सदा के लिए छीन लिया। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, तथापि बड़े से बड़े विद्वान को भी प्रियजनों की मृत्यु पर शोक होता ही है। मुंशीराम इसके अपवाद नहीं थे। गुरुदत्त को क्षय रोग ने आ घेरा। उनकी सेवा–शुश्रुषा में सम्वत् 1946 बीत गया।

उपदेशक कक्षा के विवाद के समय में ही मुंशीराम जी के साले बालक राम बीमार हो गए। इन्हीं के सहयोग से मुंशीराम ने जालन्धर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना करवाई थी। थोड़े

दिन बीमार रह कर इनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय उनके पिता घर पर नहीं थे और सबसे छोटे भाई पिताजी के साथ गए हुए थे। दूसरे भाई भक्तराम इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी की तैयारी कर रहे थे। घर में केवल देवराज ही थे। इस परिस्थिति में मुंशीराम को देवराज के पास रहना पड़ा। तीसरी रात को मुंशीराम के पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। अनेक औषधियाँ देने पर भी जब दर्द दूर नहीं हुआ तब उपस्थित वैद्य ने चिलम में कुछ रख कर दम लगवाया, जिससे पीड़ा दूर हो गई। फिर दो वर्षों तक हुक्का पीते रहे। इसके बाद इस व्यवसन से सदा के लिए मुक्ति पाई।

हरिद्वार की यात्रा

बालक राम की मृत्यु ने मुंशीराम की पत्नी को बहुत उदास कर दिया। पत्नी के उदास मन को प्रसन्न रखने की इच्छा से हरिद्वार की यात्रा का विचार बनाया। सितम्बर, 1889 ई. में मेह बरसते में हरिद्वार पहुँचे। वहाँ पण्डा जी ने उस स्थिति में भी आ घेरा जबकि उसको स्पष्ट बता दिया था कि वे आर्य समाजी हैं। 'पण्डा पुराण' को समझ पाना प्रत्येक व्यक्ति के बस की बात नही। नित्य घर से बाँस का अचार और दही लाकर देने लगा। इससे उसने आत्मीयता स्थापित की। चलते समय मुंशीराम ने पाँच का नोट थमा दिया। मुंशीराम ने सोचा पाँच दिन की सेवा में पाँच रुपये प्राप्त करके पण्डा टोटे में रहा होगा। परन्तु पण्डा पंजाबी वकील मुंशी राम के भी कान कतर गया। उसने वकील के मुंशी की तरह अपने दाँव-पेंच से पाँच रुपये मुंशीराम की धर्मपत्नी से प्राप्त कर लिए। जाते समय पण्डा ने आग्रह किया कि बही में यहाँ के आगमन के विषय में कुछ तो लिख दीजिए। मुंशीराम ने व्यंग्यात्मक मुस्कराहट चेहरे पर लाकर लिख दिया – "हरिद्वार में सैर के लिये आया, यदि यहाँ पण्डे और बन्दर न हों, तो स्थान बड़ा रमणीक और निवास के योग्य है[21]।

हरिद्वार से वापिसी पर मुंशीराम मेरठ ठहरे और 8 सितम्बर को आर्य समाज मन्दिर में 'अमर जीवन' पर उपदेश दिया। वहाँ से भाई से मिलने बहादुरगढ़ चले गए, जो कि थानेदार लगा हुआ था। इस प्रकार हरिद्वार की यात्रा सम्पन्न हुई।

मुंशीराम पर आक्रमण

उस समय पंजाब का धार्मिक वातावरण गर्माया हुआ था। एक तरफ आर्य समाज का घरेलू विवाद आरम्भ हो चुका था, तो दूसरी तरफ सनातन धर्म के साथ धार्मिक प्रतियोगिता में खण्डन-मण्डन का नाद गूँज रहा था। सनातन धर्म अपने सिद्धान्तों के अस्तित्व के लिए चिन्तित था, तो आर्य समाज अपनी सदस्य संख्या बढ़ाने के लिए आतुर था। दोनों में वाग्‌युद्ध चल रहा था। धर्म प्रचार में हिंसा का आश्रय लेकर भयभीत करना अभी आरम्भ नहीं हुआ था। सर्वप्रथम सनातनियों ने कपूरथला में हिंसा द्वारा धर्म प्रचारकों को भयभीत करने का प्रयास किया। हिंसा का यह प्रयोग सामान्य आर्यसमाजी प्रचारक पर न करके मुंशीराम पर ही किया गया। 1,2,3 नवम्बर, 1889 में कपूरथला में स्वामी पूर्णानन्द ने पौराणिक मत के खण्डन में भाषण दिए और प्रचार के लिए मुंशीराम को शीघ्र पहुँचने के लिए लिखा। मुंशीराम 3 नवम्बर को कपूरथला पहुँच गए। कपूरथला जाने में उनका विशेष उद्देश्य अछरुमल द्वारा दी गई वह चुनौती भी थी, जिसमें उन्होंने भविष्य में आने पर गिरफ्तार कराने की धमकी दी थी। मुंशीराम के व्याख्यान के समय कुछ दंगाई प्रकार के व्यक्ति व्याख्यान के समीप एक छत पर बैठ गए। उनमें से एक ने पक्की ईंट उनके सिर को निशाना बनाकर मारी (सौभाग्य से मुंशीराम दूसरी ओर अचानक मुड़ करके बोलने लगें। निशाना चूक गया। मारने वाले से बचाने वाला प्रबल निकला। अछरुमल की धमकी तो धमकी ही रही।

स्वामी पूर्णानन्द जालन्धर आ गए और संस्कृत पढ़ाना आरम्भ कर दिया। मुंशीराम और देवराज आदि इनके शिष्य बने। पढ़ने वालों में सुकेत के राजकुमार भी थे। मुंशीराम ने संस्कृत में काफी

योग्यता प्राप्त कर ली थी। एक भाषण में जब मुंशीराम संस्कृत उद्धरणें को बहुतायत से कह रहे थे, तो लाला लाजपतराय ने आश्चर्य में पड़कर पूछा था कि इतनी संस्कृत कब सीख गए?

19 मार्च, 1890 ई. को पण्डित गुरुदत्त का देहान्त हो गया। पं. गुरुदत्त मुंशीराम के लिए एक प्रेरणा थे और उनके दिव्य आत्मिक ज्ञान के चक्षु थे। मुंशीराम गुरुदत्त की मृत्यु के शोक से उभर भी नहीं पाए थे कि 13 जून, 1890 ई. को पंजाब आर्य समाज के देदीप्यमान नक्षत्र सांईदास इस संसार से विदा हो गए। गुरुदत्त एवं सांईदास की मृत्यु से मुंशीराम का लाहौर के साथ इतना लगाव नहीं रहा, जितना पूर्व में था। गुरुदत्त की मृत्यु के उपरान्त मुंशीराम के ही कन्धों पर गुरुदत्त के विचारों एवं मन्तव्यों के प्रचार और प्रसार का दायित्व आ गया। अब मुंशीराम गुरुदत्त धड़े के अग्रणी व्यक्ति थे। मुंशीराम के जीवन के अगले कार्यकलापों का वर्णन करने से पूर्व हम पंजाब के आर्य समाज में घरेलू विवाद के कारणों पर प्रकाश डालना उपर्युक्त समझते हैं, जिससे मुंशीराम की भूमिका को स्पष्टतया समझा जा सके।

पंजाब आर्य समाज में घरेलु विवाद

ऋषि दयानन्द की मृत्यु के उपरान्त देश भर में स्थान–स्थान पर शोक समायें हुई। ऐसी ही एक शोक सभा लाहौर में भी हुई, जिसमें ऋषि के आदर्शों के अनुकूल एक स्मारक बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। 6 नवम्बर, 1883 को लाहौर आर्य समाज ने अपनी अन्तरंग सभा में स्वामी दयानन्द की स्मृति में डी.ए.वी. स्कूल स्थापित करने का प्रस्ताव पारित कर दिया। इसके तुरन्त बाद ही 23 दिसम्बर, 1883 ई. में कॉलेज के लिए पहली अपील प्रसारित की गई। स्कूल ठीक प्रकार से चल निकला। 31 जनवरी, 1886 ई. को आर्य समाज लाहौर के निमन्त्रण पर पंजाब के प्रमुख आर्य समाजी एकत्रित हुए। सारी स्थिति पर विचार करने के बाद दयानन्द कॉलेज प्रबन्धक सभा तथा ट्रस्ट सोसायटी का औपचारिक रूप में गठन कर लिया गया। इसके बाद 27 अगस्त, 1886 ई. को दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज सोसायटी की रजिस्ट्री करवा दी गई। रजिस्ट्री में सोसायटी के उद्देश्यों में लिखा गया था[22] कि –

1. (क) हिन्दी साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित और प्रचलित करना। (ख) प्राचीन संस्कृत और वेद के अध्ययन को उत्साहित और प्रचलित करना। (ग) अंग्रेजी साहित्य, सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक विज्ञान की शिक्षा उत्साहित और प्रचलित करना।

2. दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज संस्था के साथ तकनीकी शिक्षा देने के साधनों को प्रदान करना जहाँ तक वे प्रथम उद्देश्य की पूर्ति में बाधक न हों।

इस प्रकार यह संस्था पूर्व और पश्चिम के शैक्षिक क्षेत्र में समन्वय को स्थापित करने के लिए सेतु के रूप में आरम्भ हुई थी। इसमें कहीं पर भी आर्य समाज के लिए उपदेशक तैयार करने का संकल्प नहीं है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि धनोपार्जन के लिए अपील तो ऋषि दयानन्द, वेद, संस्कृत, ब्रह्मचर्य और आर्य समाज के प्रचार के नाम पर ही होती थी। लोग भी दान एंग्लो की अपेक्षा वैदिक शब्द से आकृष्ट होकर ही देते थे। इसी वैदिक शब्द पर गुरुदत्त ने अपना जीवन समर्पित करने का विचार बनाया था। परन्तु इसे आर्य समाज का दुर्भाग्य ही कहिये कि 'वैदिक' को लेकर पंजाब आर्य समाज में घरेलु युद्ध आरम्भ हो गया। इस घरेलु युद्ध के चार प्रमुख कारण कहे जा सकते हैं। प्रथम और आरम्भिक कारण 1889 ई. में नियमित रूप से आरम्भ होने वाले कॉलेज की नीतियों के विषय में था। गुरुदत्त के नेतृत्व में एक आवाज उठी कि कॉलेज ने स्वामी दयानन्द के सन्देश को भुलाना आरम्भ कर दिया है। आर्षपाठ विधि के स्थान पर सरकारी नौकरियों के लिए शिक्षा पर बल दिया जा रहा है। इस प्रकार यह विवाद

रजिस्ट्री में लिखे प्रथम उद्देश्य की धारा (क) से सम्बन्ध रखता है। गुरुदत्त के नेतृत्व में यह आवाज भी उठी कि कॉलेज का कार्य आर्य समाज के लिए धार्मिक क्षेत्र में प्रचारक तैयार करना है। गुरुदत्त की इस मांग का उद्देश्यों में कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके बाद 'मांस भक्षण' का विषय घरेलु युद्ध का दूसरा महत्वपूर्ण कारण बना। यही कारण आगे चलकर दो फाड़ होने का प्रमुख कारण माना जाने लगा। 'मांस भक्षण' के विषय में तर्क भावनाओं के आगे झुकते दिखाई पड़ते है। और सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यक्तियों को निशाना बनाना आरम्भ हो गया। लाला सांईदास और महात्मा हंसराज के विषय में तरह–तरह की बातें कही जाने लगीं। हंसराज के भाई मूलराज ने तो स्पष्ट रूप में मंचों से 'मांस भक्षण' के पक्ष में भाषण देने आरम्भ कर दिए। विवाद का तीसरा विषय 'नारी शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। घरेलू विवाद में यह विषय बाद में जुड़ा इसको इतना महत्वपूर्ण नहीं माना गया। चौथा विषय 'प्रचार' से सम्बन्धित था। धार्मिक वृत्ति से बँधे हुए कॉलेज–विरोधियों की यह मांग थी कि धर्म प्रचारकों के प्रशिक्षण के लिए आर्थिक सहायता दें।

उपर्युक्त मतभेदों के अतिरिक्त तीन बातें और भी थीं, जिनसे आर्य समाज के दो दलों में विभक्त होने में मदद मिली। प्रथम बात यह थी कि डी.ए.वी प्रबन्ध समिति ने कॉलेज खोलकर लाला हंसराज को उसका प्रिंसिपल लगा दिया, जबकि मुंशीराम आदि इस पद के लिए गुरुदत्त को अधिक योग्य समझते थे। क्योंकि गुरुदत्त की शैक्षिक योग्यता एवं संस्कृत भाषा का ज्ञान हंसराज से अधिक था। इसके अतिरिक्त गुरुदत्त ने सबसे अधिक बढ़कर डी.ए.वी. कॉलेज के लिए चन्दा भी किया था। इससे गुरुदत्त के अनुयायी बड़े निराश हुए। दूसरा आघात भी शीघ्र ही इन लोगों को सहना पड़ा। गुरुदत्त ने कॉलेज प्रबन्धक कमेटी में 'संस्कृत पुस्तकालय' खोलने के लिए पाँच सौ रुपये के अनुदान की माँग का प्रस्ताव भेजा। इस प्रस्ताव को भी प्रबन्ध समिति ने अस्वीकार कर दिया। तीसरी बार उनको उस समय निराशा हुई जब कि गुरुदत्त का प्रस्ताव जिसमें स्कूल और कालेज में 'अष्टाध्यायी' पढ़ाने की माँग थी, अस्वीकार हो गया। संस्कृत पुस्तकालय और अष्याध्यायी के प्रस्ताव का विरोध महात्मा हंसराज ने ही किया था।

निराश होकर बैठ जाना मुंशीराम ने कभी सीखा ही नहीं था। अतः शीघ्र अपनी विचारधारा के लोगों को एकत्रित किया और डी.ए.वी. कमेटी के प्रभाव से मुक्त स्वतन्त्र 'प्रचार मण्डल' स्थापित करने का प्रस्ताव रखा इस उद्देश्य के लिए एक समिति बनाई और इसका प्रधान मुंशीराम को बनाया। पंजाब के आर्य समाजी इस कार्य से चौंके। यह स्पष्टतः डी.ए.वी. कॉलेज कमेटी को चुनौती थी।

परन्तु यह आर्य समाज का दुर्भाग्य था कि डी.ए.वी. समिति को चुनौती देने वाले गुरुदत्त की 19 मार्च, 1890 को मृत्यु हो गई। आर्य समाज का एक देदीप्यमान नक्षत्र अस्त हो गया। मुंशीराम का पथ प्रदर्शक चल बसा। पंजाब ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के आर्यसमाजी विद्वानों में गुरुदत्त अकेला ही ऐसा लेखक था, जिसने अंग्रेजी माध्यम से वैदिक सिद्धान्तों पर लिख कर विदेशी विद्वानों का ध्यान आर्य समाज की ओर खींचा था। इसके प्रमाण में 'वैदिक मैग्जीन' नामक पत्रिका के वे तीन अंक हैं, जिन्होंने वैदिक विचारों की धूम विश्व में मचा दी थी।

मुंशीराम ने जहाँ गुरुदत्त को खो दिया वहाँ लेखराम के रुप में अन्य साथी मिल गया। लेखराम के साथ मिलकर मुंशीराम ने पंजाब के क्षेत्र में आर्य समाज की धूम मचा दी। सन् 1890 ई. में जालन्धर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर द्वाबा गुरदासपुर उपप्रतिनिधि सभा के नियम स्वीकार किए गए। इस सभा का प्रधान मुंशीराम को बनाया गया।

मियाँ शिव सिंह का मुकदमा और सुकेत यात्रा

सुकेत पंजाब के पहाड़ों में एक छोटी सी रियासत थी। उसके राजा दुष्ट निकन्दन सेन

ने अपने चाचा मियाँ शिवसिंह के घर को लूट कर रियासत से निकाल दिया था। निष्कासन के बाद वे जालन्धर में रह रहे थे। उन्होंने राजा पर एक लाख का दावा किया हुआ था राजा साहेब ने वाद की समाप्ति के लिए कमिश्नर साहेब को निर्णायक मान लिया। इस सम्बन्ध में जब मियाँ शिवसिंह सुकेत गए तो उन्होंने मुंशीराम को अपनी ओर से वकील नियत करके तार द्वारा उन्हें सुकेत बुला लिया। मुंशीराम ने इस वाद को निबटाने में पूरी शक्ति लगा दी। और उन्हें सफलता भी मिली। सुकेत से आकर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए हरिद्वार में कुम्भ मेले के लिए चल पड़े।

कुम्भ के अवसर पर वैदिक सन्यासी मण्डल

हरिद्वार में आर्य सन्यासियों से 'वैदिक सन्यासी मण्डल' की स्थापना के सम्बन्ध में चर्चा चली। निश्चय हुआ कि कुम्भ की समाप्ति पर सन्यासी मुंशीराम के निवास (जालन्धर) पर एकत्र होकर इस योजना को सिरे चढ़ाने का प्रयास करेंगे। इस निर्णय के अनुसार कुम्भ की समाप्ति पर आर्य सन्यासी जालन्धर इकट्ठे हुए। सन्यासियों की 'अहं अहमिका' के कारण वातावारण में खटास हो गयी। इसी खटास को मुंशीराम ने इस प्रकार वर्णित किया है – "कुम्भ की समाप्ति पर सब सन्यासी – महात्मा मेरे गृह पर जमा हुए। स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द सभी महाशयो के व्याख्यान हुए। परन्तु जब एक म्यान में दो तलवार का ठहरना कठिन है तो एक स्थान में इतने वीतराग सन्यासियों का शान्ति से ठहराना कैसे सम्भव हो सकता था ? स्वामी पूर्णानन्द तो काशी पढ़ने के लिए चले गए, स्वामी आत्मानन्द को अपने व्याख्यानों की प्रशंसा की चिन्ता हुई। इस प्रकार यह मण्डल उस समय छिन्न–भिन्न हो गया[23]।"

आर्ष ग्रन्थों की पढ़ाई और डी.ए.वी. प्रबन्धक समिति का इन्कार

गुरुदत्त की मृत्यु के उपरान्त मुंशीराम का यह प्रयत्न रहा कि आर्षग्रन्थों के पठन पाठन के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध होना चाहिए। सन् 1891 ई. के मई मास में डी.ए.वी. का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के विचारणीय विषयों में से एक विषय 'आर्षग्रन्थों' की पढ़ाई की व्यवस्था सम्बन्धी भी था। इस प्रस्ताव के पक्ष में मुंशीराम ने पूरा जोर लगाया। लेकिन अधिवेशन में इस प्रस्ताव के विरुद्ध ऐतिहासिक निर्णय ले लिया और युक्ति में कहा गया कि आर्षग्रन्थों की पृथक रूप में पढ़ाई कराने के लिए सोसायटी के उद्देश्य बदलने होंगे और इसलिए उक्त सोसायटी की रजिस्ट्री नाजायज हो जाएगी[24]। डी.ए.वी. प्रबन्धक समिति के तत्कालीन पदाधिकारियों की लचर दलील को मान्यता मिल गई। इस प्रकार मुंशीराम जैसे अनेक आर्यसमाजियों के मन में यह धारणा बैठ गई कि कॉलेज प्रबन्ध समिति के धनार्जन तो 'वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के ज्ञाता कॉलेज से निकलेंगे' इसके नाम पर कर रही है और माँग होने पर वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन की सुविधा को बहाने बना कर टाल रही है।

पत्नी की मृत्यु

भारतीय वाड्.मय में धर्मपत्नी सहधर्मिणी और अर्धांगिनी आदि शब्द एक ऐसे अटूट सम्बन्ध के परिचायक हैं, जिनके अर्थ इनके स्वरुप से ही प्रकट हो जाते हैं। इन शब्दों के लिए पृथक् व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती। छोटी सी आयु की जिस अबोध बालिका का हाथ अग्नि को साक्षी करके मुंशीराम ने पकड़ा था लगभग चालीस वर्षों की संगति ने उसे अटूट सम्बन्ध के रूप में दृढ़ कर दिया था। शिवदेवी ने भी अपने व्यवहार से मुंशीराम को मोहित कर लिया था। मुंशीराम ने भी अपनी तरफ सै उसके सुख–साधनों में कोई कमी नहीं आने दी थी। लेकिन संयोग की सीमा को कोई नहीं टाल सकता। मुंशीराम के शब्दों में "सहधर्मिणी के साथ मेरा शनैःशनैः अटूट सम्बन्ध हो चुका था। शिवदेवी जी

से कभी बिछुड़ने का ख्याल तक न आता था और उन्होंने 'वैदिक संस्कार विधि' का पाठ करके यह धारणा दृढ़ की थी कि पति से कभी वियोग न होना चाहिए[25]। यह तो मानव की अपनी सोच है। निरन्तर शक्ति का स्रोत बनी मुंशीराम की धर्मपत्नी पाँचवी सन्तान के जन्म के बाद अचानक सांघातिक रोग से बीमार हो गई। लड़की का जन्म होते ही देहान्त हो गया। मुंशीराम की परिवार सहित धर्मशाला नामक स्थान पर जाने की भावी योजना समाप्त हो गई। पत्नी को स्वस्थ करने के लिए जो कुछ उपचार किया जा सकता था, किया। काल के आगे किसी का वश न चला। वह स्वयं समझ गई थी कि अब न बच सकेगी। पुत्री वेद कुमारी से अपना कलमदान मँगवाया। पर्चे पर कुछ लिखा और कलमदान के नीचे के खाने में रख दिया। अन्तिम बार मुंशीराम ने दवाई पिलाई, मानो ऐसा करके वे भूमण्डल से विदाई लेते अपने प्रियजन को गंगा जल की घूंट पिला रहे हों। शिवरानी ने धीमे स्वर से अपनी माँ को कहा – "मुझसे बड़े अपराध हुए हैं..... जिनकी मुझे सेवा करनी थी, ये मेरी सेवा कर रहे हैं। पत्नी के भाई देवराज भी वहीं बैठे थे, बोल उठे – बीबी जी भजन सुनोगी। देवराज ने – 'प्रभु जी! भेंट धरुँ क्या मैं तेरे' पद गाया। होंठ हिले पर सुन न सकी। माता ने पूछा –'बच्चे किसके सुपुर्द कर चली हो ? उत्तर मिला – 'आप ही पल जाएँगे[26]। हालत गम्भीर होती गई। मुंशीराम ने नाड़ी हाथ में ली। शिवदेवी ने 'ओं' का स्पष्ट उच्चारण करके माता जी की गोद में प्राण त्याग दिए। जिस शान से पति द्वारा प्रथम पाणिग्रहण करने पर डोली में बैठ कर पतिगृह आई थी, उसी शान से जीवन के अन्तिम क्षणों में भी पति द्वारा नाड़ी पकड़वाकर सकल ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर के पास चली गई। परन्तु दोनों स्थितियों में एक महान् अन्तर था। एक में डोली कहारों के कन्धे पर थी, परन्तु दूसरी में अर्थी पति के कन्धे पर थी।

शिव देवी अपने पीछे वेद कुमारी 10 वर्ष, हेमन्त कुमारी 6 वर्ष, हरिश्चन्द्र 4 वर्ष और इन्द्र 2 वर्ष, नामक चार सन्तानें छोड़ गई थी। चार सन्तानों वाले चहकते घर में भी मुंशीराम को शून्य ही नजर आता था। इस शून्य को कागज के उस टुकड़े ने भर दिया जो मृत्यु से पूर्व कलमदान में रखा गया था। इस कागज के टुकड़े पर लिखा था – "बाबू जी ! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझ से अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जाएगी, परन्तु इन बच्चों को कभी मत भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो[27]।" इसको पढ़कर शून्यता के स्थान पर स्नेह उमड़ पड़ा। रात को सब बच्चों को सुलाकर एक घन्टे तक परमात्मा से बल प्राप्ति के लिए प्रार्थना की और व्रत धारण कियां कि बच्चों के लिए वे माता का स्थान भी पूरा करेंगे। पत्नी के मृत्यु संस्कार से संबन्धित सभी क्रियाओं के समाप्त होने पर मुंशीराम पुनः सक्रिय हो गए। मुंशीराम की सक्रियता के साथ–साथ सम्बन्धी और हितैषी भी दूसरे विवाह के प्रस्तावों को लेकर सक्रियता दिखाने लगे। दूसरे विवाह के लिए आयु से लेकर बच्चों के पालन–पोषण के तर्क उपस्थित किए जाने लगे। परन्तु मुंशीराम टस से मस नहीं हुए। मुंशीराम के दृढ़ निश्चय का संबल स्वामी दयानन्द और शिवदेवी थे। इस सम्बन्ध में मुंशीराम ने लिखा है "इसमें सन्देह नहीं कि, ऋषि दयानन्द के उपदेशों और वैदिक धर्म के आदेशों ने सम्बन्धित, मित्रों और हितचिन्तकों के सामने धरे प्रलोभनों से मुझे बचाया। परन्तु देवी के अन्तिम सन्देश ने मेरे अन्दर मातृभाव का संचार करके मुझे इस योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूँ। जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है[28]।"

क्या मृत्यु के उपरान्त मुंशीराम शिवदेवी को अपने हृदय से तुरन्त उतार सके ? नहीं, उन्होंने अपनी पत्नी की स्मृति को किसी न किसी रूप में बहुत देर तक सुरक्षित रखा। इस सम्बन्ध में इन्द्र का निम्न संस्करण उद्धरणीय है–

"एक सुन्दर सी सन्दूकची थी, जिसमें तरह-तरह के तेल और सुगन्धित पदार्थों की शीशियाँ रखी हुई थी। बहुत दिनों तक उस सन्दूकची को खोलने की हिम्मत नहीं हुई। हम चारों भाई बहनों में हरिश्चन्द्र ही साहसिक थे। हम लोगों का विचार था कि पिता के लाड़ले होने के कारण वे डरते भी नहीं थे। एक दिन बहुत सी मानसिक तैयारी के बाद हरिश्चन्द्र जी ने उस सन्दूकची को खोल ही डाला। हम लोग बड़ी उत्सुकता से देखने लगे कि अन्दर क्या है ? देखा कि उसमें भी छोटी-छोटी और सुन्दर रूपवाली रंग-बिरंगी शीशियाँ रखी हुई हैं, जिन में प्रत्येक में से जुदा-जुदा खुशबु आ रही है। इसी तरह की आकर्षक सामग्री से वह कमरा (मुंशीराम का शयन कक्ष) सजा हुआ था। परन्तु जहाँ तक मुझे याद है, उन दिनों में भी हम लोगों ने कभी भी पिता जी को सुगन्धित तेल लगाकर बाहर जाते नहीं देखा। मैं समझता हूँ कि वह सब सामग्री पिता जी के पूर्व जीवन का अवशेष थी, जिसे उन्होंने हमारी माता जी की स्मृति रुप में ही सुरक्षित रख छोड़ा था[20]।"

स्मृति के सहारे कब तक व्यक्ति निष्क्रिय रह सकता है। स्मृति तो एक शक्ति है जो इति-कर्त्तव्यता की ओर प्रेरित करती है। स्मृति तो शनैःशनैः लुप्त होकर मन के किसी कोने में दुबक कर बैठ जाती है। स्मृति को पीछे धकेल कर मुंशीराम ने पुनः आर्य समाज और वकालत के काम को करना आरम्भ कर दिया। और वे अपने चार वर्षीय पुत्र हरिश्चन्द्र को साथ लेकर धर्मशाला के आर्यसमाज के उत्सव में भाग लेने चले गए। वहाँ व्याख्यान देने के पश्चात् उन्होंने गोरखा पल्टन और पहाड़ों में रहने वाली गद्दी जाति के लोगों में धर्म प्रचार किया। वहाँ से लौटकर वकालत सम्भाली। घर-गृहस्थी की चिन्ता से मुंशीराम को मुक्त करने के लिए निःसन्तान बड़े भाई आत्माराम सपत्नीक जालन्धर की कोठी में आकर बैठ गए। अब मुंशीराम निश्चिन्त थे। ताऊ व ताई की स्नेहमयी छाया तले चारों बच्चे आनन्दपूर्वक रहने लगे। मुंशीराम की घर में उपस्थिति की सूचना तो 'खड़ाऊं' के शब्दों से ही होती थी। खड़ाऊं की आवाज से ही बच्चों को यह अनुभव होता था कि उनकी देखभाल करने वाला अन्य व्यक्ति भी घर में विद्यमान है। इन्हीं खड़ाऊं ने गुरुकुलीय जीवन में भी हरिश्चन्द्र और इन्द्र की सम्भाल रखी थी। खड़ाऊं की आवाज का अभिप्राय था, कोई प्रहरी है जो सबकी रक्षा का दायित्व लिए हुए है। अतः निश्चिन्त होकर कर्त्तव्य पथ पर बढ़े चलो।

पत्नी वियोग का दुःख मुंशीराम के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डाल गया और वे 1982 ई. के प्रारम्भ में एक विचित्र प्रकार के रोग से पीड़ित हो गए। डाक्टरी परीक्षण में सब कुछ ठीक निकलता, परन्तु ज्यों-ज्यों सूर्य चढ़ता जाता शरीर में तीव्र जलन उत्पन्न होने लगती और सांयकाल समाप्त हो जाती । डाक्टरों की सलाह पर चार मास के लिए धर्मशाला जाना पड़ा। वहाँ जाकर स्वास्थ्य में यत्किंचित सुधार हुआ। परन्तु आर्य समाज का प्रचार नहीं छूटा।

पंजाब आर्य समाज दो दल और आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान बनना

मुंशीराम जब पहाड़ों पर से अक्टूबर मास में जालन्धर आए, तो उन्होंने देखा कि पंजाब के आर्यसमाजी क्षेत्र में मांस भक्षण का विषय गर्मा रहा है। इस विषय पर स्पष्ट दो दल बन गए हैं। इस विषय को लेकर मांसखोर और घासखोर, मांस प्रचारक और महात्मा बुद्ध आदि विशेषण पक्ष और विपक्ष को मिलने आरम्भ हो गए थे। पंजाब आर्य समाज की तीनों प्रतिनिधि संस्थाओं पर कॉलेज पार्टी का ही प्रभुत्व था। महात्मा हंसराज लाहौर आर्य समाज, डी.ए.वी. कमेटी और आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब तीनों ही के प्रधान थे । ऐसी स्थिति में मुंशीराम मांस विरोधी विचारधारा एवं संस्कृत की शिक्षा के सम्बन्ध में किसी भी योजना को सार्थक बनाने में असमर्थ थे। इन्हीं दिनों अक्टूबर 1892 ई. में लेखराम जालन्धर आए। दोनों ने परस्पर परामर्श करके अक्टूबर में ही होने वाले आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के चुनाव में सक्रिय भाग लेकर मुंशीराम को सभा का प्रधान बनाने का निश्चय किया। चुनाव

के समय दोनों ओर से प्रत्येक प्रकार के तर्कों, कुतर्कों द्वारा मतदाताओं को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। अन्त में आर्य प्रतिनिधि सभा, से सम्बन्धित आर्य समाजों, सन्यासियों और प्रचारकों के कारण मुंशीराम प्रधान चुने गए। कॉलेज पार्टी को एक धक्का लगा और मुंशीराम की कीर्ति में वृद्धि हुई। इसी प्रकार मन्त्री पद के लिए भी मुंशीराम के दल के दुर्गा प्रसाद निर्वाचित हुए। प्रधान बन जाने पर मुंशीराम के जीवन में नया मोड़ आया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा "पंजाब के समस्त आर्य समाजों की प्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव था, जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा, सार्वजनिक हो गया। इसलिए अपनी जीवन यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहाँ समाप्त करता हूँ[30]।" अब एक प्रकार से वे महात्मा थे।

सभा का प्रधान बनते ही उन्होंने सभा के कार्यों में जीवन्तता लाने का संकल्प किया। इस संकल्प के साथ प्रधान के नाते उनका सम्पूर्ण समय आर्य समाज की गतिविधियों के लिए समर्पित हो गया। इसी वर्ष लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर लाला मूलराज (महात्मा हंसराज के भाई) ने यह घोषणा करके कि 'मांस भक्षण वेद सम्मत है, एक धमाका कर दिया। फिर क्या था आर्य समाज के क्षेत्र में हंगामा मच गया और लेखों तथ भाषणों द्वारा इसका खण्डन आरम्भ हो गया। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान के नाते मुंशीराम ने ही सर्वप्रथम सभा में यह प्रस्ताव रखा कि मांसाहारी व्यक्तियों को सभा का सदस्य नहीं बनाना चाहिए। लेकिन इस प्रस्ताव को पारित करवाने में असफल रहे।

लाहौर में मांस भक्षण का प्रश्न बड़ा विवादास्पद बन गया। मांस भक्षण के समर्थक लाहौरी नेताओं ने सन् 1893 ई. में साधु प्रकाशानन्द को अजमेर भेजा कि वह स्वामी दयानन्द के परमभक्त सर प्रतापसिंह से मांस भक्षण के पक्ष में फतवा दिला कर कॉलेज दल को मजबूत करे। सर प्रतापसिंह वैदिक धर्मानुयायी होते हुए भी क्षत्रिय राजपूतों को अपनी वीरता रखने के लिए मांस भक्षण करना चाहिए, ऐसा मानते थे। साधु प्रकाशानन्द ने ऐसा जाल बिछाया कि अपने समर्थन में मेरठ से पं. गंगाप्रसाद और इलाहाबाद से पं. भीमसेन (स्वामी दयानन्द के शिष्य) को मेरठ बुलवा लिया। यह सूचना मिलते ही मुंशीराम ने पण्डित लेखराम को भीमसेन को अपने पक्ष में करने के लिए भेजा। पं. लेखराम की प्रतिभा से पं. भीमसेन परिचित थे। अतः उन्होंने लेखराम के द्वारा मांसभक्षण के विरुद्ध दी गई युक्तियों को प्रमाणित मान कर मांस भक्षण का स्पष्ट खण्डन कर दिया। इससे मुंशीराम के दल के लोगों का उत्साह बढ़ा।

अब उन्होंने डी.ए.वी. कमेटी पर भी अपना अधिकार बनाने की सोची। 28 मई 1893 ई. को कॉलेज कमेटी का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन से पूर्व कॉलेज दल वालों ने स्वच्छन्दता पूर्वक अनेक व्यक्तियों के नाम सदस्यता से काट दिए थे। अधिवेशन में जिसको चाहा उसे जाने दिया। इस पर सिर फुटव्वल हो गई और दोनों और से थाने में रिपोर्ट दर्ज कराई गई। मुंशीराम को जब यह पता चला कि उनके आदमियों को अन्दर नहीं आने दिया जा रहा, तो वे अधिवेशन से यह कह कर उठ आए कि "तुम हमको इस शानदार मकान से निकाल सकते हो, पर वेद और धर्म हमारे हृदय से नहीं निकाल सकते[31]।" मुंशीराम के अनुयायियों द्वारा बहिर्गमन करने से डी.ए.वी.कॉलेज कमेटी को इच्छानुरूप प्रस्ताव पारित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि कॉलेज पर सदा के लिए मांसाहारी विचार धारा के व्यक्तियों का आधिपत्य ही रहेगा।

अगस्त, 1893 ई. में लाहौर आर्य समाज की कार्यकारिणी में एक प्रस्ताव इस आशय का आया कि लाला मूलराज को खुले रुप में आर्य समाज लाहौर के मंच से मांस भक्षण के पक्ष में प्रचार करने के कारण निष्कासित कर देना चाहिए। प्रस्ताव अवश्य गिर गया, लेकिन इससे यह स्पष्ट हो

गया कि आर्य समाज लाहौर की बागडोर शीघ्र ही कॉलेज दल से खिसकने वाली है। इसी वर्ष के सितम्बर मास में यह वास्तविकता बन गई। लाला लाजपतराय के मुकाबले में दुर्गाप्रसाद लाहौर आर्य समाज के प्रधान चुने गए। वे इस हार को पचा नहीं सके और शीघ्र ही बच्छोवाली आर्य समाज के मुकाबले में अनारकली में नई आर्य समाज की स्थापना कर दी। । इस आर्यसमाज का लाला लाजपतराय को प्रधान बना कर अपनी झेंप मिटाई। इस प्रकार आर्य समाज के विभाजन की एक लीक तैयार हुई और इसका बीज भी लाहौर में ही पड़ा। इसमें मुंशीराम का क़ोई हाथ नहीं था। मुंशीराम ने तो विवाद को मिटाने के लिए प्रयास ही किया। उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में दुर्गाप्रसाद पार्टी और हंसराज पार्टी के सामने समझौते की शर्तें भी दीं। परन्तु मुंशीराम की समझौता योजना दो कारणों से सिरे नहीं चढ़ सकी। प्रथम मुंशीराम की योजना उस समय आई जब दोनों दल प्रभुता की प्राप्ति के संघर्ष में अन्तिम चरण में जा चुके थे और दोनों के लिए लौटना सम्भव नहीं था। द्वितीय इस विवाद के वर्ष में मुंशीराम के क्रिया कलाप कॉलेज दल के विरोध में थे, फिर वे मुंशीराम की निष्पक्षता और ईमानदारी में कैसे विश्वास कर सकते थे। वास्तव में मुंशीराम को कालेज दल वाले दुर्गा प्रसाद से अधिक अपना विरोधी मानते थे।

कांग्रेस अधिवेशन में मुंशीराम की भागीदारी

प़ंजाब आर्य समाज के अन्तर्विरोधों के समय में ही प्रथम बार पंजाब की ओर से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नौवाँ वार्षिक अधिवेशन 1893 ई. के आरम्भ में आमन्त्रित किया गया और बख्शी जैशीराम वकील को इसका कार्यवाहक मन्त्री बनाया गया। बख्शी जी मुंशीराम के घनिष्ठ मित्रों में से एक थे। उन्होनें आग्रह किया कि वे प्रचार कार्य में उनकी सहायता करें। मुंशीराम ने वचन दिया कि वे पंजाब के विभिन्न स्थानों में दस या बारह भाषण देंगे। मुंशीराम का प्रथम व्याख्यान अमृतसर में होना निश्चित हुआ। व्याख्यान में उपस्थित लोगों की संख्या सड़सठ (67) से किसी भी रूप में अधिक नहीं थी। मुंशीराम भाषण देकर वापिस आ गए। परन्तु भाषण के तीन दिन बाद अंग्रेजी समाचार पत्र 'ट्रिब्यून' में यह पढ़ा कि श्रोताओं की अपार उपस्थिति के कारण सारा हाल भर गया था और मुंशीराम के भाषण को सुनकर श्रोताओं ने महान हर्षध्वनि की। वस्तुतः यह समाचार संख्या की दृष्टि से अतिशयोक्ति पूर्ण था। मुंशीराम ने अपने स्वभावानुसार इसका प्रत्याख्यान भेजा। परन्तु उनका बयान तो कभी छपा नहीं साथ कांग्रेस की सभाओं में बोलने से छुट्टी मिल गई। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मुंशीराम ने कांग्रेस से पल्ला झाड़ लिया। वे कांग्रेस अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित हुए। कांग्रेस के इस अधिवेशन में यह देखकर उनको दुःख हुआ कि किस प्रकार मुसलमान प्रतिनिधियों से प्रतिनिधि शुल्क और भोजन शुल्क न लेकर अधिवेशन में प्रवेश दिया जा रहा है।

मुंशीराम को इस अधिवेशन में भाग लेने से अनेक लाभ हुए। गोखले और महादेव गोविन्द रानाडे से परिचय यहीं हुआ। उस समय की परिपाटी के अनुसार कांग्रेस अधिवेशन पर 'सामाजिक सम्मेलन भी हुआ करता था। इस सम्मेलन में प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव को तैयार करवाने के लिए मुंशीराम को रानाडे के पास भेजा गया। इस सम्मेलन में अनेक प्रस्तावों के साथ एक प्रस्ताव पंजाब में चीफ कोर्ट के स्थान पर हाईकोर्ट की स्थापना का भी रखा गया था। इस प्रस्ताव का अनुमोदन करने का दायित्व मुंशीराम पर डाला गया। मुंशीराम ने प्रस्ताव की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए बताया कि उच्च न्यायालय बहुत कुछ स्वतन्त्र होते हैं, जबकि चीफ कोर्ट की नियुक्ति भारत के वायसराय द्वारा की जाती है, अतः वे पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होते। मुंशीराम के तर्कों को श्रोताओं ने बहुत

सराहा। इस प्रकार मुंशीराम का अखिल भारतीय स्तर की राजनीति में प्रवेश का पहला चरण उनको अन्य प्रान्तों से आए अपरिचित चेहरों से असामान्य रूप में परिचित करा गया।

डी.ए.वी. पर अधिकार की इच्छा समाप्त

यह अधिवेशन तो सामयिक बात थी, इससे पंजाब आर्यसमाज के चिन्तन में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, और विवाद गहराता ही गया। लाहौर में दो आर्यसमाजें बन चुकी थी। अब यह प्रश्न उठा कि इनमें से कौन सी आर्य समाज को डी.ए.वी. प्रबन्धक कमेटी में सदस्य भेजने का अधिकार होगा। इस विषय पर विचारार्थ डी.ए.वी. प्रबन्धक समिति के सदस्यों की बैठक दिनांक 24 फरवरी, 1894 को बुलाई गई। इस बैठक में मुंशीराम का पहला प्रयास रहा कि यह विषय स्थगित कर दिया जाए। जब यह बात सिरे नहीं चढ़ी तो उन्होंने दूसरा सुझाव दिया कि इस विषय पर विचार करते समय लाहौर समाजों के सारे सदस्य उठ कर चले जाएं, जिससे उत्तेजना रहित वातावरण में कुछ निर्णय लिया जा सके। जब मुंशीराम की दोनों बातें अमान्य कर दी गईं, तो वे अपने अनुयायियों सहित बैठक से बाहर आ गए। इनके बाहर आते ही बैठक गणपूर्ति के अभाव में कुछ घंटों के लिए स्थगित कर दी गई। पुनः बैठक होने पर यह निर्णय हो गया कि अनारकली समाज को ही प्रतिनिधि भेजने का एक मात्र अधिकार है।

इसके पश्चात् 24 मई को होने वाली डी.ए.वी. समिति की बैठक में मुंशीराम ने कॉलेज पर अधिकार करने के विचार से भाग लेना चाहा, किन्तु उनके पहुँचने से पूर्व ही कॉलेज का मुख्य द्वार बन्द कर दिया गया। द्वार बन्द करने से वर्तमान संकट तो टल गया, किन्तु कब्जे के भय की तलवार ज्यों की त्यों लटकती रही, क्योंकि डी.ए.वी. कॉलेज कमेटी को लाहौर से बाहर के प्रतिनिधियों पर मुंशीराम का प्रभाव अधिक था। भय की तलवार से सदा मुक्ति पाने के लिए कॉलेज दल ने स्वतन्त्र प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब का गठन कर लिया। इस प्रकार आर्यसमाज के क्षेत्र में कॉलेज पार्टी (कल्चरल पार्टी) और महात्मा पार्टी (मुंशीराम पार्टी) दो दल बन गए। इन्हीं दोनों को आर्यसमाज के इतिहास में आगे चलकर कॉलेज पार्टी और गुरुकुल पार्टी का नाम मिला।

एकता का प्रयास

मुंशीराम ने मई 1895 ई.6 में पुनः एकता का प्रयास किया और 'सद्धर्म प्रचारक' में समझौते की छह शर्तें प्रकाशित की – इन शर्तों के अनुसार (1) मांस भक्षण के पक्ष में प्रचार को तुरन्त बन्द किया जाए। (2) डी.ए.वी. कॉलेज में संस्कृत शिक्षा को स्थान दिया जाए और ब्रह्मचर्याश्रम की उन्नति होनी चाहिए तथा कॉलेज प्रबन्धक समिति में दोनों दलों का समान प्रतिनिधित्व होना चाहिए। (3) आर्य प्रतिनिधि सभा का रजिस्ट्रेशन होना चाहिए और प्रचार के लिए सब प्रकार के साधन जुटाने चाहिएँ। (4) अतीत के सभी विचारों को भुला कर प्रेम भाव प्रदर्शित करना चाहिए। (5) स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में दोनों समभागी बनें। (6) शक्ति प्राप्ति की इच्छा का परित्याग करना चाहिए। परन्तु यह अन्तिम प्रयास भी जल के लेख के समान लहरों में खो गया। अब मुंशीराम का ध्यान अपनी सभा (आर्य प्रतिनिधि सभा) की ओर पूर्ण रूप से केन्द्रित हो गया और नियम उपनियम आदि बनाकर सभा को दिसम्बर, 1895 में रजिस्टर्ड करवाया। और सभा में 'वेद प्रचार निधि' की स्थापना की।

गुरुदत्त की मृत्यु के उपरान्त मुंशीराम को लेखराम के रुप में ऐसा अनथक साथी मिल गया था, जिसने आर्य समाज के लिए प्राणों का मोह छोड़कर दिन–रात एक कर दिया था। 6 मार्च, 1897 ई. में एक मुसलमान ने छुरा मार कर लाहौर में उनकी हत्या कर दी। इस हत्या का लाहौर की हिन्दू जनता पर ऐसा प्रभाव हुआ कि परस्पर भेद–भाव को भुला कर उनकी अर्थी के साथ श्मशान भूमि तक गए। लेखराम के बलिदान से सभी आर्य समाजियों का हृदय सन्तप्त था। श्मशान

भूमि में ही मुंशीराम ने सभी आर्य समाजियों को पुनः एक सूत्र में बंध जाने की मार्मिक अपील की। परिणामस्वरुप हत्या के अगले रविवार के दिन आर्य समाज बच्छोवाली में महात्मा हंसराज की अध्यक्षता में एक संयुक्त अधिवेशन हुआ। लाला लाजपतराय के मकान पर समझौता वार्ता हुई। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय हुआ कि मांस भक्षण का प्रचार नहीं किया जाएगा। महात्मा हंसराज जी पहले के समान बच्छोवाली आर्यसमाज के प्रधान होंगे। दोनों पक्ष मिलकर लेखराम के हत्यारे का पता निकालेंगे। एक पक्ष के आठ सदस्य जिस काम का लिखित विरोध करें और कॉलेज तथा प्रतिनिधि सभा के पांच सदस्य लिखित विरोध करें, उसको नहीं' किया जाएगा। वेद प्रचार निधि और कॉलेज फण्ड को बराबर का महत्व दिया जाए, दोनों के लिए अपीलें एक साथ की जाया करें[32]।

श्मशान भूमि की अपील की एकता की प्रक्रिया हृदयों से नहीं, अपितु भावनाओं की भूमि पर रखी गई थी, अतः इसकी चिरस्थापिता पर सन्देह था। बच्छोवाली आर्यसमाज का प्रधान पद प्राप्त करके भी कॉलेज वालों ने प्रादेशिक सभा को भंग नहीं किया। इसका स्पष्ट अर्थ था कि समझौता शून्य में खो गया और विरोध की वाणी फिर फूट पड़ी। यह विरोध यहाँ तक बढ़ गया कि महात्मा दल द्वारा 'लेखराम शहीद फण्ड' के लिए चन्दा करने के कार्य में बाधाएँ उपस्थित की जाने लगीं। आर्य प्रतिनिधि सभा ने, परोपकारिणी से उर्दू में सत्यार्थ प्रकाश प्रकाशित करवाने का एकाधिकार लिया था, उसे रद्द करवाया गया। मुंशीराम के विरुद्ध आर्य गजट में 'लेखराम शहीद फण्ड' के दुरुपयोग के लांछन भी लगाए गए।

आर्य समाज के दो दलीय विभाजन के सम्बन्ध में मुंशीराम का कितना हाथ था, इस मूल्यांकन के अभाव मे यह सारा प्रकरण अधूरा ही समझा जाएगा। अतः यहाँ संक्षेप में इस पर विचार करना असंगत न होगा। मुंशीराम का आर्य समाज में प्रवेश एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति के रूप में हुआ था। महर्षि के सिद्धान्तों में मीन मेख निकालना इनकी तबियत के खिलाफ था। मांस भक्षण का समर्थन उनके लिए अनार्यत्व की निशानी थी। अतः वे इसका विरोध करना अपना दायित्व समझते थे। इसके साथ–साथ गुरुदत्त की वैदिक सिद्धान्तों की व्याख्याओं से वे इतने प्रभावित थे कि गुरुदत्त पर किए जाने वाले प्रत्येक आक्षेप को अपने ऊपर किए गए आक्षेप के समान मानते थे। इस स्थिति में गुरुदत्त के विरोधी भी उनके विरोधी हो जाते थे। इसके अतिरिक्त मुंशीराम में एक ऐसी उत्साह शक्ति थी, जो बलात् लोगों को आकर्षित कर लेती थी। इस शक्ति के कारण कालेज दल वाले उन्हें अपने लिए खतरा समझते थे। जोर्डेन्स के कथनानुसार आर्यसमाज के विभाजन में मुंशीराम का कोई प्रत्यक्ष हाथ नहीं था[33]। परन्तु आर्य जगत् के इस विभाजन के महायुद्ध में उन्हें महारथी ही नहीं, अपितु इसका कर्णधार माना जाता है। लाला लाजपतराय ने उन्हें पंजाब आर्यसमाज के सभी विवादों की जड़ बताया। इन्द्र ने लाला लाजपतराय और महात्मा मुंशीराम को आर्यसमाजी जंगल के दो शेर मानते हुए लिखा है–

"जब मैं पिता जी और लाला लाजपतराय जी के परस्पर सम्बन्धों के विषय में अपनी स्मृतियों को इकट्ठा करके देखता हूँ, तो मुझे जंगल के दो शेरों की लोकोक्ति याद आती है। कहते हैं एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि वे एक दूसरे की बहादुरी को भी नहीं पहिचानते। यह स्पष्ट है कि वे दूसरे की शक्ति को पहिचानते हैं। उसका आदर करते हैं और इसलिए साथ–साथ रहना पसन्द नहीं करते। यदि उनसे एक दूसरे के विषय में पूछा जाए, तो वे यही कहेंगे कि वह शेर है, मैं भी शेर हूँ, हम दोनों एक जंगल में कैसे रह सकते हैं[34]। इस प्रकार इन्द्र ने भी यह स्वीकार किया है कि मुंशीराम दूसरी पार्टी के कर्णधार थे।

इन्द्र के उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यसमाज के घरेलू युद्ध में लाला लाजपतराय को मुंशीराम के रूप में एक प्रतिद्वन्दी उभरता दिखाई पड़ रहा था। आर्यसमाज

के क्षेत्र में दोनों लोकप्रिय थे। मुंशीराम राजनीति से उदासीन रहने वाले व्यक्ति थे, जब कि लाला लाजपतराय राजनीति में खुल कर खेलने वाले थे। मुंशीराम की लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में भगीदारी को देख कर लाला जी को यह सन्देह होने लगा कि आर्यसमाज के नाम पर राजनीति में उनका प्रतिद्वन्दी जन्म ले रहा है।

इस विभाजन से आर्यसमाज को लाभ हुआ या हानि, इस विषय में दो भिन्न–भिन्न विचार प्रकट किए गए है। लाला लाजपतराय के विचार से यह विभाजन आर्यसमाज के लिए लाभकारी रहा। उन्होंने माना है कि आर्यसमाज के दोनों दलों ने समाज की सेवा में जो त्याग किये हैं, वे पूजने योग्य हैं। कॉलेज की सहायता के लिए पहले ही सब लोग अपनी एक महीने की आमदनी दे चुके थे। बहुत से मासिक चन्दा भी देते हैं। किन्तु अब नए सिरे से चन्दे लिए गए तो सब ने खुशी–खुशी से दिए। दोनों दलों ने उपदेशको की संख्या भी बढ़ाई, इससे सदस्य संख्या बढ़ी। महात्मा दल ने वेद प्रचार कोष, कन्या महाविद्यालय और स्थानीय स्कूलों के लिए उसी उत्साह से चन्दे किए। लाला लाजपतराय ने आर्थिक लाभ की ओर ध्यान दिया। इसके विपरीत मुंशीराम का चिन्तन दूसरी प्रकार का था। उन्होंने इस विभाजन को हानिकारक बताते हुए 'सद्धर्म प्रचारक' (संवत् 1966) में लाला लाजपतराय के विचारों को पूर्वपक्ष में रखते हुए लिखा "यदि रुपये ही से सब उद्देश्य पूरे हो सकते थे, तो क्या दोनों दलों की सारी संस्थाओं की जायदाद लाहौर के एक राय रामशरणदास का मुकाबला कर सकती है। यदि उपदेशकों की संख्या पर ही वैदिक धर्म की उन्नति निर्भर है तो क्या छोटे से छोटे पौराणिक साधुओं के अखाड़े के चेलों का भारत के सब आर्योपदेशक मुकाबिला कर सकते हैं"। मुंशीराम के विचार से इस विभाजन से आर्यों में नैतिकता का ह्रास हुआ।

इसके विपरीत इन्द्र ने इस विभाजन का परिणाम निकालते हुए लिखा है – "यदि पंजाब की आर्यसमाजों में फूट न पड़ती या फूट पड़ने पर दोनों (लाला जी और महात्मा जी) महानुभाव एक ही पक्ष में चले जाते तो आर्य समाज का और साथ ही पंजाब का सार्वजनिक जीवन दूसरी ही तरह का होता, परन्तु दो शेर एक जंगल में नहीं रह सके[35]।"

आर्यसमाज में उग्रपरिवर्तनवादी विचारधारा का सूत्रपात

दोनों दलों के सिद्धान्तहीन भावनात्मक मेल को कुछ आर्यसमाजियों ने नकार दिया था और वे आर्यसमाज में उग्र परिवर्तन के पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि तुरन्त ही आर्यसमाज में स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों का प्रचलन होना चाहिए। वे यह भी चाहते थे कि पर्दा प्रथा तुरन्त समाप्त हो और आर्यों के विवाह जाति अर्गलाओं को तोड़ कर गुण–कर्म स्वभाव के अनुसार होने चाहिए। इन विचार धाराओं के अगुआ डाक्टर चिरंजीव भारद्धाज थे। इन्होंने समान विचार धारा के लोगों को इकट्ठा करके 'आर्य शिरोमणि सभा' का गठन किया। सद्यः उग्र परिवर्तनवादियों की यह सभा देर तक नही रह सकी, क्योंकि इसके अग्रणी डा0 चिरंजीव भारद्वाज इंग्लैण्ड चले गए। लोग परिवर्तन लाने के लिए इतने उतावले थे कि इसके उपरान्त 'आर्य भ्रातृ सभा' नामक संस्था का निर्माण किया गया। इसके उद्देश्य भी 'आर्य शिरोमणि' सभा के समान ही थे। सन् 1897 ई. के अन्त में इसी प्रकार का एक संगठन बना। जिसको 'आर्य धर्म सभा' नाम दिया गया। यह संगठन पूर्ववर्ती संगठनों की तुलना में परिवर्तन का अति सीमित पक्षधर था और इनका विचार यहाँ तक था कि आर्य होने के लिए किसी शुद्धि संस्कार की आवश्यकता नहीं है। ये तीनों संगठन समाज में अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सके। परन्तु मुंशीराम के लिए परिवर्तनवादी होने के विषय में सन्देह उत्पन्न कर गए। क्योंकि मुंशीराम को आर्य समाज के क्षेत्र में उग्र परिवर्तनवादी का खिताब सांईदास ने दे रखा था। मुंशीराम उपर्युक्त संगठनकर्त्ताओं के विचारों से सहमत होते हुए भी इन संगठनों में इसलिए सम्मिलित नहीं हुए कि उनके सामने विशाल जनहित का उद्देश्य था और उसकी पूर्ति ये शनैःशनैः करना चाहते

थे। मुंशीराम ने जब अपनी बड़ी पुत्री वेद कुमारी का विवाह सन् 1900 में कुल की प्राचीन परम्पराओं के अनुसार खत्रियों में ही किया, तो 'भ्रातृ सभा' वालों ने उनकी कटु आलोचना की। जब मुंशीराम ने ईसाई धर्म त्याग आई सुमित्रा को अपनी पोषित कन्या बना कर उसका विवाह जाति तोड़ कर गुरुदत्त के साथ किया तो भी 'भ्रातृ सभा' और 'आर्य धर्म सभा' दोनों ने तानाकशी की और प्रचार किया कि यदि मुंशीराम वास्तव में परिवर्तनवादी है, तो इन्होंने अपनी पुत्री का विवाह जाति तोड़ कर क्यों नहीं किया। ? मुंशीराम ने शीघ्र ही इन आरोपों का उत्तर एक वर्ष बाद अपनी दूसरी पुत्री हेमन्त कुमारी का विवाह जाति बन्धनों को तोड़ कर डा0 सुखदेव नामक एक अरोड़ा युवक से कर दिया। पंजाब में खत्रियों की तुलना में अरोड़ा नीचे माने जाते हैं।

रहतियों की शुद्धि

आर्य समाज में विभिन्न संगठनों के निर्माण की अवधि में ही शुद्धि का प्रश्न आया। सनातन धर्मी हिन्दू होते हुए भी शुद्धि के पक्षपाती नहीं थे। वे धर्म के सामान्यीकरण के पक्ष में नहीं थे, अतः गुण, कर्म और स्वभाव से जाति नहीं मानते थे, अपितु जन्म से ही जाति स्वीकारते थे। उन्हें असवर्ण हिन्दुओं के ईसाई और मुसलमान होने से कोई सरोकार नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम मासों में भारत में अकाल ने तबाही मचा दी थी। अकाल के कारण बहुत से निर्धन हिन्दू अपने धर्म को त्याग कर ईसाइयत की शरण में चले गए थे। इस स्थिति में आर्यसमाज ने हिन्दुओं को अन्य धर्म ग्रहण न करने की रोक के विषय में सोचा और जो लोग अपना धर्म छोड़ गए थे उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित करने का विचार किया। इसके साथ–साथ उन्होंने असवर्ण हिन्दुओं को भी शुद्धि द्वारा सवर्ण जातियों में स्थान दिलवाने का संकल्प किया। इस संकल्प की परीक्षा की घड़ी भी शीघ्र ही आ गई। पंजाब में 'रहतिया सिखों' को अन्य सिख 'जाति बहिष्कृत' मानते थे। ये रहतिये 1896 ई. से अपने सामाजिक स्तर को उठाने का प्रयास कर रहे थे। परन्तु सिख सभाओं ने बार–बार इनकी प्रार्थनाओं को ठुकरा दिया था। जून, 1899 ई. में ये लोग मुंशीराम के पास आ गए। आर्यसमाज जालन्धर ने इनको शुद्धि द्वारा आर्यसमाजी बनाने का प्रस्ताव पारित कर दिया। परन्तु किन्हीं कारणों से इस प्रस्ताव का क्रियान्वयन नहीं हो सका। मुंशीराम ने इन रहतियो को लाहौर आर्यसमाज में शुद्धि के लिए भेज दिया और वहाँ 3 जून, 1900 ई.0 में इनको शुद्ध कर लिया गया।

रहतियों की शुद्धि से सिखों में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही थी, क्योंकि उन्होंने इसे सिख धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज की अनधिकार चेष्टा माना और वे मुंशीराम के कट्टर शत्रु बन गए। और इसके साथ ही सनातनी हिन्दुओं ने भी इसका विरोध किया। इस शुद्धि से पंजाब का वातावरण अफवाहों से गूंज गया। समाचार पत्र वालों के कान भी खड़े हुए और समाचार दिए जाने लगे कि सिखों ने जालन्धर के आर्यो की हत्याएँ करवा दी हैं और मुंशीराम जख्मी होकर जालन्धर हस्पताल में पड़े हैं। समाचार पत्रों क़ी एक अन्यतम विशेषता होती है कि वे सामयिक समस्याओ में बहुचर्चित व्यक्तित्व पर व्यंग्य चित्र अथवा होली और 'फर्स्ट अप्रैल फूल' के दिवस पर मजाक करके उसके महत्व को प्रदर्शित करते रहते हैं। रहतियों की शुद्धि के सम्बन्ध में सिख और हिन्दू दोनों के केन्द्र बिन्दु मुंशीराम ही थे। लाहौर के दैनिक ट्रिब्यून ने अप्रैल के अंक में एक समाचार देते हुए लिखा कि "जालन्धर से समाचार मिला है कि वहाँ की हिन्दू जनता रहतियों की शुद्धि से विक्षुब्ध होकर आर्यसमाज के प्रधान लाला मुंशीराम के मकान पर चढ़ गई। उनको पकड़ लिया और समाज मन्दिर में घसीट ले गई। वहाँ जाकर लोगों ने उन्हें रस्सियों से बाँध दिया और समाज मन्दिर में जो पीपल का पेड़ है, उससे लटका दिया गया।" इस समाचार को पढ़कर आर्यसमाजियों में चिन्ता व्याप्त हो गई। समाचार की सत्यता जानने के लिए अनेक तार आने लगे। परन्तु किसी भी पाठक ने इस समाचार के साथ लिखी इस बात को नहीं पढ़ा कि 'लोग इतने भले हैं कि अप्रैल की पहली

तारीख को उपयुक्त समाचार प्रकाशित किया जाए, तो उसे भी सत्य मान लेंगे[36]।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुंशीराम इस समय तक लोगों की दृष्टि में बड़े महत्वपूर्ण व्यक्ति बन गए थे।

अपनी लड़की का विवाह जाति बन्धन तोड़कर वे एक उग्र परिवर्तनवादी पग उठा चुके थे। अब गृहस्थ के कर्त्तव्यों के प्रति वे निश्चिन्त थे। लड़कियां विवाहित हो चुकीं थी। पुत्रों की आयु छोटी थी, उनकी शिक्षा के सम्बन्ध में मन में यह भावना बना ली थी, कि उन्हें स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के अनुकूल ही शिक्षा दी जाएगी।

गुरुकुल की स्थापना का विचार

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा संचालित एवं सम्पादित 'लिबरेटर' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक के लेखों से पता चलता है कि स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम) ने दसवीं बार सत्यार्थ प्रकाश पढ़ने पर आर्यसमाज के संस्थापक के निम्न कथन के वास्तविक अभिप्राय को सही रूप में समझा –

"दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार से दुख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत–मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न–भिन्न भाषा, पृथक्–पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिए जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था का इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्र पुरुषों का काम है।"

उपर्युक्त वक्तव्य के सही अर्थ को पहचान कर मुंशीराम ने अपने आध्यात्मिक गुरु के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए सभी धर्मों के आदिमूल सार्वभौम वैदिक धर्म के प्रचार करने में अपनी शक्ति को केन्द्रित किया और प्राचीन ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था के अनुसार एक शिक्षण पद्धति स्थापित करने का प्रयास आरम्भ किया[37]। सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास ने यह बात भी मन में बैठा दी कि ऐसी संस्था जनाकुल परिवेश से दूर एकान्त स्थान में होनी चाहिए। गुरुकुल नामक प्राचीन शिक्षण पद्धति आरम्भ करने से पूर्व मुंशीराम दयानन्द–एंग्लो–वैदिक कॉलेज को ही लड़कों की शिक्षा के लिए गुरुकुल तुल्य समझते रहे। इसीलिए कॉलेज भवन का स्थायी स्थान का चुनाव करने के सन्दर्भ में 'सद्धर्मप्रचारक' में लिखा था कि "सरकारी कॉलेज पर तो हमारा कोई अधिकार नहीं, किन्तु अपने कॉलेज पर इतना अधिकार हो सकता है कि उसके लिए शहर से दूर जगह ली जाए। शिक्षा की नीति एवं पाठ्यक्रमों के सम्बन्ध में मतभेद के कारण मुंशीराम को कालेज से नाता तोड़ना पड़ा। नाता तोड़ने की कहानी का कच्चा चिट्ठा पिछले पृष्ठों में पाठक पढ़ चुके हैं। कॉलेज विभाग से कट जाने का यह अभिप्राय नहीं था कि मुंशीराम के मन से आदर्श शिक्षा पद्धति की ब्रह्मचर्य आश्रम वाली योजना भी धूल में मिल गई हो, वह योजना उनके मन में घर कर चुकी थी। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने 8 आषाढ़, सम्वत् 1953 (1896 ई.) में 'सद्धर्मप्रचारक' में 'सन्तान को आर्य क्यों कर बना सकते हो' नामक एक लेखमाला प्रकाशित की थी। इस लेखमाला में आपने शहरी वातावरण से उत्पन्न होने वाली बुराईयों का उल्लेख करते हुए 'गुरुकुल' की स्थापना के विचार स्पष्ट रूप में रखे थे और लिखा था कि अमृतसर के पास नदी के किनारे ऐसा प्राकृतिक सौन्दर्य, जहां परीक्षण के लिये गुरुकुल खोला जाए। तत्कालीन 'आर्य पत्रिका' ने इस का समर्थन किया और लिखा कि आर्य सार्वभौम प्रतिनिधि सभा का गठन करके उसके अधीन गुरुकुल खोला जाए। सभी आर्यसमाजी पत्रों में गुरुकुल खोलने के प्रस्ताव पर चर्चा–परिचर्चा हुई।

कॉलेज दल के लोग उपर्युक्त प्रस्ताव का उपहास करते दिखाई देते थे। उनके उपहास के पीछे विरोध की भावना कार्य करती थी। इसके साथ ही उनको आशंका थी कि आर्यसमाज की समानान्तर एवं ऋषि दयानन्द की शिक्षण विधि के अनुकूल शिक्षण संस्था के खुल जाने से उनके आर्थिक स्रोतों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। महात्मा दल (गुरुकुल दल) में भी ऐसे बहुत से व्यक्ति थे कि जिनको भय था कि यदि आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वाधान में गुरुकुल स्थापित किया जायेगा, तो वेद प्रचार के मुख्य कार्य में बाधा पहुंचेगी। कुछ लोगों का यह विचार भी था कि निर्जन एकान्त स्थान में केवल संस्कृत पढ़ने वाले छात्र नहीं मिलेंगे और वहां संस्कृत शिक्षा के साथ वर्तमान विषयों की शिक्षा देना सम्भव नहीं हो सकेगा। महात्मा दल के कुछ निराशावादी लोग तो यहाँ तक भी कह रहे थे कि निर्जन जंगल में अनाथों की तरह भूखे–नंगे और रोगी हो जाने पर चिकित्सा के अभाव में मरने के लिए कौन निर्मोही माता–पिता अपने बच्चों को वहाँ भेजेंगे। वहाँ तो केवल वही बालक जायेंगे जिनकी माताएँ नहीं हैं अथवा विमाताएँ हैं। कुछ लोग जालन्धर में वैदिक आश्रम और दुआबा–हाईस्कूल द्वारा ही संस्कृत शिक्षा को ही पूरी कर देने की बातें भी कहते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि मुंशीराम समर्थित 'गुरुकुल नामक संस्था के गर्भाधान के समय से ही विरोधी विचार भी गर्माये हुए थे। इन आशंकाओं के उठने पर बहुसंख्यक आर्यसमाजी 'गुरुकुल' खोलने के पक्ष में था। आश्विन सम्वत् 1954 (1897 ई.) में सद्धर्म प्रचारक में 'आश्रम व्यवस्था और उसकी बुनियाद' नामक लेख में मुंशीराम ने गुरुकुल की स्थापना के सम्बन्ध में अपने विचार देते हुए लिखा कि 'यह पवित्र आन्दोलन (गुरुकुल) पंडित गुरुदत्त की जीवनी से ही आरम्भ हो गया था। कार्याधिक्य के कारण उस समय इस पर अमल न हो सका, पर सुलगी हुई आग बुझी नहीं। इस सुलगी हुई आग पर से राख हट कर नूरमहल निवासी लाला जगन्नाथ ने अपने कारखाने में कुछ हिस्सा गुरुकुल का नियत किया और 25 रुपये अगाऊ प्रेषित कर दिए। इसके बाद पंडित लेखराम के बलिदान होते ही अन्य कार्यों ने आ दबाया। फिर भी हम इस प्रश्न पर निरन्तर विचार करते रहे। इसमें शक नहीं हम भी सुस्त हो चले थे, लेकिन निराशा को पाप समझते हुए हमने आशा नहीं छोड़ी थी और कुछ समय तक इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने का निश्चय किया था। इसी बीच में श्री गोविन्दपुर के आर्य भाईयों ने गुरुदासपुर में गुरुकुल खोलने पर उसके लिए भूमि एक हजार रुपया के साथ देने का वचन दिया था। अजीब धार्मिक जोश दिखाया। उसके बाद बरार प्रान्त के अकोला जिले के पातूर निवासी शिवरत्न वर्मा ने अपने चचेरे भाई गोविन्द सिंह वर्मा मन्सफदार की ओर से सूचित किया कि गुरुकुल खोला जाए तो वे दस हजार रुपया देने को तैयार हैं। यदि ये दोनों निश्चय पूरे हो जाएँ तो गुरुकुल का खुलना कुछ भी मुश्किल नहीं है। अलबत्ता, श्री गोविन्दपुरीय भाईयों की शर्त ठीक नहीं है और गुरुकुल के स्थान आदि का निश्चय आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब पर छोड़ देंगे। इस समय जब कि आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की अन्तरंग सभा ने आर्य विद्यार्थी आश्रम, लांहौर को गैर–जरुरी ठहरा दिया है, तब पूरी आशा बंध जाती है कि सभा गुरुकुल को अपनी अधीनता में खोलने को तैयार हो जायेगी। हमने इरादा कर लिया है कि श्री गोविंदपुर आर्यसमाज के जलसे में, जो कि 3 और 4 अक्टूबर, 1897 ई. को होगा, शामिल होंगे और उस समय अपने भाईयों को प्रेरित करेंगे कि वे अपना दान नकद देंवें, जिससे उन लोगों को ढाढस मिले, जो कि गुरुकुल के लिए मुद्दत से व्याकुल हो रहे हैं। जिन सज्जनों के पुत्र 12 वर्ष से कम आयु के हैं, वे अपने पुत्रों को धर्म के अर्पण करने की प्रतिज्ञा करें, ताकि उनके हौसलें से उत्साहित होकर श्री गोविन्दपुर से ही आर्य प्रतिनिधि सभा की सेवा में एक निश्चित निवेदन पत्र भेजा जा सके। पढ़ाई के काम के लिए हमने दो धार्मिक पुरुषों को तैयार किया है। पाठ विधि महर्षि दयानन्द स्वयं तैयार कर गए हैं। हमें सिर्फ उन विषयों का सिलसिला बाँधना होगा और अन्य विषयों, विशेषतः व्यावहारिक विधाओं का, उसमें समावेश करना होगा, जो आर्य समाज के विद्वान धार्मिक सभासदों की सहायता से प्रतिनिधि सभा तैयार कर सकेगी।"

श्री गोविन्दपुर आर्यसमाज के उत्सव पर गुरुकुल के विषय को लेकर चर्चा हुई। इस चर्चा में सर्वश्री मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), रामभजदत्त चौधरी, सीताराम (लाहौर), केसरीमल (दीनानगर) मुंशी मुकुन्दराम (श्री गोविन्दपुर) आदि ने भाग लिया और सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित कियागया कि "आर्य पुरुषों का यह सम्मेलन आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की सेवा में यह निवेदन करना अत्यन्त आवश्यक समझता है कि गुरुकुल शीघ्र ही खोला जाए"। इस प्रस्ताव को सभा के पास भेजने का कार्य मुंशीराम को सौंपा गया। इस सर्वसम्मत प्रस्ताव के पश्चात् पंजाब के आर्यसमाजों में इस सम्बन्ध में उत्साहवर्धक चर्चाएँ होने लगीं। आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन मंत्री जयचन्द्र ने इस सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करते हुए लिखा कि गुरुकुल खोलने के विचार को लोकप्रिय बनाने के लिए कुछ व्यक्तियों की समिति गठित की जाय, जो लेख लिखने और धनसंग्रह करने का कार्य करे। सभा–मन्त्री के लेख के बाद प्रस्ताव को बल मिला। 26 नवम्बर, 1898 ई. को आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की अन्तरंग सभा ने गुरुकुल खोलने के प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी और इस कार्य के लिए आठ हजार रुपया एकत्र होने पर कार्य आरम्भ करने की व्यवस्था भी रख दी। इसी प्रस्ताव में गुरुकुल की योजना बनाने का कार्य मुंशीराम को सौंप दिया। उन्होंने शीघ्र ही सम्पूर्ण योजना को सुरुचिपूर्ण ढंग से सभा के सम्मुख रख दिया। सभा की ओर से इस योजना को प्रचारार्थ छपवा दिया गया। यह सब होने पर मुंशीराम से नहीं रुका गया और उन्होंने आषाढ़, सम्वत् 1956 (अगस्त 1898 ई.) में सद्धर्म प्रचारक में यह प्रतिज्ञा प्रकाशित करवा दी कि "जब तक गुरुकुल के लिए 30 हजार रुपया इकट्ठा नहीं कर लेंगे, घर में पैर नही रखेंगे"। मुंशीराम की इस प्रतिज्ञा की कहानी को इन्द्र ने इस प्रकार लिखा है–

"पिता जी प्रायः लाहौर जाते रहते थे। अधिकतर आर्यसमाज के काम से और कभी–कभी मुकदमों के प्रसंग में लाहौर जाते थे तो दूसरे या तीसरे दिन वापिस आ जाते थे। वापिस आने की गाड़ी की सूचना जाते हुए दे जाते थे। ठीक समय पर घोड़ा–गाड़ी स्टेशन पर पहुँच जाती थी। पिता जी के घर आने की सूचना हम लोगों को अनायास ही मिल जाती थी, क्योंकि गाड़ी पर से उतार कर बिस्तर और यात्रा का अन्य सामान अन्दर लाया जाता था।

एक दिन हम लोग बहुत आश्चर्यचकित हो गए, क्योंकि पिता जी का सामान गाड़ी से उतार कर घर नहीं लाया गया। कोचवान ने अन्दर आकर कहा कि "बाबू जी ने अपना सामान समाज–मन्दिर में ही उतरवा लिया और कहा है कि घर पर जाकर खबर कर दो।" बाबू जी घर पर नहीं आये और समाज–मन्दिर में उतर गये हैं, इस समाचार ने घर भर में तहलका सा मचा दिया। तायी जी पहले तो स्तब्ध सी रह गईं, फिर पिता जी के इस कार्य के अनौचित्य पर काफी जोरदार टिप्पणी करने लगीं। हम चारों बच्चे घबरा कर तायी जी के चारों ओर इकट्ठे हो गए, नौकर जिसका नाम रणुआ था, एक ओर खड़ा आँखों से आँसू बहा रहा था। हमारे ताया जी, जो परिवार के मौनधारी सदस्य थे, कुछ समय पीछे हाथ में हुक्का लिए हुए ड्योढ़ी से घर के अन्दर आए और तायी जी को दिलासा देने लगे। जहाँ तक मुझे याद है उनके दिये हुए दिलासे का यह सारांश था कि 'मुंशीराम हमेशा से ही ऐसा कर रहा है, जो दिल में आता है वही करता है। तुम चिन्ता न करो अपने आप घर आ जायेगा।' परन्तु तायी जी घर के मामले में ऐसे वैराग्य से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थीं। उन्हें यह सन्देह हुआ कि पिता जी किसी बात पर नाराज होकर घर में नहीं आ रहे हैं। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि समाज मन्दिर में जाकर नाराजगी का कारण पूछा जाए। तायी जी का निश्चय हो जाने पर ताया जी के लिये कोई समस्या शेष न थी। उन्होंने अपना हुक्का ताजा करवाया और चारपाई पर बैठ कर उस आनन्द का अनुभव करने लगे जिसे केवल अफीमची या हुक्के का भक्त ही कर सकता है।

तायी ने नौकर को आर्यसमाज–मन्दिर में यह पूछने के लिए भेजा कि हम लोग मिलने के लिए आना चाहते हैं, कोई रुकावट तो नहीं है। मैं पहले बतला चुका हूँ कि हमारी कोठी और समाज मन्दिर के बीच में केवल पक्की सड़क थी। रणुआ पाँच–सात मिनट में ही लौट आया। वह उत्तर लाया कि मिलने में कोई रुकावट नहीं । हम लोग तब तक तैयार हो चुके थे। तायी जी भी उस समय के रिवाज के अनुसार रेशमी घाघरा पहिन और ओढ़नी ओढ़ कर आगे–आगे चलीं। हम चारों भाई–बहिन पीछे–पीछे कुछ घबराते हुए से चले और अन्त में हमारा नौकर रणुआ चला।

पिता जी समाज मन्दिर के द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे। वह गम्भीर मुद्रा में थे। तायी जी की घबराहट देखकर शान्त करते हुए आरम्भ में उन्होंने ही कहा–

'भाभी, मैंने लाहौर में प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिए 30 हजार रुपया इकट्ठा न कर लूँगा, तब तक घर में पैर नहीं रखूँगा। इसी कारण समाज में ठहरा हूँ, घबराने की कोई बात नहीं। भाय्या जी (ताया जी को पिता जी भाय्या जी कहा करते थे) घर में हैं ही । कोई चिन्ता मत करो।'

इस आश्वासन से तायी जो का मन थोड़ा बहुत शान्त हो गया और उन्हें शान्त देखकर हम लोग भी शान्त हो गए। यह 'सर्वमेध यज्ञ' का प्रथम चरण था।[38]"

जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। मुंशीराम के मन में गुरुकुल खोलने का भूत सवार था। जहाँ चाह, वहाँ राह। बस फिर क्या था। गुरुकुल के गर्भाधान की कहानी सुखद और दुखद दोनों ही अनुभवों की मिली–जुली प्रतिक्रिया को लिए हुए है। आर्य पुरुषों का उत्साह तो पूरा था, परन्तु दुर्भिक्ष जैसी स्थिति के कारण देश की आर्थिक स्थिति ढीली थी। ऐसी स्थिति में राजा रघु जैसा दानी मिलना दुर्लभ था जो कि वरतन्तु के शिष्य कौत्स की इच्छा पूर्ति के समान ऋषि दयानन्द के अनुयायी मुंशीराम की झोली भर देता। 30 हजार रजत मुद्राओं का जुगाड़ तो एक से नहीं, अनेकों के दान से पूरा हो सकता था। अतः मुंशीराम ने सर्वमेध यज्ञ के प्रथम चरण का आरम्भ 26 अगस्त 1898 ई. को उठाया और जालन्धर से चलकर सांय 6 बजे गुजरानवाला पहुँच गए। इनके साथ रामभजदत्त चौधरी, मास्टर आत्माराम अमृतसरी, नबीबख्श बैरागी और पं. शिवनाथ थे। यहाँ गुरुकुल के लिए 592 रुपये दान में मिले। प्रथम भिक्षा उत्साहवर्धक रही। विभिन्न नगरों में गुरुकुल का प्रचार करते यह मण्डली 22 सितम्बर, 1898 को जालन्धर आ गई। यात्रा के इस प्रथम चरण में कुल छः हजार आठ सौ अट्ठावन रुपये आठ आने (6858.50 पैसे)। इकट्ठे हुए। अगली यात्राओं में पहली मण्डली के कुछ साथी छुटे, कुछ साथियों ने ढीलापन दिखाया। इससे मुंशीराम निराश होने वाले नहीं थे, अन्य शुभ चिन्तकों को टटोला और मण्डली तैयार हो गई।

यात्रा का दूसरा चरण 24 सितम्बर को हरिद्वार के लिए प्रस्थान करने पर आरम्भ हुआ। इस दान यात्रा में स्वामी जी ने हरिद्वार के आस–पास की भूमिओं का निरीक्षण किया और यहाँ तक कि वे ऋषिकेश भी गए। इसका मुख्य उद्देश्य गुरुकुल की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान की खोज था। चण्डी पहाड़ के नीचे की भूमि अधिक उपयुक्त जान पड़ी। यहाँ से मुंशीराम 26 सितम्बर को दिल्ली के लिए प्रस्थान कर गये। दिल्ली में रामभजदत्त (लाहौर) पं. पूर्णानन्द,, पं. गंगादत्त और पं. सूरजप्रसाद (सभी ग्वालियर) से आ गए। दिल्ली निवासियों ने गुरुकुल की योजना में आशा के अनुरूप सहयोग नहीं दिया। स्वामी जी दिल्ली से बहुत बड़ी आशा रखते थे। यहाँ 5 अक्टूबर तक कार्य किया और इस अवधि में गुरुकुल के लिए आठ हजार रुपए प्राप्त हुए। इसके बाद की यात्रा 16 अक्टूबर से लाहौर से आरम्भ हुई और पंजाब के प्रमुख नगरों में गुरुकुल की योजना के विचार जनता के सामने रखे गए। इस यात्रा में अनुभव हुआ कि गुरुकुल की योजना के सम्बन्ध में किस–किस प्रकार के विरोधी स्वर उठ रहे हैं। मुलतान में कालेज दल वालों ने पर्याप्त विघ्न डाले। लोग यह

कहते हुए भी सुने गए कि गुरुकुल के लिए लड़के कहाँ से आएंगे। 25 वर्ष की आयु तक लड़कों को ब्रह्मचारी नहीं रखा जा सकता। माना कि गुरुकुल की शिक्षा द्वारा लड़के शारीरिक, मानसिक ओर शैक्षणिक दृष्टि से समाज के श्रेष्ठ नागरिक बन जाएँगे, लेकिन अपनी सरकार के अभाव में इन्हें नौकरियाँ कौन देगा ? जब दयानन्द–एंग्लों–वैदिक कॉलेज ने लोगों से चन्दा लेकर आर्यसमाज के शैक्षणिक विषयों को दुत्कार किया, तो गुरुकुल वाले भी उनसे ही अलग हुए व्यक्ति हैं, इस पर भरोसा कैसे हो सकता है ? इन आशंकाओं की गर्म हवाओं से मुंशीराम निरुत्साहित नहीं हुए और 2. 1/2 मास में नगद और वायदों के रूप में कुल मिला कर 20 हजार से ऊपर रुपया एकत्रित हो गया।

गोपीनाथ का मुकदमा

मुंशीराम को मात्र गुरुकुल का काम ही नहीं करना पड़ रहा था, अपितु अपने प्रान्त पंजाब में अन्य मतावलम्बियों द्वारा आर्य समाज पर की जाने वाली टीका टिप्पणियों का उत्तर भी देना पड़ता था। कॉलेज दल ने तो यह नीति अपना रखी थी कि अन्य सम्प्रदायों से यथाशक्ति सौहार्द स्थापित किया जाए। इस नीति के अनुसरण में एक बार उनकी तरफ से यह प्रस्ताव भी आया था कि सत्यार्थ प्रकाश में से सिखों को अखरने वाले प्रकरण को निकाल देना चाहिए।

पंजाब में पं गोपीनाथ सनातनी लोगों का नेता माना जाता था। वह पंजाब सनातन धर्म, सभा का मंत्री, 'सनातन धर्म गजट' का सम्पादक और 'अखबारे आम' का संचालक था। वह अपने समाचार पत्रों में आर्य समाज के सम्बन्ध में अश्लील भाषा का प्रयोग करके कीचड़ उछाला करता था। एक समय ऐसा आया कि उसने मुंशीराम को शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा। मुंशीराम बहुत दिनों से गोपीनाथ के साथ मुखामुखी (शास्त्रार्थ) करने की प्रतीक्षा में बैठे थे। कुछ पत्र व्यवहार के पश्चात् लाहौर में शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। 26 नवम्बर, 1898 ई. में 'बच्छोवाली आर्यसमाज मन्दिर में 'वेद किन ग्रन्थों का नाम है' विषय पर शास्त्रार्थ हुआ और गोपीनाथ ने मुँह की खाई। अपनी झेंप मिटाने के लिए उसने सन् 1894 की होली के अवसर पर अपने समाचार में आर्य समाज पर छींटाकशी करते हुए आपत्तिजनक चुटकुले प्रकाशित किए। सरकार ने इन चुटकलों को सनातनियों और आर्यसमाजियों में वैमनस्य उत्पन्न करने वाले और भड़काऊ भाषा में उत्तेजना फैलाने वाले मानकर गोपीनाथ पर मुकदमा दायर कर दिया। इस मुकदमें में गोपीनाथ को सजा हो गई। अपील करने पर सजा जुर्माने में तब्दील हो गई।

इस परेशानी से अभी गोपीनाथ उभरा भी नहीं था कि रोपड़ की घटना में उसे क्षमा याचना करने पर बाध्य होना पड़ा। रोपड़ में सनातन धर्मियों ने आर्यसमाजियों का बहिष्कार किया और उसके सम्बन्ध में रोपड़ सनातन धर्मसभा के मन्त्री और उपमन्त्री के लेख गोपीनाथ के सम्पादकत्व में 'सनातन धर्म गजट' में निकले। रोपड़ के आर्य समाजियों ने इन लेखो के विरुद्ध लेखकों और सम्पादक पर मानहानि का मुकदमा दायर कर दिया। गोपीनाथ ने इस मुकदमें में क्षमा याचना की और साथ में 100 रुपये हरजाना भी दिया। लोगों ने यह फैलाया कि इस मुकदमें में असली हाथ मुंशीराम का है। यह सुनते ही गोपीनाथ आग–बबूला हो गया और मुंशीराम से बदला लेने की ताक में समय की प्रतीक्षा करने लगा।

मुंशीराम का रोपड़ वाली घटना से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे तो लाहौर शास्त्रार्थ के बाद गुरुकुल के लिए धन संग्रह करने की योजना में दत्तचित्त थे। शास्त्रार्थ के बाद ये पंजाब में ही चन्दे के लिए घूमते रहे। इसके बाद ये दक्षिण हैदाराबाद की यात्रा पर चल दिए, किन्तु वहाँ बीमार हो जाने के कारण अधिक काम नहीं हो सका।

लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित होना

स्वास्थ्य लाभ होने पर यह विचार बनाया कि भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में गुरुकुल योजना का प्रचार होना चाहिए। सुयोग से दिसम्बर, 18,99 ई. में लखनऊ अधिवेशन होने जा रहा था। इस अवसर का लाभ उठाने की इच्छा से मुंशीराम ने लखनऊ जाने का विचार बनाया। उस समय ये आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान भी थे[34]। अतः लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में इनके साथ लाहौर के बैरिस्टर रोशन लाल भी थे। ये इस अधिवेशन में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने जा रहे थे। लखनऊ में मुंशीराम दस रुपये शुल्क लेकर कांग्रेस शिविर में ही ठहरे। लाहौर कांग्रेस के मन्त्री ने उनसे प्रतिनिधि बनने के लिए निवेदन किया। मुंशीराम का स्पष्ट उत्तर था कि वे पाखण्ड के भागी नहीं बनना चाहते। फिर भी बिना फार्म भरे मन्त्री जी ने उनको प्रतिनिधि प्रमाण पत्र लाकर दे दिया। इसी अवधि में स्वर्गीय बाबू गंगा प्रसाद ने मुंशीराम को देख लिया और दर्शक का प्रवेश पत्र लाकर थमा दिया। अब मुंशीराम के हाथों में दो तलवारें थी। इस सब का परिणाम यह हुआ कि मुंशीराम का चेहरा दर्शकों की अपेक्षा मंच पर था।

मुंशीराम ने इस अधिवेशन का वर्णन करते हुए लिखा है–

"मंच पर बैठे हुए पहली च्रीज जो मैंने अनुभव की, वह यह थी कि 1893 ई. के लाहौर अधिवेशन के अनुपात में यहाँ मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या चौगुनी थी। अधिकांश मुस्लिम प्रतिनिधि अपने साधारण वस्त्रों पर सोने, चाँदी तथा रेशम के धागों से जड़े चोगे पहने हुए थे। यह अफवाह थी कि कांग्रेस के इस तमाशे के लिए किसी धनवान् हिन्दू ने ये चोगे लाकर दिये हैं। 433 मुसलमान प्रतिनिधियों में से केवल 30 ही बाहर से आये थे, और शेष सभी लखनऊ नगर के थे। इनमें से अधिकांश को मुफ्त में भोजन और निवास की सुविधा के साथ–साथ प्रतिनिधियों का स्थान दे दिया था। सर सैयद अहमद की कांग्रेस विरोधी मुस्लिम लीग ने एक सार्वजनिक सभा करके मुसलमानों को कांग्रेस के विरोध में समझाया था। इसकी प्रतिक्रिया में कांग्रेस–शिविर को रोशनियों से सजाया गया और अधिवेशन के आरम्भ होने से पूर्व यह विज्ञापित किया गया कि अधिवेशन में निःशुल्क प्रवेश दिया जाएगा। परिणाम यह निकला कि लखनऊ के सभी चण्डूखाने खाली हो गए और लगभग आधा दर्जन सभा मंचों से करीब तीस हजार हिन्दू मुसलमानों को सम्बोधित किया गया। वहीं पर मुसलमान प्रतिनिधि बनाए गए। ये सब बातें लखनऊ कांग्रेस के संयोजकों ने एकान्त में मेरे सामने स्वीकार की[40]।"

पाठक यह न समझें कि गुरुकुल की योजना में कांग्रेस की फच्चर क्यों ठोक दी। इस फच्चर की अपनी उपयोगिता है। इससे स्वामी श्रद्धानन्द के कांग्रेस के साथ सम्बन्धों की खटास का अनुमान लगाया जा सकता है, जो आगे चलकर अल विदाई का कारण बनी।

कांग्रेस के इस अधिवेशन में गुरुकुल की योजना के प्रचार में मुंशीराम को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और गुरुकुल योजना की 1500 प्रतियाँ वितरित की गई। एक रात्रि को सामाजिक सम्मेलन के समय कांग्रेस का पण्डाल मुंशीराम को सौंप दिया गया। इसकी अध्यक्षता काश्मीरी पंडित श्याम लाल ने की। इस सम्मेलन में मुंशीराम के प्राचीन आर्यजीवन की ब्रह्मचर्य–प्रणाली को पुनर्जीवित करने के विचारों ने राजनीतिज्ञों को निश्चित रूप में प्रभावित किया[49]।

8 अप्रैल, 1990 ई. को मुंशीराम की भीष्म प्रतिज्ञा पूरी हो गई और तीस हजार से अधिक लगभग 40 हजार रुपया नकद जमा हो गया। लाहौर आर्य समाज की तरफ से इस संकल्प की पूर्ति के उपलक्ष में लाहौर में मुंशीराम का जलूस निकाला गया और अभिनन्दन किया गया। इस प्रकार घर के सब काम–काज का त्याग कर, फलती–फूलती वकालत को धता बताकर, गुरुकुल

की स्थापना के लिए नगर–नगर, और डगर–डगर घूम कर चन्दा करने वाले मुंशीराम को आर्यसमाजियों ने 'महात्मा' पद से विभूषित किया। परन्तु मुंशीराम अपने आपको महात्मा की अपेक्षा 'जिज्ञासु' ही समझते रहे। गुरुकुल की योजना से लेकर और सन्यास ग्रहण करने से पूर्व तक ये अपने नाम के साथ 'जिज्ञासु' लगाना ही प्रिय समझते थे। इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने 'उर्दू ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' की भूमिका (1898 ई.) लिखते हुए अपने नाम के पश्चात् 'जिज्ञासु' लिखा है। इसी प्रकार 'उर्दू उपदेश मंजरी' (1898), 'स्वामी दयानन्द का पत्र–व्यवहार' (1910, 'द आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स (1910), ईसाई पक्षपात और आर्य समाज (1916), और विस्तारपूर्वक सन्ध्या विधि (1916) आदि पुस्तकों की भूमिका लिखते हुए अपने नाम के पीछे 'जिज्ञासु' शब्द का ही प्रयोग किया है। लेकिन लेखन क्षेत्र में 'जिज्ञासु' लिखने वाले मुंशीराम को सन्यास पूर्व तक सम्पूर्ण भारत में महात्मा मुंशीराम के नाम से ही जाना जाता था।

गुरुकुल के लिये स्थान का चयन

40 हजार के लगभग रुपया एकत्रित करने के उपरान्त महात्मा मुंशीराम को यह चिन्ता सता रही थी कि आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब शीघ्रातिशीघ्र गुरुकुल सम्बन्धी नियमावली को स्वीकृति प्रदान कर दे। प्रयास करके 26 दिसम्बर, 1900 ई. को गुरुकुल के नियम भी स्वीकार करा लिए। अब सबसे बड़ी समस्या यह थी कि गुरुकुल की स्थापना किस स्थान पर की जाए। 1900 ई. में ही लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। महात्मा मुंशीराम इस अधिवेशन की समाप्ति पर होने वाले सामाजिक सम्मेलन में भाग लेने की इच्छा से लाहौर पहुँचे। इससे पूर्व के कांग्रेस अधिवेशन की समाप्ति पर होने वाले सामाजिक सम्मेलनों के नाम के साथ राष्ट्रीय शब्द जुड़ा रहता था। परन्तु लाहौर के इस अधिवेशन में इस सम्मेलन के साथ लगे राष्ट्रीय शब्द को हटा दिया गया था। अब इसके द्वारा केवल हिन्दू समाज के सुधारों से सम्बन्धित प्रस्तावों पर विचार होना था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता रानाडे ने करनी थी, परन्तु अस्वस्थता के कारण यह कार्य भार गोखले पर आन पड़ा। और उनकी सहायता के लिए महात्मा मुंशीराम को नियुक्त कर दिया। इस सम्मेलन में गुरुकुल की योजना का प्रचार किया गया।

गुरुकुल की स्थापना के लिए पंजाब में मुफ्त मिलने वाली भूमियों के स्थान महात्मा मुंशीराम को नहीं जँचे। उनके मन में तो हरिद्वार के पार चण्डी पर्वत माला की उपत्यका पहले ही घर कर चुकी थीं। उन्हें एक आदर्श संस्थान के लिए आदर्श स्थान की आवश्यकता थी। 29 जौलाई, 1990 ई. में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की अन्तरंग सभा ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि हरिद्वार के पास गुरुकुल के लिए भूमि खरीद कर मकान इत्यादि बनवाए जाएँ। इस कार्य के लिए अन्तरंग सभा ने महात्मा मुंशीराम को भूमि क्रय, निर्माण और नियुक्तियों का सर्वाधिकार देकर प्रथम अधिष्ठाता नियुक्त कर दिया। गुरुकुल के लिए हरिद्वार के समीप भूमि खोजने का कार्य सहज नहीं था। जो भूमि पसन्द की जाती थी, उसका मूल्य इतना बढ़ा चढाकर मांगा जाता था कि सौदा पटना कठिन हो जाता था। ईश्वर जिसको देता है, छप्पर फाड़ कर भी देता है कि कहावत के अनुसार नजीबाबाद निवासी मुंशी अमन सिंह ने अपने मन में कांगड़ी गाँव में स्थित अपनी 1200 बीघा भूमि गुरुकुल को दान देने का संकल्प कर लिया और इसकी सूचना आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब को पहुँचा दी। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस संकल्प की सूचना पाते ही कांगड़ी ग्राम का निरीक्षण किया और उन्हें यह स्थान नितान्त पसन्द आया। क्योंकि यह स्थान यजुर्वेद के मन्त्र "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्" (पर्वतों की घाटियों में और नदियों के संगम स्थलों पर प्राप्त विद्या से बुद्धिबल की वृद्धि होती है) के अनुसार यहाँ पर्वत की घाटियाँ भी थीं और गंगा की दो धाराएँ बहती थीं। इसके साथ ही यह स्थान हरिद्वार और कनखल के शहरी वातावरण से चार कोस की दूरी पर था। इसी प्रकार

के स्थान को महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में शिक्षणालयों के लिए उपयुक्त स्थान माना है।

सन् 1901 में पुनः महात्मा मुंशीराम आर्यप्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हो गए। प्रधान निर्वाचित होने पर भी गुरुकुल का काम सरल नहीं हुआ, अपितु विरोध बना ही रहा। इसकी पुष्टि महात्मा जी द्वारा गुरुदत्त को लिखे पत्र से ही इस प्रकार होती है–

जालन्धर शहर

30 अक्टूबर, 1901

प्रिय पुत्र गुरुदत्त जी, नमस्ते।

आपका पत्र पहुँच गया, वजह जवाब न लिखने की यह हुई कि मैं फिर सभा की प्रधान पदवी पर फंस गया हूँ। काम सख्त है, 5 नवम्बर को तुम तो चल ही दोगे, यहाँ कुल बातचीत हो जावेगी। लेकिन मुख्तसिर यह है कि मैं प्रधान मुकर्रर हो गया हूँ। गुरुकुल का मुआमला गले पड़ गया है। मुखालफत का जोर है। पर अब सब दुनियाबी झगड़ों से अलग होकर काम करने की जरुरत है। पर बाद 30 नवम्बर से सब लड़कियों को अपनी–अपनी जगह भेज दूंगा और गुरुकुल के पीछे लगूंगा। परमेश्वर पर भरोसा करके काम करना है। पर इस हालत में सुमित्रा को भी अन्यत्र जाना पड़ेगा, अगर माता जी को रखना हो तो अपने साथ न लाना, वहीं छोड़ आना, ताकि दोबारा खर्च आमदोरफ्त न करना पड़े।

सुमित्रा अच्छी है लेकिन बदपरहेजी से कभी–कभी तबियत खराब कर लेती है। मैं भी अच्छा हूँ। जरुर सात तक पहुँच जाना। बाकी सब खैरियत है।

मुंशीराम

सद्धर्म प्रचारक पर मान-हानि का मुकदमा

गोपी नाथ के मुकदमें का वर्णन पिछले पृष्ठों में पाठक पढ़ चुके हैं। गोपीनाथ इस ताक में था कि मुंशीराम की गर्दन किस प्रकार पकड़ी जाए। 'सद्धर्म प्रचारक' के दिनांक 1, 8 और 15 फरवरी, 1901 ई. के अंकों में गोपीनाथ के सम्बन्ध में अपमानजनक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थी। इन टिप्पणियों के प्रकाशन की अवधि में मुंशीराम जालन्धर में नहीं थे। सहायक सम्पादक लाला वजीर चन्द ने ये टिप्पणियाँ लिखी थीं। इन टिप्पणियों के आधार पर लाहौर के प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश क्लेवर्ट की अदालत में गोपीनाथ ने मुंशीराम, वजीर चन्द और मैनेजर के नाते बस्तीराम पर मानहानि का दावा दायर कर दिया। इस मुकदमें में गोपीनाथ की तरफ से एक अंग्रेज को वकील बनाया गया और मुंशीराम के पक्ष की ओर से रायजादा भक्तराम (मुंशीराम का साला) वकील बने। यह मुकदमा दो पार्टियों का न रह कर सनातन धर्म और आर्यसमाज का बन गया। 26 अप्रैल, 1901 ई. को मुकदमे की पहली पेशी हुई। इस पेशी में गोपीनाथ की गवाही होनी थी। भक्तराम वकील ने मुंशीराम से पूछा कि कोई मसाला भी है या नहीं ? जिरह में क्या पूछा जाएगा ? मुंशीराम का उत्तर था – मसाला तो कुछ नहीं, एक ईश्वर का भरोसा है। दोनों खाली हाथ अदालत में पहुँच गए। गोपीनाथ जब अदालत में अपना बयान दे रहा था, तो अदालत में खड़े मुंशीराम के हाथों में किसी ने कागजों का एक पुलिन्दा पकड़ा दिया। लंच के समय जब उन कागजों की पड़ताल की गई तो देखा कि गोपीनाथ की बदचलनियों का ढेर सामने पड़ा था।[42] 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेन्ट' के मुंशी करीमबख्श को उन चिट्ठियों के आधार पर सफाई की ओर से गवाह पेश किया गया।

गवाह से बयान का सारांश था कि वह गोपीनाथ का लंगोटियाँ दोस्त है। गोपीनाथ बहुत सी वेश्याएँ रखता है, जिनमें से कुछ के नाम हैं बरकत जान, मुन्नी जान, नाज़ और मोती जान, अनारकली की एक यहुदिन के साथ भी उसका अनैतिक सम्बन्ध था। अदालत में प्रस्तुत किए गए ये पत्र उसी की मार्फत आते थे। गोपीनाथ ने उसको बताया था कि काश्मीर से पन्द्रह हजार रुपया मिला था। उसने उसके साथ गाय का मांस कई बार खाया है। वह शराब भी पीता है।[43]

छः मास मुकदमा चलने के बाद 2 सितम्बर 1901 ई. में न्यायाधीश ने मुंशीराम आदि को निर्दोष माना। न्यायाधीश ने फैसले में लिखा कि गोपीनाथ गुर्टु ब्राह्मण तो क्या, काश्मीरी भी है कि नहीं, इसमें सन्देह है। 'अखबारे आम' में गोहत्या पर लिखे लेख इसी के हैं, और इसके दिमाग की उपज है जो कि मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए लिखे गए हैं[44]। गोपीनाथ के चारित्रिक पतन की कहानी को सुनकर जहाँ सनातनियों के सिर शर्म के मारे झुक गए वहाँ आर्यसमाजियों को अपनी जीत पर दुःखमयी प्रसन्नता हुई, क्योंकि सनातन धर्म भी हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं का एक भाग है। अन्य धर्मावलम्बियों (ईसाई, मुसलमान) की दृष्टि में तो हिन्दू–हिन्दू है, चाहे वह सनातनी हो और चाहे आर्यसमाजी। गोपीनाथ के चरित्र से सम्पूर्ण हिन्दू पौरोहित्य प्रणाली पर कलंक का टीका लग गया।

सन्दर्भ (दूसरा अध्याय)

1. भवानी लाल भारतीय, स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली खण्ड एक पृ. 98
2. " " 100-1
3. " " 101
4. " " 103
5. " " 104
6. " " 111-112
7. " " 112
8. " " 114
9. (क) " " 117

   (ख) राम प्रकाश, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी 51
10. भवानी लाल भारतीय खण्ड एक 121
11. " " 128
12. " " 133
13. " " 134
14. " " 147
15. " " 151
16. " " 159
17. " " 159
18. " " खण्ड पाँच 23
19. इन्द्र वही 3-5
20. भवानी लाल भारतीय खण्ड एक 173
21. " " " 197
22. राम प्रकाश वही 46
23. भवानी लाल भारतीय " खण्ड एक 211
24. " " " 212
25. " " " 212
26. " " " 213
27. " " " 213
28. " " " 214

29. इन्द्र वही 15-16
30. भवानी लाल भारतीय " खण्ड एक 215
31. सत्यदेव स्वामी श्रद्धानन्द 229
32. " " 249-50
33. जी.टी.एफ.जोर्डेन्स, स्वामी श्रद्धानन्द हिज लाइफ एण्ड कॉजेज 36
34. इन्द्र वही 245-46
35. " " 247
36. " " 49
37. भवानी लाल भारतीय " खण्ड पांच 30
38. इन्द्र वही 57-59
39. सार्वदेशिक सभा दिल्ली, आर्य निर्देशिका 6
40. भवानी लाल भारतीय " वही खण्ड पांच 31
41. " " 33
42. इन्द्र वही 44-45
43. सत्यदेव वही 268-69
44. विस्तृत जानकारी के लिए स्वामी श्रद्धानन्द लिखित 'सद्धर्म प्रचारक पर पहला लाइबल केस' पढ़िए)

तीसरा अध्याय

श्रद्धा का प्रकाश स्तम्भ गुरुकुल (1902-1917)

कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना

22 अक्टूबर, 1901 ई0 को सभा ने भूमिदान के लिए मुंशी अमन सिंह का धन्यवाद किया और साथ में यह निश्चय भी किया कि वहाँ मकान आदि बनवाकर 21, 22, 23 और 24 मार्च, 1902 को गुरुकुल का जन्मोत्सव मनाया जाए। परन्तु दिसम्बर, 1901 ई0 तक कांगड़ी की भूमि के सम्बन्ध में सभा की ओर से कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। गुरुदत्त को लिखे अपने पत्र में महात्मा जी यह संकेत दे चुके थे कि वे लड़कियों को अपने—अपने स्थानों पर भेज कर और परिवार की चिन्ता से मुक्त होकर गुरुकुल के पीछे लगेंगे। इस प्रकार नगरवासी मुंशी राम ने स्वेच्छा से वनवासी महात्मा मुंशीराम बनने के लिए सर्वमेध यज्ञ का दूसरा चरण आगे बढ़ाने का निर्णय लिया और वे 6 जनवरी, 1902 ई. को कनखल पहुँच गए। वहाँ उन्होंने नजीबाबाद वालों की कोठी में अपना डेरा जमाया। उत्सव की तिथियों (होली पर्व) तक गुरुकुल खोलना बड़े परिश्रम का काम था। महात्मा मुंशी राम ने अपनी बेटी सुमित्रा को पत्र लिखते हुए इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे—

कनखल

9—1—1902

मेरी प्यारी पुत्री सुमित्रा, नमस्ते।

मैं 6 जनवरी को दोपहर को यहाँ पहुँच गया था, तब से बराबर गुरुकुल के स्थान का काम कर रहा हूँ आज तक किसी ने यहाँ कुछ भी न किया था, अतएव होलियों तक यहाँ गुरुकुल खोलने के लिए बहुत ही परिश्रम करना पड़ेगा। तुम्हें ज्ञात होगा कि गुरुकुल के लिये एक ग्राम मिला है, जहाँ गुरुकुल मन्दिर बनाना है। आज मैं अपना सब सामान लेकर वहाँ चला जाऊँगा। छप्परों में रहना होगा, तथा जंगल का सहवास होगा। यहाँ से यह स्थान 2½ मील दूर है। ईश्वर पर भरोसा करके चला हूँ, वही जगदीश्वर इस कार्य को भी पूरा करेंगे। तुम अब अपने स्वास्थ्य का समाचार लिखो तथा अपनी सम्बन्धिनी का हाल लिखो जिसे तुम अपने साथ ले गई थी। अब उस समय तक, जब तक गुरुकुल यहाँ न खुल जावे, मैं तुम्हें नियमपूर्वक नहीं लिख सकूँगा, क्योंकि इस समय दौड़—धूप का बड़ा काम है। किन्तु तुम अवश्य अपने तथा परिवारों के समाचार लिखती रहना। गुरुदत्त जी को नमस्ते कह देना, फिर जब अवकाश मिलेगा तो उनको भी जुदा पत्र लिखूँगा।

तुम्हारा शुभचिन्तक पिता

मुंशीराम

जंगल को अपना सहवासी बनाकर इस दुर्गम स्थान को जन निवास के योग्य बनाने में महात्मा जी ने क्या—क्या पापड़ नहीं बेले। कहाँ—कहाँ नहीं फिरे? कठिन परिश्रम और दृढ़ संकल्प के भरोसे निवास योग्य कुछ छप्पर आदि की व्यवस्था हो गई और कटीली झाड़ियों से संकुल वनपथ भी जनपथ के रूप में परिवर्तित होता दिखाई पड़ा। इस वन्य प्रदेश में महात्मा जी प्रातः से रात्रि तक अपने आपको सदा व्यस्त रखते थे। निर्जन वन का एकान्त निवास उन्हें कभी अखरा नहीं। हाँ, उन्होंने इतना अवश्य किया कि गुरुकुल का सम्पूर्ण दायित्व आने पर आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान पद से त्याग—पत्र दे दिया और सर्वभावेन गुरुकुल के लिए समर्पित हो गए। उन्होंने गुरुकुल भूमि, कांगड़ी से सबसे पहला

पत्र सुमित्रा को लिखा। इस पत्र में अपने भावी जीवन के संकेत देते हुए दिनचर्या का वर्णन किया गया है। पत्र का कलेवर इस प्रकार है–

गुरुकुल भूमि, कांगड़ी, वाया हरिद्वार
2 फरवरी, 1902

प्यारी पुत्री सुमित्रा, नमस्ते।

तुम्हारा 16 जनवरी का पत्र फिरता–फिराता आज मुझे यहाँ ही आ मिला। इस अन्तर में कितना कष्ट मुझे हुआ और कहाँ मैं फिरा इसके लिखने की आवश्यकता नहीं रही, अब यहाँ आ गया हूँ और यहाँ ही रहूँगा। सभा का प्रधान पद मैंने छोड़ दिया है। केवल गुरुकुल की सेवा में अब जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। यदि आर्य पुरुषों को स्वीकार हुआ तो ठीक है। नहीं तो अपने परिवार की उन्नति में लगूँगा।

1. अब मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। झोंपड़ी का रहना मेरे अनुकूल पड़ेगा।

2. तुम अपना समाचार अब विस्तारपूर्वक लिखो, तुम्हारे शरीर की अवस्था तो गुरुदत्त के लेख से अच्छी प्रतीत होती है।

3. मेरा समय विभाग यह है कि 4 बजे प्रातः उठकर 2½ घण्टा लेख का काम करता हूँ, फिर स्नान सन्ध्या के पश्चात् व्यायाम करके 1½ मील परे गुरुकुल मन्दिर का काम देखने जाता हूँ। 11 बजे लौटकर भोजन, 3 बजे तक फिर लेख का काम, साढ़े पाँच बजे तक फिर मन्दिर का काम, सन्ध्या भोजन के पश्चात 10 बजे फिर लेख का काम। अवकाश नहीं मिलता, तुम अवश्य पत्र लिखा करो।

मुंशीराम

महात्मा मुंशीराम ने हिम्मत करके मनुष्यों के लिए दुर्गम, हिंसक पशुओं से परिपूर्ण और कटीली झाड़ियों से संकुल कांगड़ी ग्राम के जंगल में कुछ छप्पर डलवा दिए, जिससे गुरुकुल जन्मोत्सव के समय ब्रह्मचारियों और अतिथियों के ठहरने की व्यवस्था हो सके। लेकिन हरिद्वार में प्लेग नामक बीमारी के फैल जाने के कारण आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब को अपने पूर्व निर्णय में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। सभा की दिनांक 19 जनवरी, 1902 की बैठक में यह निर्णय लिया कि गुरुकुल का जन्मोत्सव प्लेग के कारण सार्वजनिक रूप में नहीं मनाया जाएगा। इसके लिए किसी को निमन्त्रण पत्र भी नहीं भेजा जायेगा और न सभा की ओर से आने वालों के ठहरने की कोई व्यवस्था की जायेगी। इस निर्णय की सूचना समाचार पत्रों में भी प्रकाशित करवा दी गई।

गुरुकुल में ब्रह्मचारियों के निवास, अध्ययन और भोजन आदि के लिए काम चलाऊ प्रबन्ध हो गया। लेकिन इन छप्परों में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी कहां से आएँगें? इस समस्या का निदान महात्मा मुंशीराम पहले ही कर चुके थे। जालन्धर आर्य समाज भवन में वैदिक पाठशाला नामक एक संस्था विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए खोली गई थी। यह पाठशाला एक प्रकार से गुरुकुल के वटवृक्ष का बीज थी। और आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में चलती थी। गुरुकुल की योजना पक्की हो जाने पर आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के आदेश से यह पाठशाला गुजरानवाला स्थानान्तरित कर दी गई और इसे अस्थायी गुरुकुल की पूर्वपीठिका के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। यहां से यह पाठशाला कांगड़ी ग्राम के गुरुकुल में स्थानान्तरित होनी है, यह सभी विद्यार्थियों, उनके अभिभावकों और अध्यापकों को पता था। मंहात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल कांगड़ी में अपने दोनो पुत्रों कों भेजने का मन बहुत पहले ही बना रखा था। सवमेध यज्ञ की पूर्ति के लिए महात्मा जी ने दोआबा स्कूल की छठी ओर सातवीं कक्षाओं में पढ़ने वाले अपने दोनो पुत्रों हरिश्चन्द्र और इन्द्र को स्कूल से उठा कर गुजरानवाला की वैदिक

पाठशाला में भेज दिया। महात्मा जी के इस कृत्य से लोगों के मनों में श्रद्धा उत्पन्न हुई। इस पाठशाला में वे सब से छोटे बच्चे थे। 22 फरवरी 1902, ई0 को महात्मा जी गुजरानवाला की पाठशाला के विद्यार्थियों को लेकर चल पड़े और 4 मार्च को गुरुकुल कांगड़ी में पहुँच गये। इसकी सूचना एक पत्र से इस प्रकार मिलती है–

प्रिय पुत्र गुरुदत्त जी, नमस्ते।

अफसोस कि मैं तुम्हें खत न लिख सका। 22 फरवरी को यहाँ ये चल कर 32 ब्रह्मचारियों को 4 मार्च तक यहाँ ले आया हूँ। अब यहाँ जंगल में , आनन्द पूर्वक ब्रह्मचारी पढ़ते हैं। एक पल की मुझे फुरसत नहीं हैं, यह वजह है कि न तुम्हें पत्र लिख सका, न सुमित्रा को जवाब दे सका। जालन्धर से आकर अमृतकला को भी कोई पत्र नहीं लिख सका।

पुत्री का नाम सुमित्रा ने पूछा था, मैंने चन्द्रकला नाम रख दिया है, यही नाम रख देना, यदि अभी तक नामकरण न हुआ हो। मैं दिन–रात काम में रहता हूँ। एक पल का अवकाश नही, एक तरफ इमारत बन रहीं है, दूसरी तरफ ब्रह्मचारियों के भोजन आदि की फ्रिक हैं, तीसरी तरफ उनकों तालीम और वह भी सारे जग से निराली। ईश्वर की दया से आशा है कि काम चल निकलेगा। इस वक्त मुझे अपने लिए रुपये की जरुरत हैं, अगर स्पेयर कर सको, तो भेज देना, सुमित्रा को पन्द्रह दिनों तक और नहीं भेज सकूँगा, फिर लिखूँगां मुफस्सल।

मुंशीराम

उपर्युक्त पत्र से यह तो पुष्ट हो गया कि महात्मा जी 4 मार्च को गुरुकुल कांगडी पहुँच गए। परन्तु हरिद्वार से गुरुकुल कांगडी पहुँचने का विवरण इस पत्र में नहीं दिया गया है। इसकी पूर्ति इन्द्र ने की है। इन्द्र उन ब्रह्मचारियों में से एक थे जो स्वामीजी के साथ गुरुकुल कांगडी की नवीन शिक्षण स्थली में हरिद्वार से कांगडी तक पैदल चलकर पहुँचे थे। इस पैदल यात्रा का वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है कि––

"शीत ऋतु के अन्तिम दिन थे। सांयकाल के चार बजे के लगभग हम कोई एक दर्जन बच्चे पंजाब से आने वाली गाड़ी से हरिद्वार के स्टेशन पर उतरे। हम गुजरानवाला से पिता जी के साथ आए थे। जालन्धर से हमारी मण्डली में भंडारी शालिग्राम जी दो–तीन बच्चों को साथ लेकर सम्मिलित हो गए थे। स्टेशन पर आचार्य गंगादत्त जी कई सज्जनों के साथ स्वागत के लिए आए हुए थे।

जब हम लोग स्टेशन पर उतर कर सामान के पास बैठे तो कुछ ईसाई पादरी ओर पादरिनें हमारे वेश से आकृष्ट होकर वहाँ आ गई। सब बालकों ने धोती का एक छोर बाँधा हुआ था ओर दूसरा छोर गले में डाला हुआ था। शरीर पर कुर्ता था और हाथ में एक–एक लाठी थी। वे हमें कुछ देर तक ध्यान से देखने और आपस में चर्चा करने के बाद पिता जी के पास आकर पूछताछ करने लगे। हमें उन्होने मिश्नरी संस्था के बालक समझा और हम लोगों के स्वास्थ्य की प्रशंसा की।

स्टेशन से निकल कर एक जलूस बनाया गया। सबसे आगे पिता जी और पं0 गंगादत्त जी थे, उनके पीछे महर्षि दयानन्द का बड़ा चित्र लिए एक सज्जन थे, जिनका नाम तोता राम था। उनके पीछे दो–दो की पंक्ति में हम लोग थे। स्टेशन से निकलते ही हम लोगों ने प्रार्थना के आठ मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ आरम्भ कर दिया और निरन्तर करते–रहे, जब तक जलूस कनखल से पार न हो गया। हम लोग स्टेशन से चलकर मायापुर के पुल से उतर कर कनखल के बाजार में पहुँचे और सारे बाजार का चक्कर काटते हुए दक्ष के मन्दिर पर जा पहुँचे। इस सारे–रास्ते में सब लोग निरन्तर वेद–मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ करते रहे। हरिद्वार और कनखल तब मुख्य रूप से यात्रियों और

पण्डों के शहर थे, वे सनातन धर्म के गढ़ समझे जाते थें। अब तो धीरे–धीरे उनमें कुछ नवीनता का संचार हो गया हैं, पर उस समय तो वे सनातनता के स्तम्भ थे। ओं के झण्डे और वेद–मन्त्रों के खुले पाठ को वे बहुत ही आश्चर्य भरी दृष्टि से देख रहे थे। वे हम लोगों को किसी दूसरी दुनियां के प्राणी समझ कर विनोद अनुभव कर रहे थे। दक्ष का मन्दिर पार करके हमने वेद--पाठियों का रूप छोड़ कर यात्रियों का रूप धारण कर लिया। हम गुजरानवाला में ही सुन चुके थे कि हरिद्वार के समीप गंगा के उस पार कांगडी नामक ग्राम गुरुकुल के लिए दान में मिला हैं। हम लोग वहीं से ले जाए जा रहे थे। बच्चों के लिए सब कुछ नया था। दक्ष के के मन्दिर से आगे चलते ही रास्ता गंगा की रेती में उतर गया जहां गोल पत्थरों ओर बालू के दो मील चौड़े नदी के स्तर पर दो–तीन पुल बने हुये थे।

सूर्य अस्ताचल को पहुँच चुका था और अन्धकार के साथ सर्दी आकाश से उतर रहीं थी। हम बालक नई दुनिया को देखने की उत्सुकता से प्रेरित होकर नंगे पाँव उस पत्थर और बालू के मार्ग पर तेज गति से चले जा रहें थे। जंगल के कटीले रास्तों में हम बढ़ते जा रहे थे कि इतने में पीछे से आवाज आई—

प्रधान जी हम तो रास्ता भूल गए। यह पगडंडी गुरुकुल को नहीं कांगड़ी ग्राम को जा रहीं हैं। यह सुनकर पिता जी ने कहा–तब तो हमें कांगडी के नाले से होकर जाना पडेगा। मग्धरसिंह से कहो कि लालटेन लेकर आगे–आगे चले। मग्धर सिंह लालटेन हाथ में लटकाये आगे--आगे हुआ और तीर्थयात्रियों की लम्बी पंक्ति उसके पीछे खैरों के कांटों को रौंदती हुई चली।

जिस समय यह निशा–यात्रा समाप्त हुई, आकाश में चाँदनी के धवल प्रकाश में जो सुन्दर दृश्य दिखाई दिया, वह अब तक भूला नहीं है। घने जंगल के बीचों–बीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया था। उसमें एक ओर फूस के छप्परों की एक लम्बी पंक्ति थी, जो छात्रों के रहने का आश्रम स्थान था। उसके साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परों की पंक्ति में भोजन–भण्डार था। उसके बीच के कोने में एक स्विस काटेज लगा हुआ था, जो प्रधान जी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी। इन छप्परों से कुछ दूर दो छप्पर डाल कर गौशाला बनाई गई थी। यह फूस के छप्परों का डेरा उस खिली हुई चाँदनी में अद्भुत शोभा दिखा रहा था। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़ें में पहुँच गए हैं।

उपर्युक्त विस्तृत उद्धरण देने का अभिप्राय यह है कि पाठकों को यह पता चल जाए कि गुरुकुल जन्मोत्सव की तैयारी के लिए अल्पावधि में ही महात्मा मुंशी राम ने कितना कार्य कर दिया था।

नवीन ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार

गुरुकुल का जन्मोत्सव निश्चित तिथियों में होली के अवसर पर हुआ। बिना निमन्त्रण पत्र के भी 500 के लगभग आर्य जन वहाँ पहुँच गए। उत्सव के प्रथम तीन दिन हवन, उपदेश और सत्संग आदि के कार्य होते रहें। चौथे दिन 24 मार्च को 45 नवीन ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार हुआ और चैत्र वदी प्रतिपदा को विधिवत् पढ़ाई आरम्भ हो गई[2]। सुकुमार वय के ब्रह्मचारी वन्य पक्षियों–पशुओं के मध्य पलते हुए वन्य भूमि को सुरनदी की ध्वनि के साथ वेद ध्वनि करते हुए गुंजायमान कर रहे थे। अब यह भूमि ऋषि आश्रम तुल्य थी, जहाँ यज्ञ का धुआँ और गौएं विचरती दिखाई पड़ती थीं।

गुरुकुल के प्रथम वेदारम्भ संस्कार की गरिमा का वर्णन करते हुए एक प्रत्यक्षदर्शी प्रमुख ईसाई प्रचारक ने लिखा है कि तत्पश्चात् बालकों के अभिभावकों में से एक उन सबका प्रतिनिधि बन कर खड़ा हुआ और उसने ब्रह्मचारियों से तीन प्रतिज्ञायें करवाई कि जब तक तुम पच्चीस वर्ष के नहीं हो जाते,

उस समय तक सत्रह वर्ष (आठ वर्ष पूरे करने पर प्रवेश होता था) गुरुकुल में रह कर आज्ञापालन, पवित्रता और अपरिग्रह का जीवन व्यतीत करोगें। प्रत्येक प्रतिज्ञा का भाव उन्हें भली–भाँति समझाया गया, तत्पश्चात् वे प्रतिज्ञाएं उनसे कराई गई। यह हो जाने पर उन्हें लकड़ी की खडाँऊ दी गई, जो दूसरों की सहायता तथा अन्यों के प्रति कल्याण का प्रतीक है। तदुपरान्त उनका जल से अभिषेक किया गया। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यह क्रिया पृथक रूप से की गई। हाथ, पैर, मुख, नेत्र, कान आदि पर जल सिंचन किया गया।

अपने होठों पर अंगुली रखकर उन्होनें प्रतिज्ञा की कि वे अब से वे परमात्मा के प्रति समर्पित हैं। उन्हें स्मरण कराया गया कि अब उनका मुख पवित्र हो गया हैं, अतः उसका प्रयोग सत्य, पवित्र और उदार वाणी में ही होगा। इसी प्रकार उनके कान, जो हाथों से स्पर्श किये गये हैं तथा पवित्र हुए हैं आगे से अदूषित और मधुर वाणी ही सुनेगें। इसके उपरान्त वे अपने आचार्य तथा गुरु को सौंप दिए गए, जो अगले सत्रह वर्षों तक उनके लिए पिता–तुल्य पूज्य होगा। आचार्य ने इन छात्रों के लिए एक अत्यन्त प्रभावशाली तथा प्रिय उपदेश दिया। उसने उन्हें अपना बच्चा ही समझ कर अत्यन्त सादगी, प्रेम और सच्चाई के साथ, सम्बोधित किया।

इस अनुशासनात्मक सम्बोधन के पश्चात् उन्हें दीक्षा सूचक दण्ड दिया गया तथा उनको कहा गया कि वे इसका प्रयोग आत्म रक्षा, असहायों की रक्षा तथा किसी अन्य धर्म पूर्ण कार्य में ही करेंगे। इसके पश्चात् उन्हें उपस्थित लोगों से भिक्षा माँगने के लिए भेजा गया जो आकिंचनता, मानवता तथा पवित्र याचना युक्त जीवन जीने का प्रतीक था। "इस प्रकार यह प्रभावशाली संस्कार समाप्त हुआ।"

ब्रह्मचारियों की दिनचर्या

नागरिक सुविधाओं से शून्य निर्जन कान्तार में कमनीय किशोरों की दिनचर्या तथा इनके संरक्षण का सम्पूर्ण दायित्व महात्मा मुंशीराम का ही था। वस्तुतः वे ही ब्रह्मचारियों के लिए सर्वेसर्वा थें। गुरुकुल के एक स्नातक ने कालिदास के रघुवंश के प्रथम सर्ग के एक श्लोक को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करते हुए गुरुकुल के उत्सव पर कहा था—

छात्राणां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरो ऽस्माक केवलं जन्म हेतवः।।[3]

अर्थात् महात्मा मुंशीराम ब्रह्मचारियों में विनय भाव उत्पन्न कराने, उनकी रक्षा करने और सबका भरण–पोषण करने के कारण उनके वास्तविक पिता है। माता–पिता तो केवल जन्म देने वाले ही हैं।

हम महात्मा मुंशीराम के संरक्षण दायित्व पर लेखनी चलाने से पूर्व ब्रह्मचारियों की दिनचर्या, वेशभूषा और अभिभावकों से मिलने सम्बन्धी नियमों के विषय में लिखना उचित समझते हैं, जिससे हमें महात्मा मुंशी राम द्वारा स्थापित गुरुकुल के आदर्शों का अनुमान हो सके।

गुरुकुल में प्रत्येक ब्रह्मचारी को चार बजे उठना पड़ता था। यदि किसी कारण घण्टी की आवाज न सुनकर कोई ब्रह्मचारी नहीं उठता था तो अधिष्ठाताओं (वार्डन, संरक्षक) द्वारा उठाया जाता था। उठकर फौजी अनुशासन के समान अपना बिस्तर लपेटता और यथास्थान रखना पड़ता था। एतत्पश्चात मुँह–हाथ धोकर प्रार्थना के लिए एकत्र होना अनिवार्य था। प्रार्थना के बाद अधिष्ठाता के साथ दाँए हाथ में दण्ड, बाँए हाथ में जलभरा लोटा, और बगल में जाँघियां ओर धोती लेकर शौच से निवृत्त होने जंगल में चले जाते थे। शौच के उपरान्त दण्ड की सहायता से दातून तोड़ते ओर कुल्ला आदि करके रेत में कबड्डी खेलते और दण्ड–बैठक लगाते। दो–दो सौ दण्ड और बैठक लगाना सुकुमार बालकों के बाँए हाथ का खेल था। इसके पश्चात् कुछ देर विश्राम करके स्नान करते थे। अत्यन्त सर्दी के दिनों को छोड़कर शेष दिनों में गंगा की नीलधारा में गोते लगाकर ही स्नान किया जाता था।

उसके पश्चात् यज्ञशाला में आकर सन्ध्या–हवन की विधि पूरी की जाती थी। हवन के पश्चात् महात्मा जी का उपदेश होता था। उपदेश के बाद दूध की घण्टी बजती थी और प्रत्येक ब्रह्मचारी को आधा सेर शुद्ध दूध मिलता था।

इसके उपरान्त पढ़ाई का कार्य आरम्भ होता था और मध्यान्ह भोजन का समय होता था। गुरुकुल की अपनी ही पाठ विधि थी। भारत के शिक्षा क्षेत्र में सरकारी तंत्र से हट कर आर्ष पाठ विधि की शिक्षा का यह प्रथम प्रयास था। गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली में रेमजे मैकडानल्ड़ ने एक लेख में लिखा था कि "सन् 1935 ई0 में मैकाले ने सहकारी पत्रक में अपने विचार प्रस्तुत किए थे। तब से भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में किये गये प्रयासों में से यह सबसे अधिक महत्व पूर्ण है। उन विचारों से भारत में प्रत्येक असन्तुष्ट है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, गुरुकुल के प्रवर्तकों के अतिरिक्त किसी ने भी अपने असन्तोष को नवीन प्रयोग के रूप में परिणित नहीं किया[4] है।

पाठ विधि

इसी नवीन प्रयोग के शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में स्वामी श्रद्धानन्द ने 1925 में लिखा था "आजकल गुरुकुलों के कुछ संचालकों में शिक्षाक्रम पर मतभेद हो रहा है। ऋषि दयानन्द ने वैदिक शिक्षा के सर्वविषय गिना दिए है। उनका परिज्ञान प्राप्त करने के लिए शिष्यों की बुद्धि भेद से समय भेद होता ही रहेगा। संसार की अवस्था के परिवर्तन के कारण उसके क्रम में भी कोई भेद आता रहेगा। यह सब गौण बातें हैं। मुख्य बात यह हैं कि शुद्ध आर्ष ग्रन्थों की शिक्षा और विषमय अनार्ष ग्रन्थों का त्याग। ग्रन्थ गौण है। ग्रन्थों में लिखे शब्द और इनका सम्बन्ध गौण है। मुख्य तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, और आत्मा की समान शिक्षा है। शिक्षा सार्वदेशिक होनी चाहिए न कि एक देशी[5]।

स्वामी जी की 1925 की मान्यता का पालन संन्यासी बनने पूर्व महात्मा मुंशीराम नाम से गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता एवं संस्थापक कहलाने वाले ने कहाँ तक किया, इसका विश्लेषण गुरुकुल की पाठ विधि को देख कर ही किया जा सकता हैं। शुरु–शुरु में गुरुकुल कांगड़ी के विद्यालय–विभाग में संस्कृत साहित्य, संस्कृत व्याकरण, इतिहास और धातु पाठ ही पढ़ाये जाते थे। संस्कृत साहित्य और संस्कृत व्याकरण की शिक्षा ऋषि दयानन्द के सत्यार्थ–प्रकाश में दी गई आर्ष पाठ विधि के अनुसार ही दी जाती थी। जबकि महात्मा मुंशीराम ने स्वयं संस्कृत की शिक्षा अनार्ष पाठ विधि 'लघु कौमुदी' द्वारा प्राप्त की। आर्ष पाठ विधि के प्रति अगाध श्रद्धा होते हुए भी महात्मा मुंशीराम अपने जीवन में तुलसी कृत "रामरचित मानस" के प्रभाव को कभी दूर नहीं कर सके। गुरुकुलीय जीवन में बात–बात पर वे "रामचरित मानस' को उद्धृत करते रहते थे।

'कल्याण मार्ग के पथिक' की प्रस्तावना में स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा हैं" अपनी निर्माण की पाठ विधि में आचार्य ने'सर्वभाषा ग्रन्थ' त्याज्य लिखे है। इस पर सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में इस प्रकार प्रश्नोत्तर किया है–

प्रश्न– क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं?

उत्तर– थोड़ा सत्य तो हैं, परन्तु उसके साथ बहुत सा असत्य भी है। इससे ...जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता हैं वैसे ये ग्रन्थ है।

आचार्य का यह लेख महत्वपूर्ण है। आजकल कुछ ऐसे आर्यसमाजी भी हैं जो यह समझते हैं कि किसी भाषा ग्रन्थ को न पढ़ना चाहिए। यह उनकी भूल है। ऋषि ने उनमें यत्किंचित् सत्य भी माना है। किन्तु बाल्यावस्था में शिक्षा ग्रहण करने के लिए संकेत दिया हैं कि वेद शास्त्रानुकूल नये भाषा–ग्रन्थों का निर्माण करना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार गृहस्थों के लिए आचार्य ने आज्ञा दी

है कि सत्य का मण्डन और असत्य मत का खण्डन सीखकर सदाचार पूर्वक विदेश में जाने से हानि नहीं उसी प्रकार गुरुकुलों तथा राष्ट्रीय विद्यालयों में भी शिक्षा समाप्त करने के पीछे पुराने भाषा–कवियों के ग्रन्थ पढ़ने से लाभ ही होगा। मैनें इस कहानी में दिखलाया है कि आर्य संस्कृति के गिरे से गिरे समय में भी तुलसीदस आदि की कविताओं ने आर्य संस्कृति को लुप्त होने से बचाया है[6]।

ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में बड़े विस्तार के साथ 'पठनपाठन विधि' लिखी हैं। इस विधि के अनुसार प्रथम पाणिनिमुनि कृत शिक्षा तद्नन्तर अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादि गण, महाभाष्य पढ़ावे। महाभाष्य के उपरान्त यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, तद्नन्तर पूर्वमीमांसा, वैशोषिक, न्याय, योग, सांरव्य, और वेदान्त पढ़ावे[7]। गुरुकुल कांगडी में दसवीं श्रेणी तक मीमांसा दर्शन को छोड़कर शेष पाँचों दर्शन तथा उन दर्शनों की प्रसिद्ध टीकाएँ, सम्पूर्ण अष्टाध्यायी, धातुपाठ, महाभाष्य और निरुक्त पढ़ा दिये जाते थे।

ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में भाषा ग्रन्थों के समान संस्कृत के कुछ ग्रन्थों को अनार्ष कह कर अपठनीय माना है। इस प्रकार के ग्रन्थों में कालिदास का 'रघुवंश' भी परिगणित किया है, परन्तु गुरुकुल में रघुवंश के प्रथम दो सर्ग साहित्य के पाठ्य क्रम में पढ़ाए जाते थें। इस प्रकार गुरुकुल में अनार्ष कहे जाने वाले ग्रन्थों से उन अमृतमय अंशों को भी पढ़ाया जाता था जो कि भारतीय संस्कृति के गौरव को बढ़ाने वाले थे। रघुवंश के प्रथम दो सर्गो में राजा से ऋषि महत्वपूर्ण है। और संसार की सकल चल सम्पत्तियों में गाय सर्वश्रेष्ठ हैं, यह अप्रत्यक्ष रूप से दर्शाया गया है।

गुरुकुल शिक्षा के क्षेत्र में एक स्वायत्त और सर्वप्रभुत्ता सम्पन्न संस्था थी। इसका सरकारी शिक्षा तन्त्र से कुछ लेना–देना नहीं था। कार्यकर्ताओं ओर अध्यापकों में कोई अंग्रेज नहीं, अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम नहीं। पंजाब विश्व विद्यालय द्वारा भारतीयों की उच्च शिक्षा के मूल स्तम्भ के तौर पर निर्दिष्ट अंग्रेजी साहित्य की पाठ्य पुस्तकें यहाँ प्रयुक्त नहीं होती थी। महाविद्यालय अपनी ही पदवियां देता था[8]। गुरुकुल की दसवीं श्रेणी की पदवीं 'विद्याधिकारी' थी और अब भी है। शिक्षा स्तर की दृष्टि से यह सबसे कठिन परीक्षा मानी जाती है। इस की पढ़ाई करने वाले ब्रह्मचारी संस्कृत व्याकरण, संस्कृत साहित्य एवं वैदिक दर्शन में एम.ए. स्तर की योग्यता रखते थे। अतः 'विद्याधिकारी' परीक्षा उत्तीर्ण करना शिक्षा क्षेत्र के महार्णव को पार करना समझा जाता था।

गुरुकुल में ब्रह्मचारियों को पाठान्तर क्रियाओं में संलग्न करके उनकी अन्तर्निहित प्रतिभाओं को भी विकसितं किया जाता था। उस काल में अष्टम श्रेणी तक के विद्यार्थियों के लिए वाग्वर्धिनी सभा, नवम और दशम श्रेणियों के छात्रों के लिए वाग् विकास सभा आदि चला करती थी। इन सभाओं द्वारा समय–समय पर हस्तलिखित पत्रिकाएं भी प्रकाशित की जाती थीं। इसी प्रकार गुरुकुल में विभिन्न पर्वो को भी बड़े उत्साह से मनाया जाता था। इन पर्वो में विजयदशमी, दीपमालिका, गुरुकुल जन्ममहोत्सव और लोहड़ी आदि विशेष रुचि से मनाएं जाते थे। लोहड़ी पर्व पंजाब की संस्कृति का पर्व है। विजय दशमी पर स्त्री पात्रों को छोड़कर रामलीला नाटक के रुप में प्रस्तुत की जाती थी। इसके अतिरिक्त कुश्ती,तैराकी, ओर दौड़ प्रतियोगिताएं भी आयोजित होती थीं। समय निकालकर अवकाश के दिनों में छात्रों को लम्बी यात्राओं के लिए भी भेजा जाता था। इस प्रकार सन् 1925 के लेख में दिए गए विचारों अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की समान शिक्षा देकर तत्कालीन महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने अपना कर्तव्य निभाया।

वेशभूषाः-जहाँ तक तत्कालीनगुरुकुलीय वेशभूषा का सम्बन्ध हैं, वहाँ उन दिनों प्रत्येक ब्रह्मचारी को अमीर–गरीब का अन्तर किये बिना एक जैसे वस्त्र दिए जाते थे, जो खद्दर के होते थे। सभी छात्रों को पीली धोती गातीदार ढंग से बाँधनी पड़ती थी। उत्सव से दो–तीन दिन पूर्व नई रंगी हुई धोतियाँ ब्रह्मचारियों को बाँट दी जाती थीं।.प्रायः ब्रह्मचारियों की कमीजे बिना कालर की होती

थीं। पैरों में खड़ाऊँ वह भी खूंटीदार शोभा पाती थी। गले में यज्ञोपवीत हर समय वैदिक सिद्धान्तों के प्रहरी के रूप में वलयित भुजंगाकार अथवा धुनषाकार रूप में रहता था। सिर पर मोटी चोटी रहती थी।

उत्सव पर विशेष सावधानी:- स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचारियों के लिए स्त्री दर्शन, तथा अध्ययन की सम्पूर्ण अवधि में माता–पिता से मिलना अथवा पत्र व्यवहार करना निषिद्ध लिखा है[9]। गुरुकुल कांगड़ी के आरम्भ काल में इस नियम का पालन यथासाध्य विधि से किया जाता था। उत्सव के दिनों में कोई भी ब्रह्मचारी अधिष्ठाता की उपस्थिति के बिना न अपने अभिभावकों से मिल सकता था, न उत्सव की ओर बिना कार्यक्रम के जा सकता था। अभिभावकों से मिलने के लिए भी आश्रम के पीछे तम्बू लगाये जाते थे। दोपहर के समय केवल पुरुषों को आश्रम (ब्रह्मचारियों के रहने का स्थान) देखने की आज्ञा मिलती थी। उस समय प्रत्येक ब्रह्मचारी को कोई न कोई पुस्तक लेकर अत्यन्त सावधान की स्थिति में अपने तख्त पर बैठना पड़ता था। एक दिन दोपहर बाद महिलाओं के लिए गुरुकुल देखने का समय रखा जाता था। उस दिन ब्रह्मचारियों को गुरुकुल से विदा होना पड़ता था। ब्रह्मचारी भोजन से पूर्व ही जंगल में जाकर वृक्षों के नीचे डेरा डाल देते थे। वहीं पर उनके लिए भोजन पहुँचा दिया जाता था। महिलाओं के गुरुकुल देखने के पश्चात ही ब्रह्मचारियों की वापसी होती थी। उत्सव के शामियाने में ब्रह्मचारियों को इस प्रकार बिठाया जाता था कि उनकी पीठ स्त्रियों की ओर रहे। यह थी निराली शिक्षा की निराली पद्धति। यह युगबोध को नकार कर अतीत को पकड़ने का प्रयास था।

ब्रह्मचारियों के प्रति दायित्व का निर्वाह:- हमने पिछले पृष्ठों में संकेत दिया था कि गुरुकुल में प्रविष्ट होने वाला ब्रह्मचारी सर्वभावेन प्रपन्न होकर महात्मा मुंशीराम का शरणागतिक था। शरणागतिक बालकों के प्रति अपने दायित्व को महात्मा जी ने वहाँ तक निभायां, उस दायित्व से तत्कालीन ब्रह्मचारी कहाँ तक सन्तुष्ट थे, इन बातों की सूचना उन स्नातकों के संस्मरणों में सुरक्षित हैं, जो महात्मा जी के समय में गुरुकुल कांगडी में प्रविष्ट हुए थे। इन संस्मरणों में कुछ घटनाएं उद्धृत करके हम यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि महात्मा जी सोलह आने अपने दाायित्व को निभाने में समर्थ रहे। सन् 1906 ई0 में गुरुकुल में प्रवेश लेने वाले दीनानाथ सिद्धान्तालंकार ने लिखा है– यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि महात्मा जी का न केवल मुझ से वरन् अन्य सभी छात्रों से भी पुत्रवत् अगाध स्नेह था और यदि किसी के माता या पिता की मृत्यु हो जाती थी, तो वे पुत्रवत स्नेह सान्त्वना प्रदान किया करते थे। उन्होने मेरे पिताजी की मृत्यु के उपरान्त मेरी छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके पढ़ाई में व्यवधान नहीं आने दिया, वैसे ही अन्य अनेक छात्र थे, जिनके अभिभावक या पिता की मृत्यु हो जाने पर महात्मा जी ने ही उनकी पढ़ाई को निर्विघ्न जारी रखने की समुचित व्यवस्था की थी। पर यह सब वे गुप्त रूप रखते थे। आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान मेरे सहपाठी सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार (भूतपूर्व विजिटर एवं कुलपति गुरुकुल कांगडी) ने दिल्ली के एक आर्य पत्र में यह लिखा था कि पाँचवी या छठी श्रेणी में उनके पिता की मृत्यु हो जाने के बाद जब उन्हें इस संस्था को छोड़ने की आशंका हुई, तब आचार्य ने इस के विषय में निश्‍चित कर दिया था[10] कुलपति के दायित्व को निभाने के ऐसे उदाहरण शिक्षा के क्षेत्र में कम ही मिलते हैं।

पितृवत् व्यवहार के साथ महात्मा जी के स्वभाव में मातृवत् शिष्यवत्सलता एवं पर सेवा की भावना कूट–कूट कर भरी हुई थी। गुरुकुल के छोटे ब्रह्मचारियों को जाड़े की ठिठुरती रातों में वे नंगें होने पर रजाइयाँ ओढ़ाते समय मातृस्नेह से विह्वल हो जाते थे। ब्रह्मचारियों के बीमार हो जाने पर माता के समान सेवा करने में वे कभी नहीं चूकते थे। गुरुकुल के स्नातक सोमदत्त ने ऐसी आप बीती बातें लिखी हैं कि जिनसे महात्मा जी की मातृवत् शिष्य वत्सलता का मुंह बोलता चित्र आँखों के सामने उपस्थित होकर उन्हें दिव्य गुणों का पुंज मानने के लिए विवश करता है। वे अपने संस्मरणों में लिखते है–

"मैं उन दिनों गुरुकुल में पाँचवी कक्षा में पढ़ता था। रविवार के दिन, गर्मी के मौसम में गंगा के शीतल जल में नहाने–तैरने से मुझे ठंडक लग कर बुखार हो गया। गर्मी के कारण खुले आंगन में लकड़ी के तख्त बिछा हम सो रहे थे। बुखार की तेज हरारत के कारण मुझे प्यास लगी, पर पानी मेरे लोटे में नहीं था। चादर से मुंह ढाप कर मैं सो रहा था। अचानक किसी व्यक्ति ने मेरे पास आकर पूछा क्यों क्या बात हैं, रो क्यों रहे हो? मैंने कहा मुझे बहुत जोर से बुखार चढ़ गया है। सख्त प्यास लगी है। रात के समय चौकीदार चक्कर लगाया करता था, मैंने उन्हें चौकीदार समझा। रोओ मत, मैं अभी पानी लाता हूँ, कहकर वह मेरा लोटा लेकर चले, तो मैंने कहा जल्दी जा, देर न लगाना।

कुआँ वहाँ से लगभग एक फर्लांग दूर था। वहाँ से ताजा पानी लाकर नीचे रखे कटोरे में डाल, उसने मेरी पीठ को सहारा देकर मुझे बैठाया और जल का कटोरा मेरे हाथ में पकड़ा दिया। मैंने आँखें खोलीं तो मुझे मालूम पड़ा कि जिसे मैं चौकीदार समझ रहा था, वह गुरुकुल के आचार्य महात्मा मुंशीराम थे। अपनी लगती पर मुझे रोना आ गया तो वे बोले–क्यों क्या बात हैं? मैंने कहा कि 'मैंने आपको चौकीदार समझकर इस तरह कह कर पानी लाने का कहा, इसलिए रो रहा हूँ। वे मेरे तख्त पर बैठ गये और अपने रुमाल (दुपट्टे) से मेरी आँखे पोछते हुए बोले–'अरे हम तुम्हारे चौकीदार ही तो हैं, तुम्हारे माता–पिता तुम्हें मेरी चौकीदारी में छोड़ गये है।" मुझे पानी पिला कर वे असली चौकीदार को बुलाकर लाये और फिर उसकी सहायता से तख्त पर मुझे लिटाये हुए वहाँ से अस्पताल में ले गए।"

सोमदत्त की आप बीती की अगली घटना वत्सलता एवं सेवा भाव की पराकाष्ठा का उदाहरण है। इस समूची घटना से हमें गुरुकुल के 'हम सब एक कुल के वासी हैं" की भावना का भी बोध होता है। घटना का विवरण देते लेखक लिखता हैं–

"शायद सन् 1916 ई0 की बात हैं। मैं उस समय गुरुकुल की नवम श्रेणी में पढ़ता था। भोजन भण्ड़ार से सायंकाल का भोजन करके अपना लोटा और कौल (कटोरा) गंगा से मांज कर मैं अपने आश्रम में घुसा ही था कि मेरे एक सहपाठी ने कहा–दत्त ! तुम्हें मालूम हो गया न कि तेरी डयूटी 11 से 1 बजे तक है, मैंने कहा क्या बात है, कैसी डयूटी? मुझे तो अभी तक किसी ने कुछ नहीं बताया ! अरे ! पंचम श्रेणी के ब्रह्मचारी देवदत्त को 'टाइफाइड' हो गया है। उसकी हालत ठीक नहीं है। डॉ0 सुखदेव जी ने उसकी सेवा के लिये आज हमारी श्रेणी की ड्यूटी लगाई हैं। रात के लगभग साढ़े बारह बजे का समय होगा। मैं रोगी ब्रह्मचारी के सिरहाने के पास एक कुर्सी पर बैठा हुआ पुस्तक पढ़ रहा था। सहसा रोगी–ब्रह्मचारी के जागने से तथा कराहने की आवाज से मेरा ध्यान किताब से हट गया। मैंने जल्दी से पुस्तक एक ओर रख दी और रोगी के माथे पर जल्दी हाथ रखकर पूछा–क्यों देव ! क्या बात है ? उल्टी सी आती मालूम होती हैं। रोगी ने कहा और फिर घबराहट के कारण रोने लगा। मैं नीचे पड़ी हुई चिलमची को उठाने के लिए झुका। वह पानी तथा थूक आदि से भरी हुई थी, इसलिये मैं झटपट भंगी को जो चिकित्सालय के सामने वाले बरामदे में पड़ा सो रहा था, बुलाने के लिये चला और थोड़ी देर बाद उसे अपने साथ लेकर रोगी के पास आ गया। वहाँ मैंने बड़े आश्चर्य से देखा–कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी रोगी ब्रह्मचारी के पास झुके खड़े थे, वह कै कर रहा था और वे अपने हाथ की अंजलि में उसे कै करा रहे थे। रोगी बालक के कै करने पर उन्होंने बाहर जाकर अपने हाथ स्वच्छ किये और फिर बीमार के सिरहाने बैठ कर उसका सिर सहलाने लगे। मैं जमीन की तरफ आँखें गड़ाये खड़ा था। वे मेरी तरफ देखकर बोले–तुम कहाँ चले गये थे। मैंने उत्तर दिया कि यह कहता था मुझे कै आ रही है। चिलमची भरी पड़ी थी, इसलिए मैं उसे साफ कराने के लिए भंगी को बुलाने के लिये गया था। उन्होने कहा–तो जाकर आराम करो। इसकी सेवा के लिये अन्य को भेज दो। तुमसे सेवा हो चुकी। मैं शर्म के मारे जमीन में गड़ा जा रहा था। मेरा क्या कर्तव्य था, यह तो मेरे गुरु ने स्वयं सेवा करके बता दिया था[11]।"

महात्मा मुंशीराम के ब्रह्मचारियों में प्रति निस्वार्थ प्रेम को देख कर एण्ड्रूज भी भावविभोर हो गए थे और उन्होने मुंशीराम के एक पत्र के उत्तर में लिखा "मेरा विश्वास है कि हृदय में प्रभु

की ज्योति का जागरण उन नन्हें बालकों के प्रेम से ही हुआ हैं, जिन्हें आप पिता बनकर पाल रहे हैं। मैंने देखा है कि अपने आश्रम के नन्हें बच्चों के साथ आपका कितना प्रगाढ़ प्रेम है। मुझे भी अपने हृदय में कई बार बड़े रुखेपन का आभास होता हैं किन्तु आपके निकट आते ही मुझे हृदय में नई ताजगी और नये प्राण संचार की अनुभूति होती है। जीवन में आनन्द का परम क्षण वही हैं, जब साक्षात् प्रेम मूर्ति प्रभु का संकेत पाकर आप मुझे मुग्ध हृदय से अपनी स्नेह भुजाओं में आबद्व करते हैं। उस समय आपकी समीपता से प्रभु दर्शन का आनन्द मिलता है।

असीम सेवा-भावनाः- यह बात नहीं कि महात्मा जी का मातृवत् स्नेह और सेवाभाव मात्र ब्रह्मचारियों के लिये ही आरक्षित हो। स्नेह और सेवा की सरिता का यह प्रवाह उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शीतलता प्रदान करता था।

कुल की कड़ी से बन्धे हुए मुंशीराम बिना किसी भेद–भाव के सभी के लिए समर्पित थे। उनका प्रेम और सेवा भाव ससीम न होकर असीम था। वह एकदेशी न होकर सर्वदेशी था। गुरुकुल में रहते हुए जब एण्ड्रूज एक बार बुखार के चुंगल में आ गए, तो महात्मा जी ने उनकी सेवा सुश्रूषा में दिन–रात एक कर दिया था। इसी सेवा–भाव को अपनी मधुर स्मृतियों में संजोकर शान्ति निकेतन से एण्ड्रूज ने लिखा ..."उस रात जब मुझे बुखार था, आपकी सेवा सुश्रूषा से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो मेरे कष्ट निवारण और सान्त्वना देने के लिए मेरी माँ मेरे बिस्तर के पास खड़ी हुई हो।"

महात्मा मुंशीराम जी की सेवाभावना के सम्बन्ध में गुरुकुल के अध्यापक चन्द्रमणि ने आप बीती के संस्मरण में इस प्रकार लिखा है—

"महात्मा मुंशीराम जी अब स्वामी श्रद्धानन्द हैं। मैं भी अब विद्यार्थी नहीं, अध्यापक हूँ। विश्वव्यापी प्रथम युद्ध के बाद पहली दिवाली का दिन है। रात्रि को जगमगाती दीप–ज्योतियों के बीच में दयानन्द निर्वाण पर्व की सभा जुटी है। सभापति हमारे कुलपिता है। उन्होनें सभा में उपस्थित सब उपाध्यायों को देखा, परन्तु मैं वहाँ नहीं दीख पड़ा। पूछा–क्या बात है, चन्द्रमणि क्यों नही आया? किसी उपाध्याय ने बताया कि उसकी साली भीषण युद्ध–ज्वर से पीड़ित हो गई है। अभी–अभी इसकी बड़ी बहन मौत के मुँह से निकली थी ओर अभी दो दिन पूर्व ही निरसनवास (सेग्रीगेशन कैम्प) से घर आये थे कि फिर पकड़े गए।

सभा के समाप्त होते ही लगभग साढ़े नौ बजे रात को कुलपिता मेरे पास घर पहुँचे। सब हालात देखे। लड़की को युद्ध–ज्वर ने कस कर दबोच रखा था। पूछा–रात की क्या व्यवस्था हैं, क्या उपाध्यायों ने कोई डयूटी लगाई है? मैंने कहा–अभी तो शायद कुछ नहीं हुआ, मैं ही सारी रात जागूँगा। कुलपिता ने कहा–नहीं, तुम आराम से सोवो, तुम थके हुए हो, कुलवती को तो पूरा आराम मिलना ही चाहिए। सब बोझ तुम्हारे ऊपर है। रात भर आराम कर लो। मैं बीमार की चौकसी करूँगा। मैंने बहुत अनुनय–विनय की, पर कुलपिता नहीं माने। मुझे जबरदस्ती लेटा दिया और आदेश दिया कि बस सो जाओ।

स्वामी जी जागते रहें और मैं सोता रहूँ, यह कहाँ होता था। मैं लेट तो गया, पर नींद एक मिनट के लिये भी नहीं आई। बस, रात भर ऐसे लेटा रहा कि कुलपिता ने सोचा, मैं सो रहा हूँ। रात भर मैंने देखा कि लड़की ने दस–दस मिनट बाद कुलपिता को खूब नचाया, उन्हें बैठने नहीं दिया। कभी पानी पीना हैं, कभी दर्द होता हैं, कभी कुछ और कभी कुछ। वे लगभग सारी रात खड़ी टांग ही रहे।

ये घटनाएं तो गुरुकुल के उन ब्रह्मचारियों और उपाध्यायों की हैं, जो उस समय– कुल परिवार के अंग थे। परन्तु महात्मा जी की सेवा भावना का विस्तार उन अध्यापकों तक भी रहा, जो उनके सम्पर्क में रह चुके थे। आचार्य पं. गंगादत्त गुजरान वाला की वैदिक पाठशाला में पढ़ाते थे और वहाँ से वे महात्मा

मुंशीराम के साथ ही गुरुकुल में आए और प्रथम आचार्य का पद प्राप्त किया। उन्हें शिक्षा नीति में परिवर्तनों के कारण गुरुकुल कांगडी छोड़ना पड़ा और महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार) के गुरुकुल में चले गए। वहाँ जाने के कुछ काल पश्चात वे बीमार हो गए। उनकी बीमारी की सूचना मिलते ही महात्मा जी ज्वालापुर के गुरुकुल में गए और पं. गंगादत्त को अपने पास ले आए और बड़ी आत्मीयता से उनकी सेवा की। स्वास्थ्य लाभ होने पर उन्हें जाने दिया[13]।

इस प्रकार गुरुकुल वास्तव में एक आदर्श कुल था। इस आदर्श कुल के आदर्श पिता महात्मा मुंशीराम थे। यदि यह कहा जाए कि गुरुकुल एक शरीर के समान था, तो इस बात के मानने में कोई सन्देह नहीं कि इस शरीर की आत्मा महात्मा मुंशीराम थे। किसी भी ब्रह्मचारी के पाँव में कांटा लगता था, तो चुभन महात्मा जी को होती थी। यदि किसी ब्रह्मचारी को बुखार चढ़ता था, तो उसकी कम्पन महात्मा में देखी जा सकती थी। प्याल (जंगली फल जो चण्डी पर्वत माला में अत्यधिक होता था) खाने के लिए गए ब्रह्मचारियों द्वारा देरी करने पर, महात्मा जी के माथे पर पसीने की बूंदे सरलता से निहारी जा सकती थीं। गंगा की धारा को आर–पार करने में ब्रह्मचारियों द्वारा देरी करने पर उनकी सांसे फूलने लगती थीं। फनियर सर्पो द्वारा ब्रह्मचारियों को आक्रान्त देखकर, वे बचाव के लिए तुरन्त तत्पर दिखाई पड़ते थे। इस प्रकार कुलभूमि में कहीं तड़पन होती थी, तो उसका सबसे अधिक प्रभाव महात्मा जी पर होता था। यह अनुभूति एक पक्षीय न होकर द्विपक्षीय थी। ब्रह्मचारी भी महात्मा जी को पिता–माता तुल्य समझते थे। गुरुकुल के उत्सव पर प्रायः सभी ब्रहचारियों के अभिभावक उनसे मिलने के लिए आते थे। एक उत्सव पर सातवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त अपने किसी भी संरक्षक के न आने से बड़ा उदास हो गया था। स्वामी जी को जब इस बात का पता चला तो उन्होने ब्रह्मदत्त को अपने पास बलाया। वहाँ से ब्रह्मचारी हंसता हुआ आया और अपने साथियों से बोला–हम भी अपने पिता जी से मिलकर आ रहे है। सभी ब्रह्मचारियों ने गृह के माता–पिता को भुला कर वनवास में एक ही व्यक्ति में माता–पिता और गुरु का रूप पा लिया था। इसीलिए तो वे पुकार–पुकार कहते थे।

''बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं। पाये मातु पिता वन माहीं।।।''

दण्ड-व्यवस्थाः- क्या महात्मा मुंशीराम के समय में गुरुकुल में सभी कुछ आदर्श का प्रतिरूप था? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक रूप में दिया जा सकता है। गुरुकुल में एक बात ऐसी थी, जो नकारात्मक कही जा सकती थी। वह थी दण्ड व्यवस्था। यद्यपि महात्मा जी की दण्ड व्यवस्था एक महात्मा के विशाल हृदय के अनुकूल मनोवैज्ञानिक थी, परन्तु कुछ अन्य अध्यापकों की दण्ड व्यवस्था कठोर थी।

उनका विचार था कि ब्रह्मचारियों के अविनय भाव को दूर करने के लिए भय उत्पन्न करने की अपेक्षा अभय देने की आवश्यकता होतीहै। अविनीत छात्रों को क्रोध से नहीं अपितु प्रेम से वशीभूत किया जाता है। छात्रों में आतंक बैठाना स्वयं में एक हीन भावना है। इस प्रकार के व्यवहार से सौहार्द न बढ़ कर कटुता बढ़ती है।

प्राचीन एव नवीन में संघर्षः- अब तक हमने गुरुकुल के उन आरम्भिक वर्षो का मनोहारी चित्र ही पाठकों के सम्मुख रखा हैं जो प्राचीन संस्कृति के परिष्कृत रूपों की छवि को उभारता है। अब हम गुरुकुल के रूप की परख भी करना चाहते है। कि जिसकी घोषणा गुरुकुल के प्रथम विवरण–पत्र (प्रोस्पैक्टस) में की गई थी। इस विवरण पत्र के अनुसार ज्ञान के क्षेत्र में पूर्व और पश्चिम के मिलन की बात कही गई थी। ज्ञान के क्षेत्र में मिलन की बात तो गुरुकुल में बाद में आई, उससे पहले दीपक बनाम लालटेन और कुनीन बनाम कुचला का विवाद खड़ा हुआ इन विवादों में लालटेन और कुनीन प्रभावी होकर नवीनता लाने (पश्चिमी प्रभाव) में पश्चिम की पहली खिड़की बनी। गुरुकुल में प्रथम वर्ष में ही तीस–तीस ब्रह्मचारियों के रहने के लिए कच्ची दीवारों वाले टिन शैड़ खड़े कर दिए गए थे। इन बड़े कमरों

को रात्रि में प्रकाशित करने के लिए बड़ी लालटेनो की आवश्यकता अनुभव की गई। बस फिर क्या था। प्राचीन आदर्शो के प्रवक्ता और पालक आचार्य गंगादत्त जी ने लालटेन के प्रस्ताव के विरुद्ध वातावरण बना दिया। इनके सहयोगियों में शालिग्राम भण्डारी भी थे। दूसरी और लालटेन के पक्षधरों में भगत राम (गुजरान वाला के आने वाले दल के सदस्य) डिंगा निवासी थे । लालटेन की विरोधी धारा में आचार्य गंगादत्त के कारण सभी ब्रह्मचारी भी सम्मिलित थे। परन्तु लालटेन के प्रयोग के पीछे महात्मा जी का आशीर्वाद था, अतः अपरिवर्तनवादियों का यह आन्दोलन दो मास के लगभग चलकर स्वतः समाप्त हो गया। सरसों के तेल से जलने वाले दीपक की स्वास्थमयी गन्ध के स्थान पर मिट्टी के तेल की बदबूदार अस्वास्थ्यकर गन्ध ने सबको मोहित कर लिया। नवीनता की पहली विजय दर्ज हुई।

'दीपक से लालटेन' का परिवर्तन निर्जीव वस्तु से सम्बन्धित था, परन्तु दूसरा परिवर्तन सजीव वस्तु से था। वह सजीव वस्तु कोई साधारण वस्तु न होकर स्वयं महात्मा मुंशीराम का पुत्र इन्द्र था। गुरुकुल में मलेरिया का प्रकोप होने पर महात्मा जी ब्रह्मचारियों को कुनीन की गोलियां प्रायः दे दिया करते थें। अन्दर खाने कुनीन के प्रयोग पर आपत्तियां होने लगी। कुनीन के विरोध में यह प्रचारित किया जाने लगा कि यह ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक है। इसके अगुआ भी आचार्य गंगादत्त ही थे। ब्रह्मचारियों ने कुनीन प्रयोग के विरुद्ध सर्वसम्मति कर ली। कुछ समय पश्चात गुरुकुल से कुनीन का प्रयोग उठ गया। कुनीन का प्रयोग उठने पर मलेरिया बुखार के उपचार के लिए 'कुचला' की गोलियां (आयुर्वैदिक औषधि) का प्रयोग होने लगा। 'कुनीन ओर कुचले' के द्वन्द्व में फंसे इन्द्र की अवस्था क्या हुई, इसका वर्णन इन्द्र के शब्दों में इस प्रकार है। "......." उन दिनों डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल में आ चुके थे, परन्तु जहाँ तक मुझे याद हैं अभी गुरुकुल के चिकित्सक नहीं बने थे। उन्हें मेरी दशा पर तरस आया तो उन्होने प्रधान जी से कहा कि इन्द्र को मलेरिया बुखार आ रहा है, इसे जब तक कुनीन नही दी जाएगी, बुखार का टूटना असम्भव है। प्रधान जी (महात्मा मुंशीराम गुरुकुल में प्रधान जी के नाम से पुकारे जाते थे) ने इस बात से सहमत होकर आचार्य जी से सलाह की। आचार्य गंगादत्त जी को मुझ से बहुत प्रेम था। उन्होने पिता जी को जो उत्तर दिया वह मुझे अब तक याद है। उन्होने कहा–'लड़के को कुनीन देने से तो अच्छा है कि उसे जहर दे दिया जाए। इस पर पिता जी चुप हो गए, परन्तु डाक्टर सुखदेव जी चुप नहीं हुए और उन्होंने कुनीन देने का आग्रह जारी रखा। ....सो डाक्टर जी अड़ गए और यह नोटिस दे दिया कि यदि इन्द्र को एक बारी पर और बुखार आएगा, तो मैं उसे कुनीन अवश्य दूँगा, चाहे उसका परिणाम कुछ ही हो। पिता जी ने डाक्टर का यंह दृढ़ निश्चय आचार्य जी को भी बतला दिया और साथ ही अपनी सम्मति भी प्रकट कर दी। चैलेन्ज मिलने पर आचार्य जी ने अपनी दवा की मात्रा बढ़ा दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि बुखार भी अभूतपूर्व प्रकम्पन और गर्जन के साथ चढ़ा। टेम्प्रेचर 105 से ऊपर पहुँचा। उस बुखार ने डाक्टर जी को आचार्य जी पर पहली विजय प्राप्त करने का अवसर दिया। .... बुखार की बारी के दिन ब्रह्म मुहूर्त से ही मुझे कुनीन मिक्स्चर के डोज मिलने शुरु हो गए। पूरी तरह याद नहीं कि कितनी कुनीन मिली। शायद डाक्टर को याद हो। इतना ही याद है कि कानों ने काम देना बिलकुल बन्द कर दिया था और सारे शरीर में कुनीन की गर्मी बुखार की तरह फैली हुई प्रतीत होती थी।........बुखार चढ़ गया? परन्तु तापमान 100 से अधिक नहीं बढ़ा। रात होने तक कुनीन विरोधी दल ने प्रतीक्षा की। जब देखा बुखार अधिक नहीं चढ़ा तो यह कह कर सन्तोष कर लिया कि यह तो आकस्मिक बात हैं कि बुखार कम आया।

बारी के अगले दिन कुनीन का उसी जोर से प्रयोग किया गया और उस दिन बुखार नहीं आया[14]। इस सफलता के बाद कुनीन के साथ एलोपैथिक चिकित्सा घुसपैठिया बन कर गुरुकुल में बैठ गई। इस प्रकार गुरुकुल में नवीनता का सूत्रपात आरम्भ हो गया। इन दोनो परिवर्तनों में महात्मा जी की स्वीकृति ने बड़ा भारी योगदान किया।

विरोध का सूत्रपातः-

सन् 1904 ई0 में पंजाब, आर्यप्रतिनिधि सभा के वार्षिक चुनाव में राय बहादुर ठाकुर दत्त धवन के स्थान पर महात्मा मुंशीराम को सभा का प्रधान निर्वाचित कर लिया गया। इस निर्वाचन से ठाकुर दत्त धवन असन्तुष्ट हो गए, क्योंकि वे अगली अवधि के लिए भी प्रधान बने रहने के इच्छुक थे। अब तक वे गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता होने के साथ-साथ पंजाब की आर्य समाजों की संस्था 'प्रतिनिधि सभा' के भी प्रधान थे। इस प्रकार वर्चस्व की दृष्टि से उस समय पंजाब में उनका ही बोलबाला था। स्वामी जी का वर्चस्व भोग के कारण न होकर त्याग के कारण था। त्याग के वर्चस्व को छूछा बनाने के लिए प्रतिनिधि सभा के कुछ सदस्यों ने स्वामी जी की प्रतिष्ठा को धूल में मिलाने का प्रयास किया। महात्मा मुंशीराम द्वारा स्थापित गुरुकुल निर्विरोध परिणामों का फल नहीं था। इसके जन्म से पूर्व ही इसका विरोध भी आरम्भ हो गया था। कालेज दल वालों ने इसे अपने मुकाबले में खड़ी की जाने वाली संस्था मानकर विरोध करना ही था। उनके विरोध को अव्यवहारिक और अनैतिक नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वे आस्तीन का साँप न बन कर खुले आम अपनी सम्मति प्रकट करते थे। लेकिन महात्मा दल के उन आर्य समाजी बन्धुओं के विरोध को क्या संज्ञा दी जाए जो अपने निजी स्वार्थों के कारण महात्मा जी एवं गुरुकुल का विरोध करने पर तुले हुए थे। गुरुकुल की स्थापना होने के बाद पहिले ही वर्ष में पंजाब में कुछ इस प्रकार की निराधार बातें फैलाई गई थीं कि गुरुकुल में भोजन का प्रबन्ध ठीक नहीं हैं, मकानों मे नमी बहुत है, बीमारो की देख-रेख का कोई प्रबन्ध नहीं है। सब ब्रह्मचारियों के पेट फूल गए है, दस ब्रह्मचारियों की मृत्यु हो चुकी हैं और 75 सैंकड़ा इस वर्ष में काल के ग्रास हो जाएँगें[15]।

परन्तु गुरुकुल के निरन्तर विकास ने इन अफवाहों पर पानी फेर दिया। इसके साथ ही महात्मा जी 'सद्धर्मप्रचारक' द्वारा गुरुकुल की वास्तविक स्थिति को पाठकों तक पहुँचा देते थे। अतः गुरुकुल विरोधियों की कोई दाल नहीं गली। महात्मा जी के सभा प्रधान बनने पर यह विरोध शान्त हो गया। 1905 ई0 के आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के चुनाव में महात्मा मुंशीराम के स्थान पर लाला रामकृष्ण प्रधान बने जो कि सन् 1918 ई0 तक निरन्तर प्रधान पद को सुशोभित करते रहे। 1905 ई0 से लेकर 1913 ई0 तक अवधि महात्मा जी के गुरुदलीय जीवन में बड़ी संघर्षमयी रही। इस अवधि में महात्मा जी को चौमुखी समस्याओं से जुझना पड़ा।

प्राचीन परिपाटियाँ बदलने लगीं:-

इन समस्याओं को हम आभ्यन्तर और बाह्य दो भागों में देखना पसन्द करेंगे। आभ्यन्तर समस्याओं का सूत्रपात 'दीपक बनाम लालटेन' और 'कुनीन बनाम कुचला' के माध्यम से पहले ही हो चुका था। इस अन्दरूनी संघर्ष की कहानी 1905 ई0 में पुनःआचार्य गंगादत्त और डाक्टर सुखदेव की विचार भिन्नता की पृष्ठभूमि पर आरम्भ हुई। डाक्टर सुखदेव के मन में यह बात समा गयी कि गुरूकुल के मेहतरों को अपनाया जाए। डाक्टर जी उनके घरों में जाकर सफाई से रहने का उपदेश देने लगे और उनके बालकों को बढ़ाने का प्रबन्ध कर दिया। इस पर जो विरोध उठा वह पहले आन्दोलनों से भी बड़ा था। सम्पूर्ण कुलभूमि में आचार्य से लेकर नौकरों तक डाक्टर सुखदेव के विरूद्ध वातावरण बन गया। महात्मा जी पर जोर डाला गया कि वे डाक्टर साहेब को इस कार्य से रोकें। महात्माजी ने विरोधियों को स्पष्ट बता दिया कि डाक्टर साहेब का कार्य धर्मानुकूल है। अतः इसे रोकने की कोई आवश्यकता नहीं। यह संघर्ष डेढ़-दो वर्ष चला और अन्त में स्वतः ही शान्त हो गया।

सन् 1906 ई0 में और उसके आस-पास महात्मा मुंशीराम के सामने रामदेव, गोवर्धन दास और डा0 चिरंजीव नामक व्यक्तियों के गुरूकुल में आने से अनेक समस्याएँ खड़ी हो गई। इनमें डा0 चिरंजीव भारद्वाज और रामदेव के गुरूकुल में आने को 'जीवन दान' की संज्ञा देकर अनेक आर्य समाचार-पत्रों

ने प्रशस्तियों की पंक्तियाँ लिखी थीं। प्रो0 रामदेव जो पहले मास्टर रामदेव कहलाते थे, उन्होंने गुरूकुल में आकर पहला परिवर्तन यह किया कि पढ़ाई की व्यवस्था के लिए घण्टियाँ बजने लगीं। इस नवीन विधि का बहुत विरोध हुआ। क्योंकि इससे पूर्व सभी कार्य अध्यापकों की अध्यापन सुविधा और भण्डारी की भोजन–व्यवस्था की सुविधा के अनुसार ही होते थे। शनैः शनैः अध्यापक और भण्डारी इस व्यवस्था के अभ्यस्त होने ही लगे थे कि डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज ने ब्रह्मचारियों के लिए डेस्क होने चाहिएं का नया नारा लगाया। इस परिवर्तन के सुझाव का यह कहकर विरोध किया गया कि ऐसा करने से गुरुकुल स्कूल सम बन जाएगा। प्राचीन विद्याओं के शिक्षण में आसन शैली से एक प्रकार का विशिष्ट वातावरण बनता है। आसन विधि से पाठ पढ़ने और पढ़ाने के समय किसी भी प्रकार का व्यवधान न होने से गुरू–शिष्य का समन्वय प्रत्यक्ष रहता है। डेस्क पद्धति में एक प्रकार का दुराव है, इत्यादि तर्को द्वारा डेस्कों का विरोध किया जाने लगा। घण्टी और डेस्क की बात से आगे जाकर प्रो0 रामदेव की देख–रेख में अंग्रेजी, इतिहास और अर्थशास्त्र की पढ़ाई को संस्कृत व्याकरण और संस्कृत साहित्य के तुल्य रखा जाने लगा। गुरूकुल की स्कूल जैसी शक्ल बनने पर एक हैडमास्टर का होना भी आवश्यक था और मास्टर रामदेव गुरूकुल के प्रथम हैडमास्टर नियुक्त हुए। 1907 ई0 में गुरूकुल को महाविद्यालय का रूप दिया गया और रामदेव प्रिंसिपल हो गए और उनके स्थान पर गोवर्धन दास को हैडमास्टर बना दिया गया। डा0 चिरंजीव भारद्वाज और आचार्य रामदेव के व्यक्तित्वों के सामने महात्मा मुंशीराम बौने तो नहीं थे, किन्तु युगधर्म को पहचानने के कारण वे इन परिवर्तनों के मूक साक्षी बने रहे।

आचार्य गंगादत्त उपर्युक्त परिवर्तनों के पक्षधर नहीं थे। वे तो उसी ताड़पत्रीय शिक्षण पद्धति के जागरुक प्रहरी थे, जहाँ गुरु को अध्यापन के विषय में पूर्ण स्वायत्ता थी। अतः इन परिवर्तनों का विरोध करना उनका नैतिक दायित्व बनता था। आचार्य गंगादत्त का यह विरोध निरन्तर तीन वर्ष तक चलता रहा। अन्त में हारे हुए सरदार की भाँति अपने सहयोगियों नरदेव शास्त्री, पद्म सिंह शर्मा और काशीनाथ के साथ गुरूकुल छोड़कर गंगा के दूसरे पार गुरूकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में चले गए। इस सम्पूर्ण परिवर्तन की समीक्षा करते हुए इन्द्र ने लिखा है –

पाठशाला की पुरानी पद्धति बदली, क्योंकि पुरानी शैली बदलती हुई नई परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। उसे जारी करने का अभिप्राय यह होता है कि गुरुकुल 'तात का कूप' ही बना रहता और ब्रह्मचारी कूप मंडूक होते। दूसरी कोई पद्धति आविर्भूत नहीं हुई थी। जो महानुभाव गरुकुल को विश्वविद्यालय का रूप देना चाहते थे, उनमें से किसी को यह अवसर नहीं मिला कि वह पाठशाला और स्कूल के मध्य का कोई मार्ग निकाल सके। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी मुहावरे के अनुसार नई बोतलों में पुरानी दवा भरनें का पल आरम्भ हो गया। मैं इस संस्मरण को समाप्त करते हुए इतना बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि इस परिवर्तन युग की समाप्ति पर हम गुरुकुल भूमि में फूंस के घरों के स्थान पर महाविद्यालय की पक्की इमारतें खड़ी पाते हैं। कलेवर बदल चुका था, बहुत कुछ मन भी बदल चुका था, केवल आत्मा के प्रतिनिधि मुख्याधिष्ठाता महात्मा मुंशीराम जी गुरूकुल की निरन्तरता को कायम रखे रहे थे[16]।

मुंशीराम के व्यक्तित्व पर आरोप-

'नई बोतलों में पुरानी दवा' भरने के सम्बन्ध में आर्य जगत् की क्या प्रतिक्रिया रही, यह जानना भी जरूरी है। इस परिवर्तन से महात्मा मुंशीराम के अनेक हितैषी उनके विरोधी बन गए। आर्य समाजियों ने इसे उद्देश्यों से भटकाव की संज्ञा दी। सन् 1905 से महात्मा दल में मुंशीराम विरोधी दल बड़ा सक्रिय हो गया। विरोधियों का नेतृत्व राय बहादुर ठाकुरदत्त धवन और लाला रलाराम कर रहे थे। उन्होंने मुंशीराम के पर काटने के लिए दुरभिसन्धियों की योजनाएँ बनाई। इन दुरभिसन्धियों के कारण महात्मा मुंशीराम के समर्थक और सभा के समाचार पत्र 'आर्य पत्रिका' के सम्पादक महाशय कृष्ण को त्याग–पत्र देना पड़ा।

उन्होंने 'प्रकाश' नामक उर्दू साप्ताहिक निकालना आरम्भ कर दिया और महात्मा मुंशीराम के बचाव में लेख लिखने लगे। जैमिनी महता ने भी महात्मा जी के बचाव के लिए 'संधारक' समाचार पत्र निकाला। महात्मा जी के विरोधियों ने 'हितकारी' नामक पत्र निकालकर महात्मा जी की बखिया उधेड़नी आरम्भ कर दी। इस विवाद में से एक अच्छाई यह निकली कि आर्य समाज के व्यक्तियों ने उर्दू पत्रकारिता के साहित्य में श्रीवृद्धि की।

महात्मा जी के विरोधियों की हिम्मत यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा, की अन्तरंग सभा में दिनांक 26 मई, 1905 ई0 को सात सदस्यों ने निम्न प्रस्ताव विचारार्थ प्रस्तुत किया—

1. कि आर्य समाज से सम्बन्धित सार्वजनिक कार्यो के लिए दान से प्राप्त होने वाले धन के सम्बन्ध में लाला मुंशीराम का विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के 14000 रूपये गबन कर लिए हैं।

2. कि लाला मुंशीराम इस योग्य नहीं रहे कि उन्हें धार्मिक संस्थाओं में कोई उत्तरदायित्व और विश्वास का पद दिया जाए, क्योंकि वे अपने विरोधियों पर मिथ्या दोषारोपण और छल रचना में इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि उनका यह प्रयास होता है कि विरोधियों का यश जनमानस से मिट जाए।

यद्यपि उपर्युक्त प्रस्ताव 17 के मुकाबले में 44 मतों से गिर गया तो भी इस गिरे हुए प्रस्ताव से यह स्पष्ट पता चलता है कि 39 प्रतिशत के लगभग आर्य समाजी महात्मा जी के कार्यो को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। यह प्रतिशत किसी सम्भावित अनिष्ट की ओर संकेत कर रहा था।

गुरुकुल की शिक्षा के प्रति छात्रों का असन्तोष

महात्मा जी पर ये अविश्वास के बादल विरोधियों द्वारा बनाये गये थे। अतः इनमें अतिशयोक्ति की छाया हो सकती है; परन्तु गुरुकुल की पढ़ाई के विषय में स्वयं उनके पुत्रों के मन में उठे अविश्वास को तो विरोधियों की चाल नहीं कहा जा सकता। घटना इस प्रकार हुई कि गुरुकुल में काशी के प्रसिद्ध विद्वान् पं. काशीनाथ अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। वे बिना पुस्तक के ही व्याकरण, दर्शन, अलंकार शास्त्र और निरुक्त आदि विषयों को पढ़ाने में सक्षम थे। शास्त्र की ऐसी कोई गाँठ नहीं थी, जिसे उनकी प्रतिभा खोल नहीं सकती थी। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् से संस्कृत पढ़ने पर महात्मा जी के दोनों पुत्रों हरीशचन्द्र और इन्द्र के मन में क्या संकल्प और विकल्प उठे, उन्हें इन्द्र के शब्दों में ही लिखना उचित है—

"ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् के सादा जीवन का हम लोगों पर गहरा प्रभाव हुआ। मस्तक पर मध्यकालीन संस्कृत का अधिकार बढ़ने लगा। 'शेखर' और 'मुक्तावली' ने 'काशिका' और 'प्रशस्तपाद' को मैदान से भगा दिया। यह हमारी ओछी बुद्धि और अल्प विद्या का ही परिणाम था। गुरु जी के आने के दो–तीन वर्ष बाद हम लोंगों में यह भाव पैदा हो गया कि आर्य समाज के पास और कुछ भी हो पण्डित्य का सर्वथा अभाव है। हम लोग ज्ञानलव–दुर्विदग्घता के अच्छे खासे नमूने बन गए।"

एक रात्रि के भोजन के पश्चात् हम दोनों भाइयों ने प्रधान जी (पिता जी) से प्रार्थना की कि हम अकेले में उनसे कुछ बात करना चाहते हैं। गुरुकुलीय जीवन में शायद यह पहला अवसर था, जब हमने पिता जी से अलग बातचीत करने का अवसर माँगा हो। अन्यथा वे हम दोनों को सदा अन्य ब्रह्मचारियों के समान भाव से ही देखते रहे। हमारी प्रार्थना से पिता जी को आश्चर्य हुआ, तो भी उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और हम दोनों को साथ लेकर उसी समय गुरुकुल वाटिका में चले गए। वहाँ टहलते–टहलते भाई जी ने पिता जी से अपने मन का भाव कहा भाव यह था कि हम दोनों गुरुकुल की शिक्षा से असन्तुष्ट नहीं हैं। इस शिक्षा से हम पंडित नहीं बन सकेंगे। पंडित बनने के लिए काशी में शिक्षा पाना आवश्यक

है। हमे पं. शिवकुमार शास्त्री और श्री भगवदाचार्य जैसे पंडितों से शिक्षा पाने का अवसर मिलेगा। आप हमें गुरुकुल से उठा कर बनारस भेज दीजिए[17]।

अविश्वास की इस भावना में परिवर्तनवादियों के द्वारा उत्पन्न वातावरण भी एक कारण था। परिवर्तन के कारण आस्थावान् आर्य समाजी पंडितों का गुरुकुल से पलायन आरम्भ हो गया। परिवर्तनवादियों के कारण महात्मा मुंशी राम को व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही हानियाँ उठानी पड़ीं।

आक्षेपों का उत्तर

आर्य प्रतिनिधि सभा, की अन्तरंग में प्रस्तुत प्रस्तावों का भी महात्मा जी के शरीर और मन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। जब वे लाहौर से अन्तरंग सभा की बैठक के लगभग एक सप्ताह बाद गुरुकुल आए तो इन्द्र ने देखा कि उनके चेहरे में कोई बड़ा परिवर्तन आ गया है। जब उन्होंने ध्यान से देखा तो समझ में आया कि सप्ताह भर में ही उनके सिर और दाढ़ी–मूछ के आधे बाल सफेद हो गए हैं[18]। अन्त में ऐसा समय आया कि वे अपने ऊपर लगाये गये आक्षेपों की उपेक्षा नहीं कर सके। इन आक्षेपों में मुख्य आक्षेप सभा तथा गुरुकुल के रुपयों का गबन, महात्मा जी ने त्याग ही क्या किया है, गुरुकुल में शासकीय ठाठ से रहना, अन्य कर्मठ और योग्य आर्य समाजियों के सामाजिक चरित्र का हनन और एकाधिकार की भावना आदि थे। शेष आक्षेप मुख्य आक्षेपों के चौखटे पर चिपकाए उन अभ्रकीय पन्नों के समान थे, जिन्हे लगाने वाले यह सोचकर प्रसन्न थे कि इनसे महात्मा जी की मिट्टी पलीद हो जाएगी। परन्तु ये आक्षेप इतने हास्यास्पद थे कि लगाने वालों की बुद्धि पर तरस ही आता था। महात्मा जी ने "दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ (1906) लिख कर प्रत्येक छोटे–बड़े आक्षेपों का विस्तार पूर्वक उत्तर दिया। उन उत्तरों में उन्होंने यह भी बताया कि कौन–कौन व्यक्ति किस–किस कारण से उनसे नाराज है। लोगों को इस पुस्तक से सत्यता का पता चला और महात्मा जी का मन इसके लिखने से हलका हुआ।

इधर पंजाब प्रतिनिधि सभा की अन्दरूनी लड़ाई चल रही थी, तो उधर पंजाब की राजनीति में आर्य नेता लाला लाजपत राय को 1907 ई0 में देश से निर्वासित कर दिया गया था। लाला जी को पंजाब के शिक्षित तथा विद्यार्थी वर्ग का नेता समझा जाता था। गुप्तचर विभाग ने सरकार को ऐसी सूचना दी थी। परन्तु महात्मा मुशीराम की मान्यता के अनुसार तथ्य इसके विपरीत थे। जब लाला जी को देश से निकाला गया, इस समय वे छात्र वर्ग में इतने अधिक अलोक प्रिय थे कि लाहौर की सार्वजनिक सभाओं में उनके लिए उपस्थित होना भी कठिन हो रहा था। अजीत तथा उसके साथी उनके प्रभाव से निकल चुके थे तथा लाला जी को अपना प्रभा मण्डल बनाने में कठिनाई हो रही थी, क्योंकि देश निकाला मिलने से कुछ पहले तक वे गुरुकुल तथा उसके संस्थापकों की घोर निन्दा करते रहे थे[19]। लाला जी गिरफ्तारी पर इस डी.ए.वी. कालेज कमेटी ने जिसके कि वे प्राणाधार थे इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि लाला जी की राजनैतिक हलचलों का आर्य समाज और डी.ए.वी. कालेज से कोई सम्बन्ध नहीं है[20]। लेकिन लाला जी के कटु आलोचक और गुरुकुल दल के महात्मा मुंशीराम ने लाला जी का प्रत्येक प्रकार से समर्थन किया और "सिविल एण्ड मिलिट्री गजट में आर्य समाज सम्बन्धी लेख माला लिखकर लाला जी की निष्कपट सफाई पेश की। महात्मा जी के इस कृत्य को देखकर उनके आलोचक भी आँखे मलने लगे। गुरुकुल की स्थापना होने पर मुख्याधिष्ठाता का पद सम्भालते हुए भी महात्मा जी समय निकाल कर कांग्रेस के सूरत अधिवेशन (1907 ई.) में उपस्थित हुए। इस अधिवेशन के अवसर पर वहाँ के आर्य समाजियों ने आर्य समाज के प्रचारार्थ महात्मा जी को निमन्त्रित किया था। वहाँ से आने के बाद इन्होंने देखा कि कुछ लोगों के मन में गुरुकुल के प्रति अभी तक असद्भाव बना हुआ है। इस असद् भाव को फैलाने में गुरुकुल के उन कर्मचारियों का भी कम हाथ नहीं था जो गुरुकुल की सेवा से किसी कारण पृथक् कर दिए गए थे। महीनों महात्मा जी की शरण में रहकर अब्दुल गफूर से धर्मपाल बनने वाले व्यक्ति ने

भी महात्मा जी का विरोध करने और गुरुकुल के सम्बन्ध में भ्रम फैलाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी। सन् 1908 ई. के आस–पास इन लोगों ने आक्षेप करते हुए कहा कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी मूछ–दाढ़ी मुंडवाते हैं और बाल संवारते हैं, उनको घोड़ों की सवारी सिखाई जाती है, वे साबुन लगाते हैं, उनको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, वे अंग्रेजी ढंग से खेल खेलते हैं, उनको इतिहास तथा भूगोल पढ़ाया जाता है, साइन्स की पढ़ाई पर अधिक खर्च किया जाता है, अध्यापक ही परीक्षा लेते हैं और शिक्षा मुफ्त नहीं दी जाती[21]। महात्मा जी को इन आक्षेपों का उत्तर भी देना पड़ता था। सन् 1906 ई. की अन्तिम त्रैमासिकी में यह प्रचार भी चल पड़ा था कि गुरुकुल के संस्थापक एवं हिन्दी भाषा द्वारा शिक्षा देने के पक्षपाती महात्मा मुंशीराम अपना निजी समाचार पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू भाषा में ही चला रहे हैं। महात्मा जी का यह दोहरा चेहरा क्यों? इस आपत्ति को सही मानते हुए उन्होंने 1 मार्च, 1907 ई. में 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया।

सार्वदेशिक सभा के जन्मदाता

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की दलबन्दी ने महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व को डावांडोल कर दिया। युगधर्म को पहचानते हुए महात्मा जी ने पंजाब सभा के प्रबन्ध इत्यादि के विषयों से दूर ही रहना उचित समझा। लेकिन उनके मस्तिष्क में एक ऐसी योजना अवश्य कार्य करने लगी कि प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं के ऊपर आर्यों का एक ऐसा संगठन भी होना चाहिए जो सभी प्रान्तीय सभाओं में ताल–मेल स्थापित करके सही दिशा निर्देश देने में समर्थ हो। इस प्रकार के संगठन की कल्पना से प्रेरित होकर ही उन्होंने दिनांक 24 जनवरी, 1897 ई. में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा से इस आशय का प्रस्ताव पारित करवाया था। इसके एक मास बाद संयुक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा और लगभग छः मास पश्चात् राजस्थान प्रतिनिधि सभा ने सार्वदेशिक सभा की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर दिया। महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल के लिए चन्दा करते – समय भी विभिन्न नगरों के आर्य समाजों में सार्वदेशिक सभा की उपयोगिता के सम्बन्ध में लोगों को अवगत कराया था। सन् 1900 ई. में उत्तर भारत के आर्य समाजियों की एक बैठक दिल्ली में हुई। इस बैठक में इस विषय पर सहमति हो गई कि आर्य समाज का सार्वदेशिक स्तर पर एक संगठन होना चाहिए। इस संगठन के नियम–उपनियम बनाने के लिए एक उपसमिति गठित की गई और इसका संयोजक मुंशीराम को बनाया गया। मुंशीराम ने परिश्रम करके नियम–उपनियम बनाकर तीनों प्रतिनिधि सभाओं (पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान) को भेज दिए। परन्तु तीनों सभाएं इस सम्बन्ध में कुम्भकर्णी नींद में सोई पड़ी रहीं और आठ वर्ष के लगभग निष्क्रियता में व्यतीत हो गए। सन् 1908 ई. गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर पुनः तीनों सभाओं के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस अवसर पर भी सार्वदेशिक सभा की स्थापना न हो सकी। और जौलाई मास में आगरा में इस विषय पर विचार के लिए इकट्ठा होने का निर्णय लिया। 27 सितम्बर, 1908 ई. के दिन आर्य समाज मन्दिर में हुई प्रान्तीय सभाओं के पदाधिकारियों की बैठक हुई। इस बैठक में किसी भी सभा के पदाधिकारी न होते हुए भी मुंशीराम को उपस्थित होने के लिए निवेदन किया गया था, क्योंकि वे इस विचार के जन्मदाता थे और साथ में सभा के नियम–उपनियमों का निर्माण भी उन्होंने ही किया था। आगरा की बैठक निर्णायक सिद्ध हुई और उसमें सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित करके सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन कर दिया गया। इस संगठन के प्रथम प्रधान बंशीधर शर्मा बनाए गए। इसके पश्चात् अगले ही वर्ष मुंशीराम को सार्वदेशिक का प्रधान निर्वाचित कर लिया गया। इस पद पर वे निरन्तर सात वर्ष तक बने रहे।

सार्वदेशिक सभा के संगठन में प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब नहीं आई। इस प्रकार आर्य संगठन का समूचा स्वप्न चाहे पूरा न हुआ हो, परन्तु इससे मुंशीराम की इच्छा की अधिकतर पूर्ति हो गई। इस विषय में अन्य बाधा 'परोपकारिणी' सभा थी। यह सभा स्वामी दयानन्द की वसीयत द्वारा निर्मित हुई थी। परन्तु आर्य समाज के क्षेत्र में प्रकाशन कार्य के अतिरिक्त इसके किसी भी ऐसे कार्य की चर्चा नहीं थी जो आर्यजनों के प्रेरित करने की क्षमता रखता हो। सन् 1907 ई. में यह सुझाव प्रस्तुत

हुआ था कि 'परोपकारिणी' सभा को ही सार्वदेशिक सभा का चोगा पहनाकर सब प्रतिनिधि सभाओं को इसको सम्बन्धित कर दिया जावे। इस प्रस्ताव का विरोध मुंशीराम ने इन शब्दों में किया था कि "कई महाशयों का विचार है कि परोपकारिणी सभा को ही सार्वदेशिक सभा में परिणत करने का प्रपत्र किया जावे। मेरा भी पार साल (1907) तक ऐसा ही विचार था। किन्तु एक वर्ष के अनुभव ने मुझको निश्चय दिला दिया कि यदि परोपकारिणी से सार्वदेशिक का काम लेना हो तो 25–30 वर्षों से पहिले सफलता नहीं मिल सकती। जब तक परोपकारिणी में कुछ सभासद् आर्य समाज के विरूद्ध मत रखने वाले बने रहेंगे, तब तक उसका नाम आर्य सार्वदेशिक सभा रखना व्यर्थ होगा। सम्भवतः ऐसे सभासद 30 वर्षों से भी अधिक समय तक भी जीते रहें।"

मुंशीराम सार्वदेशिक के प्रधान बनने पर पंजाब सभा की सीमित परिधि में से निकल कर अखित भारतीय स्तर के नेता बन गए। जोर्डेन्स के कथनानुसार सार्वदेशिक के प्रधान बनने पर उनके चिन्तन में यथेष्ठ परिवर्तन आया। वे पारिवारिक जीवन में तो प्रचण्ड परिवर्तनशील बने रहे परन्तु आर्य समाज के क्षेत्र में एकता के लिए उन्हें अपनी कुछ मान्यताओं में ढ़ील देनी पड़ी। इस ढ़ील के लिए जोर्डेन्स ने 'सद्धर्म प्रचारक' में मुंशीराम द्वारा लिखे गए एक लेख के अंशों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "मैं निश्चित रूप से इस विचार का था कि आर्य समाज में प्रवेश करते समय प्रत्येक सदस्य को 51 सिद्धान्तों को मानने की प्रतिज्ञा पर अवश्य हस्ताक्षर करने चाहिए। अब पूर्ण पर्यालोचन के बाद तथा आर्य समाज के दस नियमों में इनका समर्थन न मिलने से, मैंने अपना विचार इस विषय में बदल लिया है[22]।

अंग्रेजी राज के प्रशंसक

गुरुकुल कांगड़ी पर सरकारी प्रकोप की घटनाओं को उठाने से पहले हम महात्मा मुंशीराम के अंग्रेज शासकों के प्रति क्या विचार रहे, इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहते हैं। सम्भवतः अधिकांश पाठकों को इस तथ्य पर विश्वास नहीं होगा कि महात्मा मुंशी राम भी कभी राजभक्त थे। सन् 1857 की कान्ति के बाद इंगलैंड की रानी विक्टोरिया की इस घोषणा कि "अंग्रेजी सरकार भारत में धर्म के मामले में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी और धर्म के मानने वाले प्रत्येक समुदायों को धर्म प्रचार में पूर्ण स्वतन्त्रता होगी," का भारतीय धार्मिक क्षेत्र में बड़ा स्वागत हुआ। आर्य समाज की इस सम्बन्ध में क्या प्रतिकिया हुई, इसको जानने का इससे अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक सबूत हमारे पास स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण है। इस संस्करण में स्वामी जी ने लिखा है "सो आजकल अंग्रेज राज्य होने से उन राजाओं के राज्य से सुख भया है। क्योंकि अंग्रेज लोग मत मतान्तर की बात में हाथ नहीं डालते।" इस प्रकार आर्य समाज के संस्थापक ने अंग्रेजी राज्य के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट की। इसके पश्चात् थियासोफिकल सोसायटी की संस्थापिका मैडम ब्लैवेट्स्की ने स्वामी जी के विचारों को जानने के बाद लिखा कि "भारत में आये समस्त दोषों तथा वेदों के मिथ्या अर्थ करने के लिए वें ब्राह्मणों को दोष देते थे। वे उपस्थित समुदाय के समक्ष स्पष्ट घोषणा करते हैं कि एक समय जो देश महान् तथा स्वतन्त्र रहा, उसके अधः पतन और पराधीनता के लिए उक्त वर्ग ही उत्तरदायी है। इसके उपरान्त भी ग्रेट ब्रिटेन के लिए वह मित्र के तुल्य ही हैं, शत्रुवत् नहीं। वे स्पष्ट रुप से कहते हैं कि यदि आप अंग्रेजों को इस देश से निकाल बाहर करते हैं, तो मूर्तिपूजा का विरोध करने वालों के गले, चाहे वे स्वयं हों या कोई अन्य भेड़–बकरियों के समान काट डाले जायेंगे[23]।" इसी वक्तव्य की पुष्टि सन् 1894 ई. में लाहौर आर्य समाज के 32 वें वार्षिक उत्सव पर दिए गये मुंशीराम के भाषण के एक अंश से इस प्रकार होती है "स्वामी दयानन्द ने एक बार कहा था – यदि अंग्रेज लोग इस देश को छोड़कर आज चले जायें तो हमारे धर्मोपदेशकों के सिर तुरन्त काट डाले जायेंगे। क्या कोई आर्य समाजी एक क्षण के लिए यह सोच भी सकता है कि ब्रिटिश राज्य को यहाँ से चला जाना चाहिए और उसके स्थान पर सीमान्त प्रदेश की किसी जंगली

जाति का राज्य स्थापित होना चाहिए[24]।''

उपर्युक्त अंश से स्पष्ट है कि महात्मा मुंशीराम राजभक्त थे। इनकी राजभक्ति का और भी दृढ़ प्रमाण लाहौर के इसी उत्सव पर दिए भाषण के अंशों से भी मिलता है। अपने भाषण में महात्मा मुंशीराम ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा – ''मेरे पिता, जिन्होंने 1857 ई. को विद्रोह के बाद शान्ति–स्थापना के कार्य में बहुत बड़ा भाग लिया था, कभी–कभी अपने अनुभव मुझे बताते थे। उन्होंने मुझे जो कुछ कहा, उसके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि देश में शान्तिपूर्ण प्रगति तथा समन्वित विकास के लिए अभी एक शताब्दी तक ब्रिटिश राज्य का रहना आवश्यक है। हाल की घटनाओं ने हमारी राजनैतिक काया पर पड़े कोढ़ के तुल्य दागों को उजागर कर दिया है, जिन्हें हम पहिले नहीं जान सके थे। अब मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इससे पूर्व का मेरा आशावाद उचित नहीं था और मेरी भविष्यवाणी भी ठीक नहीं थी। अब मैं विश्वास करता हूँ कि आगे आने वाले तीन सौ सालों तक केवल ब्रिटिश प्रभुत्व ही इस देश में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रख सकता है और यदि शान्ति की इस शर्त को हटा दिया जाता है, तो विकास की पद्धति पर उन्नति की सारी सुविधायें और साधन गायब हो जायेंगे। मैं जानता हूँ कि आप में से अनेक मेरे विचार से सहमत नहीं होंगे। किन्तु मैं बिना किसी प्रतिवाद के भय से, यह कहने में संकोच नहीं करूँगा कि मेरी पूर्व धारणा त्रुटिपूर्ण तथ्यों पर आधारित थी[25]।''

अंग्रेजी शासकों के प्रति सद्भावना का सिलसिला उपर्युक्त वक्तव्य देने के बाद समाप्त हो गया हो, ऐसी बात नहीं थी। सम्वत् 1964 (1907 ई.) में सम्राट् एडवर्ड के जन्म दिवस पर आर्य समाज की ओर से सरकार को बधाई दी गई थी। इस बधाई की कुछ राष्ट्रीय समाचार पत्रों ने कटु आलोचना की थी। महात्मा मुंशीराम ने आर्य समाज के इस कदम को उचित बताते हुए लिखा था – ''आर्य समाज का प्रचार ब्रिटिश गर्वमेन्ट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमैन्ट की रक्षा का लाभ उठाते हैं, उसके लिए साल में एक बार धन्यवाद अवश्य देना चाहिए। यदि ब्रिटिश प्रजा होने के कारण कुछ अधिकार हैं, तो कुछ कर्तव्य भी हैं।

भारतवर्ष–मात्र के आर्य समाजों को एकमत होकर गवर्नमेंन्ट के धन्यवाद के लिए एक दिन नियत करना चाहिए[26]।'' देहली दरबार के समय सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके 'सद्धर्म प्रचारक' में 'सम्राट्! तुम यही रहो' शीर्षक से लिखा लेख भी राजभक्ति की माला में एक मोती के समाज दिखाई पड़ता है। महात्मा मुंशीराम की राजभक्ति की पराकाष्ठा तो सम्वत् 1969 (1912 ई.) में लार्ड हार्डिंग के दिल्ली प्रवेश के समय सभी सीमाओं को लाँघ गई। आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधान के रुप में आपने सभा की ओर से स्वागत का अभूतपूर्व प्रबन्ध किया था। सभा के कार्यालय 'ज्योति पाठशाला' के ठीक सामने मैदान में बड़ा शामियाना लगाया गया, जिसमें ढ़ाई सौ तीन सौ आर्य समाजी बैठे थे। शामियाने के सामने दो चौकियाँ थी, जिन पर आर्य समाज के भूषण स्वामी अच्युतानन्द, महात्मा मुंशीराम, पूर्णानन्द, राय रोशन लाल बैरिस्टर और बृजनाथ आदि बैठे थे। जैसे ही वायसराय का हाथी शामियाने के सामने आया, सबने खड़े होकर शान्ति पाठ पढ़ा और नमस्ते भगवन्! के ऊँचे नाद से आकाश मण्डल को गुँजा दिया[27]। शनैः शनैः एन्ड्रूज के सम्पर्क के कारण आपका व्यक्तिगत सम्पर्क उच्च अंग्रेज अधिकारियों से हो गया। इस सम्पर्क के कारण ही आपको इतना विश्वस्त समझा गया कि सन् 1916 ई. में हुई लखनऊ कांग्रेस में संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने बुला कर यह कहा कि 'मारिस–कर्टियस' सरक्यूलर के सम्बन्ध में आप मिस्टर कर्टियस को महात्मा गांधी से मिला दें।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों को देने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम महात्मा मुंशीराम की राष्ट्रीय छवि को धूमिल करना चाहते हैं। हमारा अभिप्राय तो यह दर्शाना है कि ऐसे सद्भावपूर्ण विचार

रखने वाले व्यक्ति को किन कारणों से अपना मनोभाव परिवर्तित करना पड़ा। क्या महात्मा जी का यह परिवर्तन निजहित की भावना पर था अथवा आर्य सामाजिक भावना के वशीभूत होकर था, इस निष्कर्ष पर पहुँना ही हमारा लक्ष्य है। महात्मा मुंशीराम ने राजभक्ति का दम भरने के लिए सरकार के सामने कभी भी अपना दांवा पेश नहीं किया। उनकी राजभक्ति एक वकील की पृष्ठभूमि में शासन के प्रति अधिकार और कर्तव्य की संवैधानिक कोटि की थी। उनमें अन्ध भक्ति और खुशामद नहीं थी। यदि अन्धभक्ति और खुशामद होती तो वे पंजाब के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर इब्टसन के स्मारक के लिए चन्दा देने वाले रायबहादुरान लालचन्द, मोहनलाल, ईश्वर दास और नारायणदास आदि के सम्बन्ध में यह नहीं लिखते कि 'यह सच है कि वर्तमान अवस्था में रायबहादुरों को लाट साहबों की खुशामद करनी पड़ती है, किन्तु खुशामद की कहीं हद भी होनी चाहिए।" लाला लाजपत राय के निर्वासन के समय जिस चरित्र का परिचय आपकी लेखनी ने दिया था, वह अन्धभक्ति और खुशामद से कोसों दूर थी। कभी मद्रास कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष होने वाले मिस्टर नार्टन जब बंगाल के कान्तिकारियों के विरुद्ध सरकारी पक्ष की ओर से वकील बने थे, तो आपने उनकी घोर निन्दा की थी।

आर्य समाज को सरकारी प्रकोप से बचाने का प्रयास

महात्मा मुंशीराम के अंग्रेजों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध रहते हुए भी आर्य समाज के कारण राष्ट्र भक्ति का उदय हुआ। अनेक स्पष्टीकरणों और ईमानदारी युक्त राज्य भक्ति के प्रदर्शनों के बावजूद ब्रिटिश अधिकारियों के मन में आर्य समाज के सम्बन्ध में अनेक संशय बने रहे। वे आर्य समाज को राजनीति से जोड़ते रहे और मुंशीराम को और उसकी संस्था गुरुकुल कांगड़ी को भी इसी योजना का अंग मानते रहे।

इस अवधि में मुंशीराम अकेले ही आर्य समाज की दलबन्दी से ऊपर उठकर और किसी राजनैतिक पार्टी से असम्बन्धित रहकर आर्य समाज को सरकारी कुदृष्टि से बचाने के प्रयास में लगे रहे। उनके भाषणों एवं लेखों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके सामने तीन लक्ष्य थे। प्रथम लक्ष्य यह सिद्ध करना था कि आर्य समाज का समूह रूप में किसी भी राजनैतिक दल से कोई सरोकार नहीं, वह तो एक धार्मिक संस्था है। अपने इन्हीं विचारों को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था कि–

"राजनैतिक आन्दोलन आर्य समाज के कार्य की परिधि में नहीं आता। इसलिये नहीं कि आर्य समाज शिक्षित भारतीयों की उचित आकांक्षाओं का विरोधी है, किन्तु वह यह मानता है कि राजनैतिक अधिकारों की समुचित प्राप्ति के लिए उसकी रक्षा तभी सम्भव है, जबकि उन अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले चरित्रवान् हों। जब तक भारतवासी यह नहीं समझ लेते कि धार्मिक प्रवृत्ति ही राष्ट्रों की उन्नति का कारण होती है और जब तक दलित जातियाँ ब्राह्मण तानाशाहों के पैरों तले कुचली जा रही हैं, जब तक उस देश के लोगों को आजादी प्रदान करना खतरनाक ही है, क्योंकि इस देश के छह करोड़ नागरिक तो अछूत होने के कारण ही अन्य सामान्य अधिकारों से वंचित हैं[28]।" महात्मा मुंशीराम ने लोगों की इस भ्रान्त धारणा को भी मिटाना चाहा कि आर्य समाज ने अपने राजनैतिक सिद्धान्त स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से ग्रहण किये हैं। इस विषय पर उन्होंने 1907 ई. में 'सिविल एण्ड मिलिट्री गजट' में पत्र लिखकर प्रकाश डाला था।

इस अवधि में उनका दूसरा लक्ष्य था किसी भी प्रकार के आतंकवाद के विरुद्ध आवाज उठाना। उनकी दृष्टि में वह आर्य समाजी मृत्युदण्ड के योग्य है जो कि आतंकवाद के माध्यम से किसी को हत्या करने की प्रेरणा देता है। उनकी यह मान्यता थी कि आतंकवाद का पाठ लोगों ने ब्रिटिशों से सीखा है, न कि आर्य समाज से।

उनका तीसरा लक्ष्य यह था कि आर्य समाजियों पर सरकारी अधिकारियों द्वारा राजद्रोह का बहाना बनाकर जो उत्पीड़न हो रहा है, उसका निश्चय से ही प्रतिकार होना चाहिए। सरकारी अधिकारियों

के उत्पीड़न की उन्होंने कटु आलोचना की। वे मात्र कटु आलोचना से ही सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु समय आने पर उन्होंने अपने कार्यों से यह प्रमाणित कर दिया कि उनकी कथनी और करनी एक है। इस सन्दर्भ में हम पटियाला अभियोग (1909) को प्रस्तुत करना चाहेंगे।

पटियाला का आर्य समाज एक शक्तिशाली आर्यसमाज था। अनेक प्रमुख सरकारी अधिकारी तक इसके सदस्य थे। परन्तु यह आर्यसमाज रियासत के उच्चाधिकारी मिस्टर वारबर्टन की आँखों में काँटे की तरह चुभता था। मिस्टर वारबर्टन का सेवाकाल समाप्त होने को जा रहा था। अपने सेवाकाल में वृद्धि करवाने के लिये उन्हें यह दिखाना था कि रियासत में गड़बड़ी चल रही है और ऐसी स्थिति में एक अनुभवी अधिकारी को सेवा मुक्त करना उचित नहीं होगा। बस इसी गड़बड़ को दिखाने के लिये इन्होंने पटियाला के अनेक आर्यसमाजियों को राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया। आर्यसमाजियों की गिरफ्तारी से सारे पंजाब में हलचल मच गई। इस अभियोग में महात्मा मुंशीराम कैद किये आर्यसमाजियों की तरफ से वकील बनकर अदालत में उपस्थित हुए और मुकदमें का फैसला आर्यसमाज के पक्ष में हुआ।

'पटियाला अभियोग' की समाप्ति पर महात्मा जी ने इस विषय पर 'द आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स ए विण्डीकेशन' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में सरकारी स्तर पर आर्यसमाजियों को तंग करने की अनेक घटनाएँ दी गई हैं। इसमें स्पष्ट रूप से सरकारी अधिकारियों पर दोषारोपण किया है। इस पुस्तक के विरुद्ध कार्यवाही करने की एक गुप्त रपट भी भेजी गई। इस रपट के अनुसार इस पुस्तक में यह लिखा गया है कि महारानी विक्टोरिया की स्पष्ट नीति की घोषणा के बाद भी आर्यसमाज के प्रति सरकारी अधिकारियों का रवैया महारानी की घोषणा के विपरीत है। यह टिप्पणी ब्रिटिश प्रशासन के प्रति अविश्वास उत्पन्न करती है। ब्रिटिश अधिकारियों के आर्यसमाज के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहारों के उदाहरण देकर इस पुस्तक ने लोगों के मनों में इस भाव को बैठा दिया है। यदि इस पुस्तक के प्रति कोई कदम नहीं उठाया जाता है तो यह लोगों के मनों में दुर्भावना को बैठा देगी। अतः 'प्रेस एक्ट' की धारा 12 के अन्तर्गत कार्यवाही करने का औचित्य है। परन्तु यह बात सिरे नहीं चढ़ सकी।

महात्मा मुंशीराम ने एक कदम और आगे बढ़ाते हुए आर्यसमाजियों को सुझाव दिया कि उन्हें गवर्नर की अपेक्षा वायसराय लार्ड मिन्टो से मिलकर अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए। परन्तु ऐसा करते समय उन्होंने आर्यसमाजियों को सचेत किया कि वे भिखारी की भाँति लार्ड मिन्टों से नहीं मिलें, अपितु सरकार उन्हें मिलने के लिए निमन्त्रित करे। इस सुझाव के पीछे यह भावना थी कि सरकार आर्यसमाज को एक संगठित शक्ति के रूप में पहिचाने। इसके साथ ही महात्मा मुंशीराम ने उन आर्यसमाजियों को भी लताड़ा जो थोड़े से सरकारी भय के कारण आर्यसमाज के सदस्यता को छोड़ने के लिये तत्पर थे। उन्होंने मूल राज के उस प्रस्ताव का भी विरोध किया जिसमें यह कहा गया था कि राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले आर्यसमाजियों के नाम डी.ए.वी. कालेज कमेटी से काट देने चाहिए।

गुरुकुल को राजद्रोहों में घसीटना

महात्मा मुंशीराम के बढ़ते हुए धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र के प्रभावी कद को काटने के लिए सरकारी तन्त्र ने उन द्वारा स्थापित गुरुकुल को ही अपना निशाना बनाना चाहा। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने गुप्तचर विभाग को सतर्क किया। एक सरकारी गुप्त रिपोर्ट में कहा गया कि "आर्यसमाज के संगठन में अभी जो महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव में सरकार के लिए बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली। इस प्रणाली में चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, किन्तु भक्तिभाव और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित साहसी धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है, कि यहाँ आठ वर्ष की ही आयु में बालकों को माता-पिता के प्रभाव से भी

बिल्कुल दूर रखकर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायुमण्डल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ढ़ाला जाता है, जिससे उनकी रग–रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की सीधी देख–रेख में बालकों की उस सत्रह वर्ष की अवधि तक बराबर जारी रहेगा, जो कि मनुष्य के जीवन में सब से अधिक प्रभावशाली समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तैयार होंगे, वे सरकार के लिए अत्यन्त भयानक होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं है। उनमें उत्पन्न हुआ व्यक्तिगत विश्वास और अपने सिद्धान्त के लिए कष्ट सहन करने की भावना, अपितु समय आने पर प्राणों तक को न्यौछावर कर देना, साधारण जनता पर बहुत प्रभाव डालेगा। इससे उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे जो उनके मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिए उनका उद्देश्य सारे भारत में एक ऐसी जाति–धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिन्दू एक भ्रातृभाव की श्रृंखला में बंध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थ प्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन, मन, धन–सर्वस्व को देश हित के लिए अर्पण कर दो।''

इस रिपोर्ट की अगली पंक्तियाँ गुरुकुल कांगड़ी पर लिखी गई हैं। इन पंक्तियों में लिखा है कि ''इस समय गुरुकुल में शिक्षा पाने वाले उपदेशकों (ब्रह्मचारियों) का शिक्षा प्राप्ति की समाप्ति पर सरकार के प्रति क्या रुख होगा? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढांचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का प्रचार वे करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत श्रद्धा एवं विश्वास होगा, जिसका जनता पर सहज ही प्रभाव पड़ेगा।''

गुरुकुल को संदेहों के घेरे में बन्द करने के बाद इस रिपोर्ट में महात्मा मुंशीराम को भी सरकार विरोधी सिद्ध करने के लिए लिखा है कि ''सन् 1894 ई. में जब लाला मुंशीराम गुरुकुल के लिए धन संग्रह कर रहे थे, तब उन्होंने सरकार की निन्दा करते हुए यह बात कही थी कि सिपाही भी कितने मूर्ख हैं, जो सत्रह–अठारह रुपयों पर भर्ती होकर सिर कटवाते हैं''। इसी प्रकार एक गुप्तचर ने अपनी रपट में महात्मा मुंशीराम के आचार्यत्व में चल रहे गुरुकुल कांगड़ी के सम्बन्ध में लिखा कि ''गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुए हैं जिनमें अंग्रेजी राज के पहिले की भारत की अवस्था और अंग्रेजों के कलकत्ता आने की स्थिति दिखांई गई। लखनऊ के सन् 1857 ई. के राजविद्रोह के चित्र भी लगे हुए हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर ऐफ. फोर्ड ने 'जोन आफ आर्क' का भी वह बड़ा चित्र गुरुकुल मे् देखा था, जिसमें वह अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है[29]।''

गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों की शिक्षा–दीक्षा के सम्बन्ध में विचित्र–विचित्र प्रकार के सन्देह सरकारी अधिकारियों के मनों में उत्पन्न कर दिए गए थे। उन पर यह आरोप लगाये गये कि सरकार की सत्ता की चूल हिलाने के लिए वे निष्णात अश्वारोही हैं और बन्दूक चलाने में कुशल हैं। वे अर्जुन की भाँति एक ही निशाने में लक्ष्य–वेध कर सकते हैं। यह भी कहा गया कि वे तगड़े कसरती पहलवान हैं, जिन्हें चन्द्रमा के प्रकाश में लड़ सकने की आधुनिक युद्ध–प्रणाली का शिक्षण दिया गया है[30]। इसी प्रकार की एक घटना का वर्णन स्वामी श्रद्धानन्द ने लाहौर आर्यसमाज के 32 वें वार्षिकोत्सव पर सुनाया कि ''कुछ महीने पहिले एक डिप्टी कलेक्टर गुरुकुल में आए। उन्होंने अपना परिचय एक वकील के रूप में दिया था। मुझे इस बात की खबर पहले ही मिल चुकी थी कि एक डिप्टी कलेक्टर गुरुकुल में आयेंगे और अपने को एक वकील के रूप में परिचित करायेंगे। आधी रात के समय मैंने नकली वकील साहब को एक प्रेत की भाँति छात्रों के खेल के मैदान में घूमते देखा, जहाँ हमारे विद्यार्थी गतका–फेरी खेलते थे। इसी खुली जगह के चारों ओर घास–फूस की चार दीवारी बना दी गई थी, ताकि स्त्रियाँ उधर न आएँ। परन्तु ऐसा लगता था, इस कानून पेशा व्यक्ति का दिमाग इतना कुण्ठित हो गया था कि वह रात

को भी दिन समझने का भ्रम पाले हुए था। वह उस स्थान पर निश्चेष्ट तथा भावहीन आकृति लेकर निरर्थक घूम ही रहा था कि मैंने उसका हाथ पकड़ लिया और मुस्कुराते हुए नटखटपन के साथ कहा – 'क्यों दोस्त हमारे सारे गुप्त रहस्यों को तुमने जान लिया है।' वह भौचक्का सा रह गया और फौरन अपने चेहरे के भाव को बदल कर बोला – आपने मुझे ढूंढ ही लिया। ठीक है, मैं वही हूँ जो मैंने आपको बताया था। गुरुकुल तो सत्य और धर्म का केन्द्र है। मैं इस पर अब दोषारोपण नहीं करूँगा[31]।''

क्या गुरुकुल के सम्बन्ध में सरकार विरोधी भावना का स्वर निर्मूल था अथवा इस प्रकार के सन्देह में सत्य का भी कुछ अंश थी, यह जानना भी अत्यावश्यक है। इन्द्र के शब्दों में गुरुकुल सरकार विरोधी भावना को हवा देने वाला किसी भी रूप में नहीं था। लेकिन ''नौकरशाही में जो झुकना नहीं जानता या सलाम करना नहीं जाने, वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। गुरुकुल के अधिकारियों और ब्रह्मचारियों में सबसे बड़ा दोष यही था कि वे न सरकार से कुछ मांगते थे और न अफसरों की दहलीज पर सिर झुकाना आवश्यक समझते थे[32]।''

परन्तु हमारे पास ऐसे भी साक्ष्य हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि गुरुकुल में जहाँ विद्रोही गतिविधियाँ चालू थी, वहाँ अंग्रेजों के प्रति दुर्भावना और असदभावना भी थी। गुरुकुल विद्यालय विभाग के बाद गुरुकुल कांगड़ी में 1907 ई. में महाविद्यालय विभाग खुल गया था। इस विभाग में विभिन्न रुचियों और विचारों के उपाध्यायों की नियुक्तियाँ भी होती रहीं। सन् 1908 के आस–पास गुरुकुल महाविद्यालय विभाग में चार प्रकार की विचार धारा के उपाध्याय कार्यरत थे। एक प्रकार के उपाध्याय वे थे जो अपनी गर्मदलीय विचार धारा के कारण अंग्रेजों के स्वागत के पक्ष धर नहीं थे। ऐसे उपाध्यायों में घनश्यामसिंह गुप्त थे। गुप्त जी गुरुकुल की सेवा में 1908 से 1910 तक रहे। गुरुकुल के सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिखते हुए उन्होंने कहा है ''आप मेस्टन साहेब से न मिलना चाहें, तो कोई बात नहीं, इस प्रकार के शब्द कह कर उन्होंने (महात्मा मुंशी राम) ने मुझे छुटकारा दिया था। सर जेम्स मेस्टन संयुक्त प्रान्त के गवर्नर गुरुकुल देखने आ रहे थे। मैं गणित और पदार्थ विज्ञान का अध्यापक था। बंगभंग आन्दोलन के पश्चात् गर्मदलीय विचार का था और युवक काल में मुझ में उद्दण्डता की मात्रा पर्याप्त थी, जिसे मैं अपना उत्साह मानता था। कहीं बातचीत में मुझ से कुछ ठन जाए, इस आशंका से मैं गवर्नर साहेब से मिलना टालना चाहता था और इसकी अनुमति मुझे सहर्ष मिल गई[33]।''

उपाध्यायों में दूसरी विचार धारा के वे अध्यापक थे जो न तो गर्मदल और न नरम दल के राजनीति की दलदल में कभी फंसे थे। ऐसे अध्यापक गुरुकुल में रहते हुए भी प्राचीन सनातनी विचार धारा के थे जो विदेशी के छूने मात्र से अपने को अपवित्र समझ बैठते थे और प्रायश्चित के रुप में गोबर आदि मल कर अपनी शुद्धि कर लेते थे। इस प्रकार के अध्यापकों के प्रतिनिधि संस्कृत के अध्यापक सूर्यदेव थे। गुरुकुल कांगड़ी में वायसराय के आगमन पर ब्रह्मचारियों के संस्कृत भाषण का प्रदर्शन कराने के लिए 'संस्कृत क्लब' में एक विशेष सभा का आयोजन किया गया था। वायस राय से अध्यापकों का परिचय कराते समय पं. सूर्यदेव जी सबसे पीछे खड़े थे और वायस राय को अपनी ओर आते देखकर कमरे से खिसकने के प्रयास में ही थे कि वायस राय ने उनसे हाथ मिलाने का प्रयास किया। अब पंडित के पास म्लेच्छ के स्पर्श से बचने का कोई उपाय नहीं था, बेबस होकर हाथ मिलाना पड़ा। वायस राय के कमरे से निकलते ही पंडित जी शिव–शिव कहते हुए अपने निवास की ओर भागे। वहाँ जाकर कपड़ो सहित गंगा में कई डुबकियाँ लगाईं और अपने प्रिय शिष्य को भेजकर गोशाला से गोबर मंगाया और म्लेच्छ सम्पर्क से भ्रष्ट हुए हाथों को दसों बार गोबर से पवित्र किया[34]।

तीसरी विचार धारा के उपाध्याय प्रत्येक सम्भ्रान्त नागरिक अथवा उच्चकोटि के विद्वान् अथवा सम्मान्य राजनैतिक व्यक्ति अथवा उच्च शासनाधिकारी के गुरुकुल आगमन पर प्रसन्न होते थे। उनकी मान्यता में ऐसे व्यक्तियों के आगमन से गुरुकुल का महत्त्व बढ़ता है एवं गुरुकुल को प्रसिद्धि मिलती है।

इस विचार के अध्यापकों का बहुमत था। चौथी विचार धारा के उपाध्यायों को हम कान्तिकारी विचार धारा के अनुयायी कह सकते हैं। इस विचार के उपाध्यायों में सबसे अग्रणी श्रीपाद दामोदर सातवलेकर थे। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने संस्मरण में गुरुकुल में होने वाली कान्तिकारी गतिविधियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि–

"अंग्रेज अधिकारियों को इस बात का सन्देह था कि गुरुकुल में राजद्रोही नौजवान तैयार किये जाते हैं। यह सन्देह राज्यपाल एवं राजप्रतिनिधि के दिल में भी था। इस बात की तहकीकात करने के लिए राजप्रतिनिधि ने एण्ड्रूज को गुरुकुल में रहने के लिए भेजा। उन्होनें वहाँ आने का बहाना बनाया कि 'मैं गुरुकुल में ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी सिखाने आया हूँ। वे ब्रह्मचारियों के बीच में ही रहते थे। वे सिखाते तो अंग्रेजी थे, पर आये थे जासूसी के लिए। गुरुकुल में साल भर रहे, अन्त में उन्होनें रिपोर्ट दी कि गुरुकुल में राजद्रोह की सीख नहीं दी जाती। इस कारण अंग्रेजों का सन्देह थोड़ा मिट गया। तथापि गुरुकुल में पुलिस के बार–बार आने–जाने के कष्ट होते रहे। पर महात्मा जी की चतुराई के कारण वे कष्ट भी नष्ट हो जाते थे।

इन्ही दिनों बंगाल में बम तैयार करने वाले नौजवानों का एक दल अपने रंग पर था। उस दल के कार्यकर्ता चारो ओर से प्रान्तों में फैल गये थे। हरिद्वार में भी उनका एक अड्डा था। उस अड्डे से उन नौजवानों के संकेत और अन्य साहित्य गुरुकुल के ब्रह्मचारियों तक पहुँच गये थे। उनकी कोशिशें बेमिसाल होती थी। यद्यपि महाविद्यालय (गुरुकुल का कालेज विभाग) के सभी तरुण उस दल में शामिल नहीं थे, फिर भी दस–पाँच विद्यार्थियों तक बम बनाने वाले सभी ग्रन्थ पहुँच चुके थे।

यह बात पुलिस के कानों से जा टकराई। गुरुकुल के विद्यार्थियों को यह सूचना मिल गई थी कि किसी भी दिन एकदम छापा मारकर निरीक्षण किया जा सकता हैं जिस प्रकार गुप्त पुलिस के जासूस हमारे बीच में रहकर अपना काम करते थे, उसी प्रकार हमारे भी कुछ हित–चिन्तक गुप्त पुलिस के कार्यालयों में थे। इसलिए अगले चार–पाँच दिनों में जो होने वाला होता, उसकी खबर गुरुकुल तक उड़ती हुई चली आती और ब्रह्मचारी गण अपने कमरों को साफ–सूफ कर देते थे। इसी प्रकार जो सन्देहास्पद अध्यक्ष थे, उन्हें भी समय–समय पर सूचना मिल जाया करती थी। मैं भी सन्देहास्पद अध्यापकों में से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक रात हमने बम तैयार करने की पद्वति बताने वाले सब ग्रन्थ जमीन में. गाड़ दिये थे और सब कमरे साफ कर दिये थे[35]।

उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि गुरुकुल में राजभक्ति का पाठ न पढ़ाकर अध्यापक वर्ग छात्रों को राष्ट्रप्रेम का सन्देश भी अपने व्यवहार द्वारा निरन्तर देते रहते थे। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त चारो विचार धाराओं के उपाध्यायों का परस्पर ताल–मेल बैठाकर महात्मा मुंशीराम अपनी कुशलता से गुरुकुल को प्रत्येक प्रकार के कटाक्षों और सन्देहों से बचाते हुए आगे बढाते रहे।

जालन्धर की कोठी का दान

गुरुकुल को और भी आगे बढ़ाने के लिये अभी महात्मा मुंशीराम को 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' के रूप में अन्तिम आहुति डालनी शेष थी। दोनो पुत्रों के स्नातक बनने से एक वर्ष पूर्व 1910 ई0 की प्रातः कालीन बेला में दोनों पुत्रों (हरिश्चन्द्र और इन्द्र) को महात्मा जी ने बुलाया और एक पूरे आकार के लिखे हुये कागज को उनके सामने रख कर हस्ताक्षर करने के लिए कहा। यह कागज देखने में सामान्य था, परन्तु इस पर लिखा 'सर्वमेधयज्ञ' की घोषणा का सूचक था। इस 'सर्वमेध यज्ञ' की घोषणा का सारांश इस प्रकार था–

"मैने अपनी शक्ति के अनुसार अपने जीवन में वैदिक धर्म की सेवा की है। स्वामी दयानन्द की मान्यताओं के अनुसार वैदिक धर्म के पुनरुद्वार और आर्य जाति के उत्थान के लिये गुरुकुल का संचालन

कर रहा हूँ। मैंने गुरुकुल के लिये अपनी सब शक्ति लगा दी हैं, परन्तु अब मुझे अनुभव हो रहा है कि मेरा अब तक का प्रयत्न अधूरा था। मैंने अभी गुरुकुल के लिये सब कुछ नहीं दिया। जालन्धर में मेरा जो मकान हैं, वह पैतृक नहीं हैं, मैंने अपनी कमाई से बनाया है। उसमें अभी तक मेरी ममता विद्यमान है। मैं उसे भी मिटा देना चाहता हूँ। इस कारण मैं इस दान पत्र द्वारा वह मकान गुरुकुल कांगड़ी के लिए आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब को समर्पित करता हूँ[36]।

इस 'दान पत्र' पर दोनो लड़कों के हस्ताक्षर होने इसलिए अनिवार्य थे कि इस मकान के सम्बन्ध में इस 'दान पत्र' से पूर्व एक 'इच्छा पत्र' (वसीयतनामा) महात्मा जी लिख चुके थे। जिसमें उन्होनें लिखा था कि मकान को बेचकर जो दाम मिलें वह दोनो पुत्रों को आधे–आधे बाँट दिये जाएं। 'इच्छा पत्र' में हरिश्चन्द्र को दस हजार रुपयै से प्रैस और समाचार पत्र चलाने का आदेश था और इन्द्र के लिये विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने का आदेश था। इस नये 'दान पत्र' से पूर्व इच्छा पत्र' स्वतः अमान्य हो जाता था। परन्तु फिर भी प्रत्येक प्रकार की अनापत्ति से बचने के लिये महात्मा जी दोनों लड़कों की स्वीकृतिलेना उचित समझते थे। हरिश्चन्द्र और इन्द्र ने 'दान पत्र' को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता से हस्ताक्षर कर दिए। गुरुकुल के उत्सव तक इस 'दान पत्र को गोपनीय ही रखा गया।

1910 ई0 में गुरुकुल के वार्षिक उत्सव पर धन की अपील करते हुए अपना 'दानपत्र' जनता को पढ़कर सुनाया दान–पत्र को सुनकर अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार सभी श्रोता द्रवित हो गये।

प्रथम स्नातकः-

सन् 1911 ई0 का गुरुकुल का वार्षिकोत्सव महात्मा मुंशीराम के लिए सबसे अधिक हर्ष को देने वाला माना जाना चाहिए। कुल के माली ने अपने संरक्षण में रोपे बिरवे पर फल आते देखा और स्वयं महात्मा जी के दोनो पुत्र गुरुकुल कांगडी से सर्वप्रथम दल के रूप में स्नातक बने ओर 'विद्यालंकार' की उपाधि द्वारा उन्हें अलंकृत किया गया। जो महत्त्व गुरुकुल के प्रथम 'वेदारम्भ' संस्कार का था, वहीं महत्त्व प्रथम 'दीक्षान्त' संस्कार का भी था। पैरों में खड़ाऊ के स्थान पर चप्पल शोभायमान थी। अंजन–मंजन की स्वीकृति मिल गई थी। प्रथम 'दीक्षान्त'समारोह के अवसर पर दिया गया महात्मा जी का भाषण चिर स्मरणीय है। महात्मा जी ने अनाघ्रात के समान पर गन्ध से अपरिचित और अनालुंचित किसलय के समान पर स्पर्श से अकलुषित ब्रह्मचारियों को अपना सन्देश देते हुए कहा ''यज्ञरूप परमात्मा धन्य हैं, जिसकी अपार कृपा से आर्यसमाज के रचे हुए इस ब्रह्मचर्य आश्रम रूपी महान् यज्ञ का पहिला चरण आज पूर्ण होता है। आर्यजाति का कौन ऐसा सदस्य हैं, जिसे सहस्रों वर्षो से लुप्त हुये इस दृश्य का आज पुनः दर्शन कर प्रसन्नता न हो रही हो। गुरुकुल के स्नातकों ! तुम गुरुकुल रूपी वृक्ष के पहले फल हो। सारे सभ्य संसार की आँखें तुम पर लगी हुई हैं। परमात्मा का तुम पर आशीर्वाद हो कि तुम संसार में धर्म और शान्ति फैलाने के साधन बन कर अपने कुल के यश को सारे संसार में फैलाओ। तुम्हारा कर्तव्य इस कारण से भी अधिक है कि पीछे आने वाले स्नातक तुम्हारा अनुकरण करेंगे। उनके लिये केवल तुम ही आदर्श होगें। मैं जानता हूँ कि तुमको बड़ी कठिनाइयाँ होंगी? जब कि तुम्हारे लिये इस समय कोई भी व्यक्ति आदर्श रूप में मार्ग दर्शन के लिए उपस्थित नहीं है। तुम्हें अपना मार्ग स्वयं बनाना है। मुझे पूर्ण आशा है कि तुम्हारे आचार्य और उनके दूसरे–सहकर्मियों ने जो प्रयत्न तुम्हारी शिक्षा को पूर्णतया फलदायक बनाने के लिए किए हैं, वे अवश्य अत्युत्तम फल लावेंगे और तुम पीछे आने वाले स्नातकों के लिए अत्युच्च आदर्श बनोगे। मैं आज आर्यसमाज को भाग्यशाली समझता हूँ कि जिसके लगातार प्रयत्नों से यह सफलता प्राप्त हुई हैं। इस यज्ञ मण्डप में उपस्थित देवियो और सभ्य पुरुषों से मेरी प्रार्थना है कि वे सब एकत्रित होकर इन स्नातकों को आशीर्वाद दें, जिससे वे अपने धर्म और अपने देश के यश को देश–देशान्तरों में पहुँचाने में कृतकार्य हो[37]।

इन्द्र को गुरुकुल के लिए जीवन दानी बनाने का विचारः-

स्नातक बनने के पश्चात् इन्द्र गुरुकुल में पढ़ाने लगे और हरिश्चन्द्र दिल्ली में रहकर समाचार पत्र निकालने लगे। परन्तु कुछ समय पश्चात् ऐसा हुआ कि इन्द्र गुरुकुल छोड़कर दिल्ली चले गए और हरिश्चन्द्र गुरुकुल में आकर पढ़ाने लगे। महात्मा जी अपने दोनों पुत्रों में से हरिश्चन्द्र को योग्य मानते हुए भी इन्द्र को अपनी रुचियों के अधिक अनुकूल समझते थे। इन्द्र महात्मा जी के हृदय के भावो को बिना कहे ही समझ लेने की क्षमता रखते थे। इन्द्र की कार्यक्षमता और व्यवहार पटुता को देखकर महात्मा जी के मन में अपने द्वारा आरम्भ किए 'सर्वमेध यज्ञ' का यजमान बनाने की भावना पनपने लगी। वे इन्द्र से कुरुवंशी देवव्रत के समान आजन्म ब्रह्मचारी रहने की कठोर प्रतिज्ञा करवा कर गुरुकुल का भीष्म पितामह बनाना चाहते थे। इसी आशा से उन्होने इन्द्र को एक पत्र इस प्रकार लिखा--

ओम्

गुरुकुल

26.12.69 विक्रमी

मेरे प्यारे पुत्र,

कल के पत्र में अपनी हार्दिक इच्छा का एक भाग प्रकाशित कर चुका हूँ। इस भाग पर हरिश्चन्द्र तथा डाक्टर सुखदेव से भी बातचीत हो चुकी हैं। किन्तु आज अपना सारा विचार तुम्हारे सामने रखना चाहता हूं। इस विषय में और किसी से न बात कर सकता हूं और न करुँगा।

मैंने देखा है कि गुरुकुल का काम जितना महान् है, उतना ही महान् बलिदान चाहता है। जिस मनुष्य का कोई भी सांसारिक या पारमर्थिक अन्य कोई सम्बन्ध हो उसके लिये गुरुकुल की सर्व ओर रक्षा करना तथा उसे उन्नत करना कठिन है। यही कारण है कि न केवल विवाहित पुरुष ही यहाँ पूरा लाभ नहीं पहुँचा सकते, प्रत्युत वे परिवारहीन पुरुष भी जिनको कोई अन्य लगन हैं, यहाँ की सहायता में पूर्णतया कृतकार्य नहीं हो सकते। गुरुकुल को चलाने के लियेअन्य योग्यताएँ भी चाहिए, किन्तु सबसे बड़ी योग्यता यह होनी चाहिए कि यहाँ के ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त यहाँ के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता की दृष्टि में ओर कोई भी बड़े से बड़ा आत्मिक उद्देश्य भी कुछ मूल्य न रखता हो।

अब प्रश्न यह हैं--क्या तुम्हारी रुचि विवाह की ओर है ? यदि है तो मैं जानता हूँ कि जो दिल तुम्हें मिला हैं उसके अनुसार तुम्हारे प्रेम का बड़ा भाग उधर चला जायेगा। गुरुकुल का गृहपति बनने के लिये आवश्यक है कि गुरुकुल को माता--पिता, भ्राता, धर्मपत्नी, सबके स्थान पर समझा जाए। क्या इस कठिन आत्मसमर्पण का दृढ़ भाव तुम्हारे अन्दर है? यदि है तो गुरुकुल बड़ा भाग्यशाली होगा--यदि नहीं, तब भी गुरुकुल तुम्हारे सदाचार तथा उच्च भावों का अभिमान तो कर ही रहा है।

मेरे प्यारे पुत्र ! अपने अन्दर के भाव तुम्हारे सामने रख दिये है। यदि तुम इस कठिन प्रश्न पर विचार करके किसी परिणाम पर शीघ्र नहीं पहुँच सकते हो तो मुझे लखनऊमें बाबू गंगा प्रसाद वर्मा द्वारा तार दे देना कि अभी दिल्ली न आऊँ। तार 10 अप्रैल प्रातः देना। यदि कोई तार न आया तो जैसा मैने लिखा हैं, 12 को या 13 अप्रैल को प्रातः 5 बजे मैं दिल्ली पहुँच जाऊँगां।

तुम्हारा सदैव सन्तुष्ट पिता

मुंशीराम

महात्मा जी के पत्र को पाकर इन्द्र ने लम्बे विचार मन्थन के उपरान्त प्रायः यह निश्चय कर लिया था कि पिता और आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होनी ही चाहिए। आजन्म ब्रह्मचारी रहकर गुरुकुल के लिये जीवन दान करने की इन्द्र की भावना को जान कर महात्मा जी को अपार हर्ष और आनन्द हुआ। अपने आनन्द को उन्होनें एक पत्र के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया–

ओम्

गुरुकुल

13.5.1970 (विक्रमी)

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम्हारा पत्र अभी पहुँचा। तुम्हारा पत्र पढ़ रहा हूँ और बराबर आनन्द की अश्रुधारा बह रही है। परमात्मा ने इसी जन्म में कृतकार्य कर दिया, यह मेरा रोम–रोम इस समय अनुभव कर रहा हैं। कि मेरे प्यारे पुत्र! जिस दिन के लिए मैं रातों जागकर परमेश्वर से प्रार्थना करता रहा, जिसके लिये ही मैं संसार के अपने से निर्बल आत्मा के लिए असह्य से असह्य दुखों को सहन करता रहा, वह दिन आज मैंने देखा।

इससे अधिक आज लिखने की कुछ शक्ति नहीं। अभी तो इस आनन्द को ही बार–बार अनुभव करके आनन्दित होने दो, कार्य के साधनों का विस्तृत विचार फिर होगा।

जैसे कि लिख चुका हूँ कि 30 मई को यहाँ से चलूँगा। यदि तुम भी 31 मई को लाहौर पहुँचोगे, तों वहाँ सभा के अधिवेशन से निवृत्त होकर दो जून को दिन का बड़ा भाग विचार में ही कटेगा।

तुम्हारा

मुंशीराम

महात्मा मुंशीराम का उपर्युक्त आनन्द चिर स्थायी नहीं रह सका। इन्द्र अपनी भीष्म प्रतिज्ञा से पीछे हट गए ओर 1916 ई0 में गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने लगे। एक शिष्य ने गुरु द्वारा दक्षिणा मांगने पर उसकी झोली में सर्वस्व डाला। इस सर्वस्व को पाकर गुरु लूठे–लूठे फिरे। किन्तु कुछ काल के उपरान्त अपने सर्वस्व को गुरु की झोली से निकाल कर उसे पुनः कंगाल बना दिया। शिष्य का यह व्यवहार गुरू के मन को कितनी ठेस दे गया, कितना गहरा घाव कर गया और कितना निराश कर गया, इसको तो गुरु ही जानता था। यह गुरु और शिष्य दोनो का सौभाग्य ही कहिए, कि यह घटना लोगों तक न पहुँच सकी।

महात्मा जी के दोनों पुत्र गुरुकुल की सेवा उस प्रकार करने में अक्षम रहे जिस प्रकार महात्मा जी ने अपने मन में सोच रखी थी। कर्ता के मन में कुछ और तथा विधाता के मन में कुछ और, इसी को कहते हैं। इस प्रकार महात्मा जी को आगे चल कर गुरुकुल की बागडोर उन व्यक्तियों के हाथ में देनी पड़ी, जिन्होने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये महात्मा जी को समय से पूर्व संन्यास लेने के लिए विवश कर दिया था।

एण्ड्रूज और मुंशीराम

एक बार की बात हैं कि महात्मा मुंशीराम स्वास्थ्य सुधार के लिये क्वेटा (पाकिस्तान) गये

हुये थे। गुरुकुल में खबर पहुँची कि सरकार को गुरुकुल में हथियारों का गुप्त भंण्डार होने का सन्देह है। अतः गुरुकुल की तलाशी लेने के लिए बिजनौर के कलेक्टर मिस्टर फोर्ड चण्डी पर्वत माला में डेरा डाले हुये है। इस समाचार से गुरुकुल के प्रबन्धको में चिन्ता फैल गई और उन्होने बवासीर से पीड़ित महात्मा जी को तार भेज कर तुरन्त गुरुकुल पहुंचने का आग्रह किया। क्वेटा से आने पर महात्मा जी सीधे कलेक्टर से मिलने के लिये चल दिये। इस मुलाकात में क्या कुछ बातें हुई, यह तो निश्चय से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसके परिणाम के विषय में स्वयं महात्मा जी ने लिखा है कि "बुद्विमान जिलाधीश फोर्ड तथा संयुक्त प्रान्त के उदार तथा सन्तुलित मस्तिष्क वाले गवर्नर सर जान हीवेट ने इस नाजुक स्थिति को नहीं सम्भाला होता, तो इस बात की पक्की सम्भावना थी कि कुछ लोगों को देश निकाले की सजा मिलती, गुरुकुल को बल प्रयोग करके बन्द करा दिया जाता और पत्रों में खूब शोर मचता, जनता में इसकी मौन प्रतिकिया भी होती तथा ब्रिटिश शासन के इतिहास में अकथनीय विक्षोभ फैल जाता। जो एक दुखान्त घटना होने वाली थी, वह सुखान्त प्रहसन के रूप में परिणत हो गई[38]।

इस स्थिति को सुखान्त परिणाम तक पहुंचाने में एक ऐसे व्यक्ति का हाथ था जो कि जाति से अंग्रेज और धर्म से ईसाई था। वह व्यक्ति था एण्ड्रूज। एण्ड्रूज और मुंशीराम के बड़े घनिष्ट सम्बन्ध थे। इन्हीं सम्बन्धों के कारण महात्मा मुंशीराम और महात्मा गांधी 'पत्र भाई' बने। महात्मा मुंशीराम लगभग 1908–9 ई0 के आस–पास एण्ड्रूज के सम्पर्क में आए। दिल्ली के सैंट स्टीफन्स कालेज के प्रिंसिपल रुद्र ने अपने कालेज में ब्रह्मचर्य'का महत्त्व' पर भाषण देने के लिए महात्मा मुंशीराम को निमन्त्रित किया। इस निमन्त्रण के कारण महात्मा मुंशीराम को एक ऐसा अवसर मिला कि ईसाई वातावरण वाली संस्था में भारतीय नैतिक मूल्यों को उजागर कर सके। महात्मा मुंशीराम के भाषण से कालेज के प्रिंसिपल एवं इंगलिश के अध्यापक ईसाई पादरी एण्ड्रूज बड़े प्रभावित हुए और उन्होने गुरुकुल जैसी आदर्श संस्था को देखने का संकल्प किया। इन्द्र के कथनानुसार "1909–10 के लगभग दिल्ली के सैंट स्टीफन्स कालेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गए थे, जैसे दो बहिन संस्थाओं के होते है। मिस्टर ए0 एफ0 ए0 एण्ड्रूज और प्रिंसिपल रुद्र का पिता जी से स्नेह हो गया था, उसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिये, क्योकि न तो उसमें किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही वह स्नेह पैदा हुआ था[39]।

प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही एण्ड्रूज ने रवीन्द्र नाथ को लिखे एक पत्र में अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये थे, "मैं कुछ सप्ताह से गुरुकुल में रहा हूं। महात्मा मुंशीराम जी अब तक मेरे सम्पर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट है, और उनका दृष्टिकोण आर्यसमाज के सामान्य आदर्श की अपेक्षा असाधारण रुप से कहीं अधिक व्यापक है। यही कारण है कि उनके साथ रहने की मेरी उत्कंठा है. .....जिसका मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ—अधिक प्रबल हो गई है। दूसरी सामान्य सी बात यह हुई है कि मैं अब विशुद्ध शाकाहारी हो गया हूँ, और इससे मुझको बहुत लाभ हुआ है[40]।

दोनो के अकारण स्नेह सम्बन्ध के विषय में 20 अप्रैल, 1913 ई0 को एण्ड्रूज ने एक पत्र महात्मा मुंशीराम को लिखा था। उस पत्र की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करते हुए विनोद चन्द्र लिखते हैं कि—

"मैं आज सारे दिन आपको याद करता रहा हूँ और अब शाम के समय आपको विशेष रूप से स्मरण कर रहा हूँ, परन्तु आप इसे बिना कहे ही समझ सकते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह महान् प्रेम कहाँ से उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः यह परमात्मा की देन हैं और इसके लिये उसका धन्यवाद करता हूँ, क्योकि यह उसके हाथों से अब तक प्राप्त उपहारों में सर्वश्रेष्ठ है[41]।

एण्ड्रूज ने इस प्रेम का प्रतिदान उचित समय आने पर प्रदर्शित किया सामान्य रूप में आर्य समाज और विशेष रुप में महात्मा मुंशीराम और गुरुकुल के सम्बन्ध में ब्रिटिश अधिकारियों का मनोभाव परिवर्तित करने में एण्ड्रूज का बड़ा भारी हाथ रहा है, एण्ड्रूज को लार्ड हार्डिंग और जेम्स मेस्टन (संयुक्त प्रान्त के राज्यपाल) के साथ मधुर सम्बन्ध थें। उसने इन दोनों ब्रिटिश अधिकारियों को आर्यसमाज और गुरुकुल के सम्बन्ध में विश्वास की नीति' अपनाने का परामर्श दिया। वायसराय ने इस परामर्श के उपरान्त एण्ड्रूज से मुंशीराम के विषय में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। एण्ड्रूज ने वायसराय को पूर्ण विश्वास के साथ लिखा कि मुंशीराम के सम्बन्ध में जो बातें उन्होने कही हैं, यदि वे असत्य प्रमाणित हो जाती हैं, तो उनका सिर चौखटें में रखकर काट दिया जाए[42]।

गुरुकुल में वायसराय का आगमन स्थगितः-

एण्ड्रूज ने दिनांक 8 जून, 1913 ई0 को शिमला से महात्मा मुंशीराम को लिखा कि वे तीन दिन के लिए वायसराय के साथ शिमला में रहेंगे और उन दिनों में जेम्स मेस्टन भी उपस्थित होंगे। शिमला प्रवास के दिनों में एण्ड्रूज ने वायसराय और सयुंक्त प्रान्त के गर्वनर के मनों से मुंशीराम के सम्बन्ध में प्रायः सभी सन्देहों को दूर कर दिया था। इसका शुभ परिणाम यह निकला कि लार्ड हार्डिंग ने गुरुकुल में आने का विचार बनाया। वायसराय के गुरुकुल में आने से पूर्व संयुक्त प्रान्त के गर्वनर जेम्स मेस्टन मार्च, 1913 और फरवरी,1914 ई0 को गुरुकुल में पधारे, और गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की हथेलियों को दबा–दबा कर अपने इस सन्देह को मिटाया कि यहाँ इन्हें युद्धाभ्यास का प्रशिक्षण दिया जाता है। गवर्नर महोदय गुरुकुल की गतिविधि से संतुष्ट हुये। इसके पश्चात् गुरुकुल में वायसराय के आगमन का कार्यक्रम बनाया गया। परन्तु वह सिरे नहीं चढ़ सका। इस सिरे न चढ़ने के पीछे क्या कारण थे, इनकी जानकारी एण्ड्रूज के उस पत्र से होती है जो उन्होने दिनांक 22 मई, 1914 ई0 को महात्मा मुंशीराम के नाम लिखा था। इस पत्र के अनुसार 'देहली षड्यन्त्र' के कारण गुप्तचर विभाग ने वायसराय को गुरुकुल न जाने का परामर्श दिया था।

एण्ड्रूज के अतिरिक्त गुरुकुल के प्रति राजद्रोह की भावना को कम करने वाले व्यक्तियों में रैम्जे मैकडानल्ड को भी जोड़ना चाहिए। ये सन् 1913 ई0 में ब्रिटिश पार्लियामैन्ट में मजदूर दल के नेता थे ओर बाद में वहाँ के प्रधान मन्त्री भी बने। अपनी भारत यात्रा में ये 8 नवम्बर, 1913 ई0 में गुरुकुल कांगडी आए थें उन्होनें अपनी यात्रा की समाप्ति पर 1914 ई0 में डेली क्रानिकल में गुरुकुल के विषय में इस प्रकार लिखा था–––

"जिन्होने भारतीय राजद्रोह का अध्ययन किया है, उन्होने गुरुकुल जहाँ आर्यसमाज के कुमारों को शिक्षा दी जाती है, का नाम अवश्य सुना होगा। यह शिक्षणालय आर्यो की मनोवृत्ति और आदर्शो का सबसे अधिक अनुरूप प्रतिबिम्ब हैं और इस प्रगतिशील धार्मिक संस्था के विरुद्ध उठाये गये सभी सन्देंह इस पर केन्द्रित हो गये हैं। इसी कारण सरकार की वक्र दृष्टि इस पर रही है। .....कार्यकर्ताओं में कोई अंग्रेज नहीं, अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम नहीं, पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा भारतीयों की उच्च शिक्षा के मूल स्तम्भ के तौर पर निर्दिष्ट अंग्रेजी साहित्य की पाठ्य पुस्तकें यहाँ प्रयुक्त नहीं होती हैं। महाविद्यालय अपनी ही उपाधियां देता है। यथार्थतः यह कानून भंग हैं। आश्चर्य से स्तब्ध सरकारी अधिकारियों का इसे एक ही सांस में राजद्रोह कहना अनिवार्य था। परन्तु उसे गुरुकुल पर अन्तिम निर्णय कदापि नहीं कह सकते। .... एक बार फिर हम अपने हाथ बाहर निकालते है। नौकर उन पर पानी डालता है। जूते उतार कर हम उन्मुक्त पवन में सायंकालीन भोजन के लिये चटाइयों पर बैठते हैं। हमारे चरणों में गंगा आह्लादकारी कल–कल करती हुई पत्थरों में से होकर वेग से बह रही है। ऊँची–ऊँची घासों की ऊँची–ऊँची शिखायें चन्द्र ज्योत्स्ना को झेल रही है। वन भूमि ओस से व्याप्त हुई सी झिलमिला रही है। दूर, बहुत दूर से आते हुये अस्फुट वन्य शब्द भूतों और पथभ्रष्ट आत्माओं

कहते सुनता हूँ– "हमें और कुछ नहीं चाहिये। हमें शान्ति से प्रभु का भजन करने दो। क्या यह राजद्रोह है।"

अपने उपर्युक्त विचारों को उन्होनें भारत में रहने वाले पंजाब, दिल्ली और संयुक्त प्रान्त के अंग्रेज अधिकारियों के सम्मुख भी रखा था। इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा ओर ब्रिटिश अधिकारी गुरुकुल के प्रति नरम हुए। रैम्जे मैकाडानल्ड का उपर्युक्त लेख स्पष्ट रूप से यह प्रकट करता है कि गुरुकुल राजद्रोह का केन्द्र न होकर शुद्ध प्रभुभक्ति का केन्द्र हैं इससे बड़ा प्रमाण पत्र और क्या दिया जा सकता था। इससे महात्मा मुंशीराम के हाथ मजबूत हुए।

सन् 1914 ई0 में दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों के अधिकारों की प्राप्ति के लिए आरम्भ किये गये सत्याग्रह की समाप्ति पर महात्मा गाँधी का भारत में आगमन भारतीय राजनीति में एक नवीन नक्षत्र के उदय के रूप में देखा गया। यह नवींन नक्षत्र देखते–देखते भारतीय [illegible] आकाश में सूर्य बनकर चमकने लगा। सन् 1914–18 तक प्रथम विश्व युद्ध भी आरम्भ हुआ इसी अवधि के मध्य गुरुकुल कांगडी में ब्रिटिश ताज के प्रतिनिधि भारत के वायसराय का आगमन हुआ। इसी अवधि के मध्य भारतीय जनमानस के भावी बेताज राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी गुरुकुल पधारे। उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त इसी अवधि में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के चुनाव ने नई करवट ली और महाशयकृष्ण सभा के मन्त्री निर्वाचित हुए।

गुरुकुल विरोधियों का पुनरुत्थानः-

महाशय कृष्ण के सभामन्त्री बनते ही गुरुकुल के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया। गुरुकुल की स्थापना के समय के विरोधियों ने पुनः गुरुकुल की अनुपयोगिता का राग अलापना आरम्भ कर दिया। इस विवाद को महाशय कृष्ण का प्रश्रय प्राप्त था।

पंजाब सभा के अधीन चलने वाले गुरुकुल कांगडी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम के 'एकाधिकार' को वे कैसे सहन कर रुकते थे। महात्मा जी गुरुकुल को विश्वद्यिालय का स्वरूप प्रदान करना चाहते थे और महाशय कृष्ण गुरुकुल को प्रारम्भिक स्वरुप में ही रखने के समर्थक थे। महाशय कृष्ण ने अपने पत्र 'प्रकाश' में महात्मा जी के विचारों की कटु आलोचना करनी आरम्भ कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि गुरुकुल के छात्रों में भी अपने भविष्य के प्रति चिन्तायें होने लगीं। आलोचनाओं के इस ज्वार में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में एक लेख निकला। लेख का शीर्षक था–"गुरुकुल से निकला स्नातक क्या करेगा?" अगली ही पंक्ति में इसका उत्तर भी था– वह तो वह काम करेगा जो कोई और नहीं" कर सकता अर्थात "खाली बैठना"। इस प्रकार के लेखों से विचलित होकर उच्च श्रेणी के छात्र महात्मा मुंशीराम के पास गए और कहने लगे कि "आपने सरकार से असहयोग कर यह संस्था खोल तो दी, पर हमारे भविष्य पर विचार नहीं किया। जो स्नातक निकलते हैं, उन्हें गुरुकुल में ही नियुक्त कर दिया जाता हैं, उनके लिए अन्यत्र कोई स्थान नहीं है। हमारे स्नातक बनने तक यहाँ भी छोटे–बड़े सभी पद स्नातकों से भर जायेंगे तो फिर हम स्नातक बनने पर क्या करेंगे।" महात्मा मुंशीराम के सामने छात्रों ने दो बार गुरुकुल की शिक्षण पद्वति के प्रति अश्रद्धा प्रकट की थी। प्रथम अश्रद्धा का कारण 'विद्वान बनने की अभिलाषा थी, जिसे हरिश्चन्द्र और इन्द्र ने प्रकट किया था। इस दूसरी अश्रद्धा का कारण व्यावहारिक था और जीवन–निर्वाह के विषय से सम्बन्धित था। स्वामी जी इस प्रश्न का तुरन्त कोई सही उत्तर नहीं दे सके। उन्होने कहा–"तुम्हारी बात मैंने सुन ली हैं, इसका उत्तर उचित समय पर दूँगा। छात्र निराश होकर लौट गए।

तीन–चार दिन पश्चात दिवाली का त्यौहार था। गुरुकुल में इस सन्दर्भ में सभा हो रही थी। महात्मा मुंशीराम ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कथा सुनाते हुए कहा कि राम ने अयोध्या आने पर विदाई

के समय हनुमान को अपने गले का बहुमूल्य कंठहार भेंट किया। हनुमान ने कंठहार के मनको को तोड़–तोडकर देखना और फैंकना आरम्भ कर दिया। सीता हनुमान के इस विचित्र व्यवहार को देखकर बोले बिना न

रह सकी और पूछा–हनुमान तुम यह क्या कर रहो हो? हनुमान मुस्कराता हुआ बोला–"माँ मैं देख रहा हूँ कि इन मनकों में राम नाम अंकित हैं अथवा नहीं। यदि इन मनकों में राम नाम नहीं तो ये मेरे किस काम के हैं। इस उत्तर को सुन कर सीता पूछ बैठी–'क्या तेरे हृदय में राम नाम अंकित है?" हनुमान ने ऐसा सुनते ही अपना हृदय उघाड़ कर दिखा दिया, जिसमें सीता ने राम के पवित्र अक्षर देखें। यह घटना सुनाकर महात्मा जी बोले–"अभी कुछ दिन पूर्व तुममें से कुछ कुलपुत्र मेरे पास आये थे और पूछते थे कि स्नातक बनने के बाद हम क्या करेंगे क्योंकि नौकरियों के सभी द्वार हमारे लिए बन्द हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि मुझे तो भगवान पर पूरा भरोसा है और मेरा तो सदा से आदर्श वाक्य रहा है।–

जब दाँत न थे तब दूध दियो, तब दाँत दिये तब अन्न न दैहैं?
जल में थल में पशु पक्षिन की, सुधि लेत सदा सो तोरिहूँ लैहैं।
काहे का सोच करे मन मूरख, हाथ मले कुछ हाथ न ऐहैं।
जान को देत अजान को देत, जहान को देतसोई तोरेहूँ दैहैं।

एक बात और, मैंने यह संस्था अंग्रेज सरकार के गुलाम डिप्टी कलेक्टर या कलेक्टर पैदा करने के लिये नहीं खोली है। इस संस्था को जन्म देने और इसके लिये अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग लगा देने का मेरा उद्देश्य तो इससे ऐसे स्नातकों को जन्म देना था जो अपनी मातृभूमि को स्वामी दयानन्द के अनुसार पुनः एक बार संसार का सिरमौर बनाने के लिए सिर–धड़ की बाजी लगा दें। मैं तो चाहता हूँ कि इससे जो स्नाातक निकलें उनके हृदय में हनुमान के रामनाम की तरह 'ओम्' नाम अंकित हो। कुल पुत्रों! यदि सैंकड़ों में से दो–चार भी ऐसे दिवाने इस कुल में पैदा हो गए, तो मैं अपना जीवन सफल समझूँगा।" महात्मा जी के इस प्रवचन से छात्रों को उनके प्रश्न का उत्तर मिल गया[43]।

महात्मा मुंशीराम के विरोधियों ने जहाँ गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर आघात करके विद्यार्थियों में असन्तोष की भावना फैलाई, वहाँ कुछ गुरुकुल विरोधियों ने यह अफवाह उड़ा दी कि महात्मा जी दूसरों के बच्चों को तो गुरुकुल में भेजने का प्रचार करते हैं, लेकिन अपने लड़कों को यहाँ से निकाल कर अन्यत्र भेज रहे है। वस्तुतः बात यह थी कि गुरुकुल में रहते हुए इन्द्र का एक फेफड़ा खराब हो गया था। ईलाज के लिये उन्हें कई मास शिमला के पास सोलन में रहना पड़ा। इसी बात का बतंगड बना कर अफवाह फैला दी गई थी। इस अफवाह क़ा प्रतिवाद करना भी अनिवार्य था इसके प्रतिवाद में गुरुकुल के उत्सव पर महात्मा जी ने कहा कि "मेरे पुत्रों के विषय में गुरुकुल को छोड़कर चले जाने की बात बिलकुल निराधार है। वे गुरुकुल में ही पढ़ रहे है। और पढ़ते रहेंगे। यदि पढ़ते हुये उनकी मृत्यु भी हो जाती हैं तो उनका अन्तिम संस्कार भी इसी कुलभूमि पर ही होगा[44]।

भागलपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षः-

इधर पंजाब में महात्मा मुंशीराम के विरुद्ध अनर्गल आरोपों का जाल बुनकर उन्हें अपमानित करने का कुचक्र चल रहा था। उधर बिहार प्रान्त में हिन्दी के प्रति उनकी सेवाओं को देखते हुए, 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का सभापति बनाकर सम्मानित किया जा रहा था। महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल में उच्च कक्षाओं तक हिन्दी माध्यम रखकर तत्कालीन शिक्षा क्षेत्र में यह सिद्ध कर दिया था कि यदि संकल्प में दृढ़ता है तो हिन्दी भाषा में उच्च शिक्षा दी जा सकती है। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान मिस्टर सेडलर ने हिन्दी माध्यम के इस सफल प्रयोग के विषय में कहा था, "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। महात्मा मुंशीराम को

सन् 1913 ई0 में भागलपुर (बिहार) में होने वाले चतुर्थ 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का सभापति बनाया गया। इस सम्मेलन से पूर्व के सभी सम्मेलनों के सभापति हिन्दी के धुरन्धर विद्वान ही बनते आए थे। यह पहला अवसर था जबकि एक साहित्यिक विद्वान के स्थान पर हिन्दी प्रेमी को अध्यक्ष बनाया गया था। इलाहाबाद से निकलने वाले 'लीडर' नामक समाचार पत्र ने महात्मा जी के सभापति बनने पर लिखा था "लाला मुंशीराम इतने विख्यात हैं कि उनकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। जिस सम्मेलन का ऐसा व्यक्ति सभापति हो, उसको अवश्य ही सफलता और सहायता प्राप्त होगी।" अपने अध्यक्षीय भाषण में हिन्दी के लिए 'मातृभाषा' शब्द का प्रयोग करते हुए तथा हिन्दी माध्यम की सांस्कृतिक महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा था कि "हमारी सभ्यता के तीन प्रधान चिन्ह हैं– अहिंसा, मातृशक्ति का सत्कार और ब्राह्मणत्व। ये तीनों गुण परकीय भाषा द्वारा पनप नहीं सकते। इसलिए यदि हम परकीय भाषा को अपनायेगें तो हम भ्रष्ट होंगे–एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकेंगे[45]।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के कारण महात्मा गाँधी से सम्पर्कः-

महात्मा गाँधी ने अफ्रीका में गिरमिटियों के अधिकारों के लिए सन् 1913–14 ई0 में सत्याग्रह आरम्भ किया हुआ था। 'गिरमिट' शब्द का प्रयोग उन भारतीयों के लिए होता था जो एक निश्चित इकरारनामें' (स्वीकृति पत्र) के अधीन पाँच वर्ष के लिए मजदूरी करने की इच्छा से नेटाल (अफ्रीका) जाते थे। अंग्रेजी भाषा में 'इकरारनामा' को 'एग्रीमैन्ट' कहते हैं। यही एग्रीमैन्ट शब्द बिगड कर 'गिरमिट' शब्द बन गया था। इन गिरमिट भारतीयों को अंग्रेज लोग 'कुली' भी कहते थे। इन गिरमिटियों पर नेटाल में तीन पौण्ड का कर लगता था। महात्मा गाँधी ने 1895 ई0 में इस प्रथा को समाप्त करने के लिए पहला प्रार्थना पत्र दिया था[46]। परन्तु अफ्रीका की गोरी सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसी अर्धगुलामी (कर व्यवस्था) को समाप्त करने के लिए महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आरम्भ किया था।

महात्मा गाँधी ने प्रवासी भारतीयों के अधिकारों की प्राप्ति के लिए किए गए सत्याग्रह के लिए भारतवासियों के आर्थिक सहायता करने की अपील की। इस अपील पर स्वर्गीय गोखले चन्दा एकत्र करने के काम में लग गए। गाँधी जी की अपील का गुरुकुल निवासियों पर भी प्रभांव पड़ा। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों एवं अध्यापकों ने अपने–अपने भोजन में कमी करके इससे होने वाली आय के अतिरिक्त हरिद्वार के समीप बनने वाले 'दूधिया बाँध' पर पत्थर तोड़ने और मिट्टी डालने की मजदूरी करके पन्द्रह सौ रुपया श्री गोखले के पास भेज दिया। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और अध्यापकों द्वारा अपनाई गई उपर्युक्त विधि के विषय में गोखले ने इस सम्बन्ध में 27 नवम्बर, 1913 ई0 को एक पत्र भेजकर महात्मा मुंशीराम को इस प्रकार लिखा–

"मुझे रेवरेण्ड एण्ड्रूज और पण्डित हरिश्चन्द्र (महात्मा मुंशीराम के पुत्र) ने बताया कि किस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए घी–दूध छोड़कर और साधारण कुलियों और मजूरों की तरह मजूरी करके रुपया इकठ्ठा कर रहे हैं। दिल हिलाने वाले इस देश भक्तिपूर्ण कार्य के लिए मैं उनको क्या धन्यवाद दूँ? यह तो उनका वैसे ही अपना काम हैं, जैसा कि आपका और मेरा काम है। वे इस प्रकार भारत माता के प्रति अपने ढंग से कर्तव्य का पालन कर रहे है। फिर भी भारतमाता की सेवा के लिए त्याग और श्रद्धा का जो आदर्श उन्होंने देश के युवकों तथा वृद्धों के सामने उपस्थित किया है, उसकी अन्तःकरण से प्रशंसा किये बिना मैं नहीं रह सकता। मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा यदि आप मेरे ये भाव किसी तरह उन तक पहुँचा दें।"

गुरुकुल के विषय में एण्ड्रूज ने महात्मा गाँधी को अपनी मुलाकातों में काफी कुछ बता रखा था। उन्होने ब्रह्मचारियों द्वारा सत्याग्रह के धनार्थ किए गए नूतन एवं प्रभावोत्पादक प्रयोग का वर्णन भी गाँधी जी को सुनाया था। ब्रह्मचारियों के त्याग की भावना ने गाँधी जी को गुरुकुल का प्रशंसक एवं प्रेमी बना दिया। उन्होंने दिनांक 21 अक्टूबर 1914 ई0 को फोनिक्स आश्रम नेटाल से मुन्शी राम को

अंग्रेजी में पत्र लिखते हुए अपने उद्‌गारों को इस प्रकार व्यक्त किया था–

फोनिक्स नेटाल

21, अक्टूबर, 1914

प्रिय महात्मा जी

श्रीयुत एण्ड्रूज ने आपके नाम और काम का परिचय मुझे दिया है। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अपरिचित को पत्र नहीं लिख रहा हूँ। इसलिए आशा है कि आप मुझे महात्मा जी लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और मिस्टर एण्ड्रूज आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिये इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। श्री एण्ड्रूज ने मुझको यह भी बताया कि आप, गुरुदेव (रवीन्द्र नाथ टैगोर) और मिस्टर रुद्र (सेन्ट स्टीफन्स कालेज, दिल्ली के प्राचार्य) से वे किस प्रकार प्रभावित हुए हैं। आपके विद्यार्थियों ने सत्याग्रहियों के लिए जो काम किया हैं, उसका वर्णन भी उन्होंने मुझ से किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होने खींचा हैं, उससे मैं यह पत्र लिखते समय अपने को गुरुकुल में बैठा हुआ समझता हूँ। निस्सन्देह इन्होंने मुझे इन तीनों संस्थाओं को देखने के लिए अधीर बना दिया है और मैं इन संस्थाओं के संचालकों, भारत के तीनों सपूतों के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।

आपका

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की समाप्ति पर गोखले की इच्छानुसार महात्मा गाँधी इंगलैण्ड होते हुए भारत आना चाहते थे। किन्तु 4 अगस्त, 1914 ई0 को प्रथम विश्व युद्ध की घोषणा हो गई और महात्मा गाँधी 6 अगस्त को विलायत पहुँचे। ऐसी स्थिति में भारत आना सम्भव नहीं था। गाँधी जी ने युद्ध में घायल सैनिकों की शुश्रुषा करने के लिए अपनी सेवांए अंग्रेजों को समर्पित कर दी। अतः उनको विलायत में ही कुछ समय के लिए रहना पड़ा। इससे गाँधी जी की योजनाँए खटाई में पड़ गई। भारत में गाँधी जी के आगमन के बाद आने वाले फिनिक्स आश्रम के छात्र और अध्यापक भारत के लिए चल पड़े। ऐसी स्थिति में गाँधी जी के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि फिनिक्सवासियों को भारत में कहाँ रखेंगे? उनके मन में यह था कि सब एक साथ ही रहें और फिनिक्स आश्रम जैसा जीवन बिता सकें।

किसी आश्रम संचालक को वे नहीं जानते थें, जिन्हें वे लिख सकें। इस परिस्थिति ने उन्होनें फिनिक्सवासियों को एण्ड्रूज से मिलने के लिए लिखा। एण्ड्रूज ने महात्मा मुंशीराम से इस विषय में बातचीत की और उन्हें गुरुकुल में रखा गया। महात्मा मुंशीराम ने बच्चों की भाँति उनकी सेवा की[47]। बाद में फिनिक्सवासी शान्ति निकेतन चले गए थे। भारत में आने पर गाँधी जी ने आश्रम वासियों के निवास की समुचित व्यवस्था करने के लिए महात्मा मुंशीराम को आभार प्रदर्शन के लिए इस प्रकार लिखा–

सर्वेन्ट आफ द इण्डिया सोसायटी पूना सिटी

माघ कृष्ण पक्ष 8 (फरवरी 8, 1915)
महात्मा जी

आपका तार मुझे मिला था। उसका प्रत्युत्तर तार से भेजा था, वो आपको मिला होगा। मेरे बालकों के लिए जो परिश्रम आपने उठाया ओर उन को जो प्यार बतलाया इस वास्ते आपका उपकार मानने को मैंने भाई एण्ड्रूज को लिखा था। लेकिन आपके चरणों में सिर झुकाने की मेरी उम्मेद हैं इसलिए बिन आमन्त्रण आने को भी मेरी फर्ज समझता हूँ। मैं बोलपुर से पीछे फीरुँ उस बखत आपकी सेवा में हाजिर होने की मुराद रखता हूँ।

आपका सेवक

मोहनदास गाँधी

ईस्वीं सन् 1915 में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। इस मेले में महात्मा गाँधी की जाने की कोई विशेष इच्छा नहीं थी। परन्तु उन्हें महात्मा मुंशीराम के दर्शनों को तो जाना ही था। अतः वे भारत सेवक समाज की टुकड़ी के साथ हरिद्वार पहुंच गए और वहाँ से 8 अप्रैल को गुरुकुल में महात्मा मुंशीराम के दर्शन करने गए। उस प्रथम मिलन के सम्बन्ध में अपनी भावनाओं को प्रकट करते हुए गाँधी जी ने लिखा "पहाड़ जैसे विशाल महात्मा मुंशीराम जी के दर्शन कर और उनका गुरुकुल देखकर मुझे बड़ी शान्ति मिली। हरिद्वार के शोरगुल और गुरुकुल की शान्ति का भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्मा जी ने मुझे प्रेम से नहला दिया। ब्रह्मचारी मेरे पास से हटते ही नहीं थे। रामदेव जी की मुलाकात उसी समय हुई और उनकी शक्ति का परिचय मैं तुरन्त पा गया। यद्यपि हमें अपने बीच कुछ मतभेद दिखाई दिया, फिर भी हमारी स्नेह गाँठ बन्ध गई। गुरुकुल में उद्योग शिक्षा की व्यवस्था करने की आवश्यकता के विषय में रामदेव जी तथा अन्य शिक्षकों के साथ मैंने काफी चर्चा की। मुझे गुरुकुल छोड़ते हुए काफी दुःख हुआ[48]।

महात्मा मुंशीराम और महात्मा गाँधी का सम्पर्क निरन्तर बना रहा। महात्मा गाँधी जब सत्याग्रह आश्रम खोलने की सोच रहे थे तो महात्मा मुंशीराम की इच्छा थी कि गाँधी जी हरिद्वार में बसे।[49] कुछ मित्र चाहते थे कि वे वैद्यनाथ धाम में बसे। परन्तु महात्मा जी की दृष्टि में अहमदाबाद ही जँचा। गाँधी जी ने अहमदाबाद में आश्रम खोल दिया। इस आश्रम की नियमावली बनाते समय गाँधी जी ने मुंशीराम को स्मरण करते हुए एक पत्र इस प्रकार लिखा–

अहमदाबाद

जेठ शुक्ल 2 (जून 14, 1915)

महात्मा जी

लड़के सब गुरुकुल से आने के बाद में सब व्यवस्था करने के जंजाल में पड़ गया इसलिये आपको पत्र नहीं लिख सका। लड़कों पर आपने जो प्रेम बतलाया है यह वे कभी भूल नहीं सकते है। मेरे लड़कों और साथियों को आश्रय देकर मुझको आपका ऋणी बनाया है।

अहमदाबाद में हाल में तो आश्रम खोल दिया है। उसकी नियमावली हिन्दी में बन रही है। तैयार होने से आपके अभिप्राय के लिए भेजी जायेगी।

हरिद्वार में फेर आकर आपके साथ कुछ दिन रहने की बात में बिल्कुल नहीं भूला हूँ। बखत मिलने से मैं जरुर पहुँचुंगा।

आपका कृपाकांक्षी

मोहन दास गाँधी के बन्दे मातरम्

महात्मा गाँधी के उपर्युक्त पत्रों की 'हिन्दी भाषा' के सम्बन्ध में हमें यह सूचित करते हुए अपार हर्ष होता है कि महात्मा मुंशीराम की प्रेरणा से महात्मा गाँधी ने महात्मा मुंशीराम के साथ हिन्दी में पत्र लिखने का संकल्प लिया था। महात्मा मुंशीराम के हिन्दी भाषा में लिखे पत्र का उत्तर जब गाँधी जी ने अंग्रेजी भाषा में दिया तो प्रत्युत्तर में मुंशीराम ने लिखा कि जो व्यक्ति हिन्दी को देश की राष्ट्र भाषा बनाना चाहता हैं, उसे अपने देशवासी से अंग्रेजी में पत्र–व्यवहार करने का कोई अधिकार नहीं। गाँधी जी ने यह

बात गाँठ बाँध ली ओर इसे सदा निभाया। इस प्रकार जो महात्मा गाँधी गुजराती होने के कारण गुजराती भाषा के द्वारा देश की अधिक से अधिक सेवा करना चाहता था, उसे हिन्दी भाषा के प्रयोग की प्रेरणा देकर समस्त भारत के लिए उनकी सेवाओं का द्वार खोला।

हरिश्चन्द्र का विदेश-गमनः-

1914 ई0 में आरम्भ हुए प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीय राजनीति में बड़ी उथल-पुथल मचा दी। इस युद्ध ने मुंशीराम के पारिवारिक जीवन को प्रभावित किया। महात्मा मुंशीराम के बडे पुत्र हरिश्चन्द्र ने दिल्ली से 'विजय' दैनिक समाचार पत्र निकाला हुआ था, और महात्मा मुंशीराम का पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' भी दिल्ली से ही प्रकाशित होता था। इन दोनों में आपत्ति जनक समाचार छपने के कारण सरकार ने इनसे 'जमानत' की राशि माँगी। मुंशीराम ने 'विजय' के सम्बन्ध में 'जमानत' की राशि देने से इनकार कर दिया और अपने पत्र 'सदधर्म प्रचारक' को गुरुकुल कांगड़ी ले गए और 'जमानत' की राशि के विषय में यह आश्वासन दिया कि भविष्य में यह पत्र साक्षात् उनके निरीक्षण में प्रकाशित होगा। लेकिन इससे भी बड़ा झटका मुंशीराम को दिसम्बर, 1914 ई0 को लगा। जबकि हरिश्चन्द्र महात्मा जी की आज्ञा लिए बिना ओर पत्नी तथा पुत्र को अलविदा कहे बिना विदेश चला गया। यह तो गौतम (महात्मा बुद्ध) के गृह-त्याग के समान था। इस गृह त्याग की भूमिका राजा महेन्द्र प्रताप के गुरुकुल आने के समय ही बन गई थी। महेन्द्र प्रताप ने अपने संस्मरण में लिखा है।-

"वह 1914 ई0 की बात हैं (इस वर्ष महेन्द्र प्रताप गुरुकुल आये थे। इस दिन की दो बातें और यहाँ उल्लेखनीय हैं। उसी दिन सबसे पहले और सबसे पीछे प्रसिद्ध श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी से भेंट हुई थी। उस रोज उन्होने सबके सामने यह बतलाया था कि वे हिन्दी में एक पत्र निकालना चाहते है। उस समय कुछ लोगों ने शंका की और कुछ लोगों ने हंसी उड़ाई। परन्तु बाद में श्री विद्यार्थी जी का पत्र निकला और समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो गया। दूसरी बात यह हुई कि महात्मा मुंशीराम जी के सुयोग्य दूसरे पुत्र श्री हरिश्चन्द्र जी ने निश्चय किया कि वे मेरे सेक्रेटरी होकर कुछ दिन मेरे साथ रहेंगे और बाद में निर्बल सेवक' (महेन्द्र प्रताप का समाचार पत्र) पत्र के सम्पादक बन कर कम से कम तीन वर्ष सहयोग देंगे[60] जोर्डेन्स के कथनानुसार उस समय यह भी निर्णीत हुआ था कि हरिश्चन्द्र दो अथवा तीन मास के लिए राजा महेन्द्र प्रताप के साथ यूरोप भी जाएंगा[61]।

प्राप्त सूचनाओं के आधार पर हरिश्चन्द्र राजा महेन्द्र प्रताप के साथ जिनेवा तक अवश्य गए। जिनेवा से उन्होने इन्द्र के नाम मार्च 1915 में पत्र में लिखते हुए अपनी भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया-

"पिता जी के पत्र से प्रतीत होता हैं कि वे मेरी इस यात्रा से प्रसन्न नहीं हैं। सुभद्रा (हरिश्चन्द्र की पत्नी) ने भी लिखा हैं कि गुरुकुल में मेरे सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जा रहा है। इससे उसका हृदय टूट गया है। मैं समझती हूँ कि यह अन्याय होवेगा कि उसका भार भी तुम पर डालूँ। सभी परिस्थितियों पर विचार करके मैं शीघ्र ही भारत आने की सोच रहा हूँ।

हरिश्चन्द्र ने पुनः इंगलैण्ड से दिनांक 23 अप्रैल,1915 को एक पत्र इन्द्र के नाम भेजा। इस पत्र में भी पिता जी के विषय में लिखते हुए कहा-

"मैं पिता जी को एक लम्बा पत्र लिखना चाहता था। लेकिन मेरा हृदय विषण्ण हो गया हैं। मैंने उनके हृदय को इस सीमा तक तोड़ दिया कि पत्र कैसे लिखूँ, यह समझ में नही आ रहा है। मैं कभी सोचने लगता हूँ कि मैं पिता जी और तुम्हारे लिए नितान्त अयोग्य हूँ। पहले मैं यह सोचता था कि यह

था कि यह संसार बडा ही विचित्र हैं मैं इसमें ठीक प्रकार से काम नहीं कर सकता लेकिन अब मेरा घमण्ड़ चूर–चूर हो गया है। अब मैं यह सोचता हूँ कि यह मेरा कसूर था। मेरा मन इस समय इतना अधिक दुखी है कि मैं अधिक नहीं लिख सकता।''

यह एक पुत्र का पिता के प्रति प्रायश्चित कहा जा सकता है। यह प्रायश्चित अधूरा ही रहा और पुत्र पिता के चरणों से लिपट कर क्षमा नहीं मांग सका। पुत्र पिता को संन्यासी बनने से पूर्व पिता के रूप में नहीं देख सका। विदेश की अनाम गलियों में खो जाने से पूर्व 1917 ई0 के मध्य हरिश्चन्द्र ने 'सद्धर्म प्रचारक' में जब यह समाचार पढ़ा कि उसके पिता जी संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने जा रहें हैं, तो उसने इन्द्र को लिखा 'कि यह दुख (संन्यास से पूर्व पिता जी से मिलने की अपूर्ण इच्छा) मेरे साथ सदा रहेगा कि मैं पिता जी की सेवा न कर सकने के कारण अपने कर्तव्य से चूक गया हूँ। अब मेरी रंचमात्र भी इच्छा अपने देश में आने की नहीं है। प्रिय भाई ! अब मेरे परिवार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आप पर है। ऐसा प्रयत्न करो कि सुभद्रा गुरुकुल में ही रह सके। उसे यह भी अनुभव नहीं होना चाहिए कि वह पराई है और दूसरों पर भार स्वरुप है।

प्रतीत यह होता है कि हरिश्चन्द्र राजा महेन्द्र प्रताप के साथ किसी क्रांतिकारी योजना के अर्न्तगत विदेश गए और वहाँ जो कुछ भी कर रहे थे देश हित के लिए ही कर रहे थे। इधर वे क्रांतिकारियों के जासूस थे उधर अंग्रेज उन्हें अपना जासूस समझते थे। इस खेल में उनका रहस्य गुप्त न रह सका और संभवतः अंग्रेजों द्वारा शूट कर दिये गये।

वायसराय का सन् 1916 ई0 में आगमन

सन् 1916 ई0 के अक्टूबर मास की 21 तारीख को भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड गुरुकुल आए। उनके आगमन को आर्य समाजियों ने संस्था के प्रतिसद्भावना समझा। उनके आगमन से गुरुकुल के प्रति राजद्रोह के घुमड़ते बादल छितरा गए। इसे महात्मा मुंशी राम की सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया और उनका ऊँचा कद और भी ऊँचा हो गया। कुछ आर्य समाजी और गुरुकुल के अध्यापक तो उत्साह में यहाँ तक कहते सुने गये कि अब गुरुकुल में जार्जपंचम का आना ही शेष है और उसे भी महात्मा जी बुला कर छोड़ेगें। गुरुकुल में वायसराय के आगमन का एक गुप्त और निहित स्वार्थ भी था। इस स्वार्थ के प्रति किसी भी लेखक ने ध्यान नहीं दिया। प्रथम विश्व युद्ध के समय अंग्रेजों को भारत की प्रत्येक राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं से सहयोग लेना अनिवार्य था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों इस युद्ध में अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। गैर राजनैतिक संस्थाओं में आर्य समाज का प्रभाव उत्तर भारत में सर्वाधिक था। परन्तु आर्य समाज के प्रति सरकारी वक्रदृष्टि को देखते हुए वे सरकार के प्रति उदासीन थे। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना की लड़ाकू जातियों के सैनिकों में आर्यसमाजी सिपाहियों एवं सरदारों की संख्या इतनी थी कि उनकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। युद्ध से पूर्व जाट सैनिकों को यज्ञोपवीत उतार देने के आदेशों से सैनिकों में अंग्रेजों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो गया था। अन्तिम और महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि युद्ध के समय महात्मा मुंशी राम गुरुकुल के सर्वेसर्वा और आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधान के नाते आर्य समाज के शीर्षस्थ नेता थे। इस शीर्षस्थ नेता को प्रसन्न करके सम्पूर्ण भारत के आर्यसमाजियों की सहानुभूति अर्जित की जा सकती थी। लार्ड चैम्सफोर्ड ने एक कूट प्रशासक की भाँति अपना कर्तव्य निभाया और आर्यसमाजी व्यक्तियों को युद्ध के समय अंग्रेजों का सहायक बनाया। वायसराय की तरफ से गुरुकुल को सरकार की ओर से अनुदान देने का प्रस्ताव भी आया, परन्तु मुंशीराम ने अस्वीकार कर दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल और आर्य समाज को सरकारी प्रकोप से बचाया, लेकिन आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब के आन्तरिक विवाद में वे अपने आपको हारा और थका सा समझने लगे।

गुरुकुल की विशेषताएं

अब हम महात्मा मुंशीराम के सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की घटना से पूर्व यहाँ गुरुकुल कांगड़ी की उन विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन करना चाहते हैं, जिनसे आकर्षित होकर देशी–विद्वान् और राजपंडित यहाँ आए। गुरुकुल कांगड़ी की विशेषताओं को हम तीन रूपों में पाते हैं।

पहला रूप शिक्षा के क्षेत्र से सम्बन्धित है। इस रूप की ओर संकेत करते हुये रैम्जे मैकडानल्ड ने लिखा था "सन् 1835 ई. में मैकाले ने सहंकारी पत्रक में अपने विचार (शिक्षा के सम्बन्ध में) प्रस्तुत किये थे। उन विचारों से भारत में प्रत्येक असन्तुष्ट है। परन्तु जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, गुरुकुल के प्रवर्तकों के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी अपने असन्तोष को नवीन प्रयोग के रूप में परिणत नहीं किया है।" इस नवीन प्रयोग की यह विशेषता थी कि यह भारत के बाहर से उधार लिया हुआ प्रयोग नहीं था। इस प्रयोग की जड़े भारत भूमि की आर्य संस्कृति में ही थीं। शिक्षा के नूतन प्रयोग की एक अन्य विशेषता यह थी कि आरम्भ से अन्त तक की सम्पूर्ण शिक्षा आर्य भाषा (हिन्दी) में दी जाती थी और अब भी दी जाती है। ऐसा प्रयोग करने से शिक्षा और समाज का सीधा सम्बन्ध जुड़ा और हिन्दी के प्रति आस्था भी दृढ़ हुई।

दूसरा रूप गुरुकुल की स्थापना के नैसर्गिक वातावरण से सम्बन्धित है। संस्था का आदर्श वातावरण जहाँ विद्यार्थियों को परस्पर मिलकर रहने की प्रेरणा देता था, वहाँ इससे खिंच कर दर्शक भी इसे देखने आते थे। गुरुकुल की आरण्यक स्थिति ने इसे रहस्यमय बना दिया था। आने वाला रोमांचित होकर जाता था। प्राकृतिक वातावरण ने छात्रों में प्रकृति–प्रेम के पुजारी बनाकर कलात्मक जीवन जीने का अभ्यस्त बना दिया था। प्राकृतिक वातावरण के समान ही यहाँ का सांस्कृतिक वातावरण भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय और वर्ग भेद से रहित सत्त्विक भावों से भरपूर था। कहीं छल'छद्म नहीं, सभी 'भ्राता जी' थे।

तीसरा रूप महात्मा मुंशीराम का व्यक्तित्व था। प्रथम आकर्षण के केन्द्र गुरुकुल में आकर दर्शक शीघ्र ही अनकहे द्वितीय आकर्षण महात्मा मुंशीराम की ओर खिचे चले जाते थे। महात्मा गांधी जब गुरुकुल में महात्मा मुंशीराम से मिलने गये तो उन्होंने उनके कायिक व्यक्तित्व को विशाल पहाड़ के समान कहा[53]। रेम्जे मैकडानल्ड जब गुरुकुल गए तो महात्मा मुंशीराम की सन्तीय सौम्यता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके और उन्होंने लिखा" एक उन्नतकाय, दर्शनीय मूर्ति हम से भेंट करने आती है। आधुनिक सम्प्रदाय का कलाकार ईसा की प्रतिकृति घड़ने के लिये आदर्श के रूप में इसका स्वागत करता है और मध्यकालिक रुचि का चित्रकार इसमें सन्त पीटर का रुप देखता है।" महात्मा मुंशीराम का कायिक और मानसिक साहस पं. जवाहर लाल नेहरु के मन पर भी सदा छाया रहा। इस प्रभाव के विषय में उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है– "विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभ कार्य के लिए शारीरिक कष्ट सहन करने एवं इस कार्य के लिए मृत्यु तक की परवाह न करने वाले गुणों का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार का निर्भीकतापूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति, सन्यासी के वेश में भव्यमूर्ति, दीर्घकाया, शाही सूरत, अन्तर्भेदी चमकीली आखें, कभी–कभी दूसरों की कमजोरियों पर चेहरे पर उभर आने वाले झुंझलाहट या गुस्से की छाया का गुज़रना, मैं उस जीवन्त मूर्ति को कैसे भूल सकता हूँ। प्रायः यह तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ खड़ी होती है" इस प्रकार भव्यता, विशालता, सांस्कृतिक धरोहर आदि गुणों में गुरुकुल और महात्मा मुंशीराम एक दूसरे के पूरक थे।

सन्दर्भ (तीसरा अध्याय)

		पृष्ठ
1.	इन्द्र, मेरे पिताः संस्मरण	62–65
2	सत्यदेव, स्वामी श्रद्धानन्द	304
3.	निरुपण एवं विनोद चन्द्र, स्वामी श्रद्धानन्द विलक्षण व्यक्तित्व	294
4.	भवानी लाल भारतीय, स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड पाँच	158
5.	निरुपण एवं विनोद चन्द्र, वही	510
6.	भवानी लाल भारतीय, वही, खण्ड एक	6
7.	स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश	48–50
8.	भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच	157–58
9.	स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश	31
10.	निरुपण एवं विनोद चन्द्र, वही	86
11.	निरुपण एवं विनोद चन्द्र, वही	113–15
12	निरुपण एवं विनोद चन्द्र, वही	288
13.	नरदेव शास्त्री, आत्मकथा अर्थात् आपबीती जगबीती	41–42
14.	इन्द्र, वही	126
15.	सत्यदेव, वही	328
16.	इन्द्र, वही	96–103
17.	इन्द्र, वही	109
18.	इन्द्र, वही	157
19.	भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड पाँच	35–6
20.	इन्द्र, वही	249
21.	सत्यदेव, वही	331
22	जोर्डेन्स, वही	76
23.	भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड दस	24
24.	भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड दस	156–7
25.	भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड दस	151
26.	सत्यदेव, वही	466
27.	सत्यदेव, वही	467
28.	भवानी लाल भारतीय, खण्ड दस	39
29.	सत्यदेव आत्मकथा खण्डदस	345

30. भवानी लाल भारतीय, खण्ड दस 42
31. भवानी लाल भारतीय, आत्मकथा अर्थात् आपबीती जगबीती खण्ड दस 150
32. इन्द्र 133
33. निरुपण एवं विनोद चन्द्र, 332
34. इन्द्र 143–45
35. निरुपण एवं विनोद 356–7
36. इन्द्र 175
37. सत्यदेव 307–8
38. भवानी लाल भारतीय खण्ड दस 42
39. इन्द्र 118
40. निरुपण एवं विनोद चन्द्र 396
41. निरुपण एवं विनोद चन्द 397
42. जोर्डेन्स 91
43. निरुपण एवं विनोद चन्द्र 108–9
44. निरुपण एवं विनोद चन्द्र 81
45. सत्यदेव 433
46. महात्मा गाँधी, आत्मकथा 373
47. महात्मा गाँधी, आत्मकथा 347
48. महात्मा गाँधी, आत्मकथा 363
49. महात्मा गाँधी, आत्मकथा 366
50. निरुपण एवं विनोद चन्द्र 360–61
51. जोर्डेन्स 96
52. राजा महेन्द्र प्रताप, माई लाइफ स्टोरी आफ फिफ्टी इयर्स 36–9,321
53. महात्मा गाँधी, आत्मकथा 363

खण्ड दस 345

चौथा अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में (1917-22)

संन्यास आश्रम में प्रवेश

श्रद्धा के अवतार शुद्ध श्रद्धा की मूरत।

श्रद्धा के आधार अटल पर्वत की सूरत।।

महात्मा मुंशी राम गुरुकुल के प्रति इतने समर्पित हो चुके थे कि वे इसको किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाने की कल्पना मात्र से सिहर उठते थे। गुरुकुल को मात्र संस्कृत की पाठशाला बनाने किं वा विश्वविद्यालय बनाने का मतभेद अनेक वर्षों तक भुतही छाया की न्यांई गुरुकुल पर मंडराता रहा। प्रकाश पार्टी के सर्वेसर्वा महाशय कृष्ण इन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के मन्त्री थे। महाशय कृष्ण गुरुकुल की नीति के सम्बन्ध में तथा अन्य कई कारणों से महात्मा मुंशीराम से रुष्ट थे। अपने पत्र 'प्रकाश' में भी ये महात्मा जी की आलोचना करने में नहीं चूकते थे। प्रकाश पार्टी के अग्रणी व्यक्ति गुरुकुल का काम भी पार्टी के अनुसार चलाकर महात्मा जी को पिछलग्गू बनाना चाहते थे। महात्मा जी ने इस प्रकार की नीति को किसी भी प्रकार की घास नहीं डाली। गुरुकुल की स्वामिनी सभा के मन्त्री होने के नाते महाशय कृष्ण अपने आपको गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता से ऊपर का अधिकारी मानते थे। इस अधिकार का असीमित प्रयोग करके वे महात्मा जी के कार्यों में पग–पग पर बाधा उपस्थित करते रहते थे। महात्मा जी ने इस स्थिति को अपरिहार्य मानकर गुरुकुल को कुरुक्षेत्र का रणक्षेत्र न बनाने की भावना से स्वंय ही गुरुकुल से अलग होने का विचार बनाकर संन्यास आश्रम में प्रवेश लेने का संकल्प बना लिया।

संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की मानसिक स्थिति बना लेने पर महात्मा जी ने 29 ज्येष्ठ, सम्वत् 1972 (सन् 1915) को आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के तत्कालीन प्रधान राम कृष्ण को लिखा कि "वैदिक धर्म की आज्ञा शिरोधार्य समझकर कुछ काल से उसके पालन का विचार मेरे अन्दर उठ रहा है। अब ऋषि दयानन्द के लेखानुसार वह समय आ गया है जबकि इस आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। मेरा दृढ़ संकल्प हो गया है कि अब मैं संन्यास आश्रम में प्रवेश करूंगा। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी सम्वत् 1972 (6 नवम्बर, 1915) के दिन मैं शिखा–सूत्रादि के बन्धनों से मुक्त होकर परम पिता परमात्मा की शरण में पूर्णतया आ जाऊंगा।" महात्मा जी का उपर्युक्त पत्र मिलने पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए प्रधान जी ने लिखा कि "आपके गुरुकुल से अलग होने पर गुरुकुल की बहुत हानि होगी। 75 वर्ष की आयु तक संन्यासाश्रम में प्रवेश न किया, तब भी कोई दोष नहीं[1]। आर्य समाज और गुरुकुल दोनों की सेवाएं एक साथ हो सकती हैं। अधूरी अवस्था में गुरुकुल को छोड़ना उचित नहीं है। आशा है, आप पुनर्विचार करेंगे।" परन्तु महात्मा जी ने अपना निश्चय नहीं बदला और 21 आषाढ़ 1972 को अपना त्याग–पत्र लिखकर सभा प्रधान को भेज दिया। त्याग–पत्र मिलने पर पुनः अपनी भावना के अनुरूप प्रधान ने पुनर्विचार का अनुरोध किया। सभा–प्रधान के अनुरोध को झटिति ठुकराना महात्मा जी ने अनुचित समझा, क्योंकि सभा–प्रधान रामकृष्ण महात्मा जी के ऐसे मित्र थे, जिन्होंने बीस से अधिक वर्षों तक महात्मा जी के साथ सामाजिक

बन्धुत्व निभाया था। इन्द्र के शब्दों में "लाला रामकृष्ण ने पिता जी के सम्पूर्ण आर्य सामाजिक जीवन में अपने को लक्ष्मण बना कर रखा[2]।" सभा–प्रधान लाला रामकृष्ण और महात्मा जी के मध्य संन्यास को लेकर गुरुकुल छोड़ने के सम्बन्ध में निरन्तर पत्र–व्यवहार होता रहा। महात्मा जी ने अपनी मनोव्यथा को नियति मानते हुए सभा–प्रधान को लिखा कि "मैंने समझ लिया कि यही मेरा भाग्य है। सहायकों के विघ्न डालते हुए भी यथाशक्ति काम करूंगा।...... ऐसे सौभाग्यशाली दिन आने से पहिले ही यदि प्राणान्त हो गया तो भी आनन्द है, क्योंकि अन्त्येष्टि संस्कार तो कुलपुत्रों के हाथ से हो जाएगा[3]।"

सम्वत् 1972–73 के दोनों वर्ष इसी विषय पर पत्र–व्यवहार में चले गए। महात्मा जी के लिए जब स्थिति असह्य हो गई, तब उन्होंने 18 चैत्र, सम्वत् 1973 (30 मार्च, 1917) को सभा–प्रधान के नाम अन्तिम पत्र लिखा। इस पत्र की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थी "आपका तथा भक्त राम (जालन्धर के प्रसिद्ध आर्य समाजी नेता) का सन्देश पहुंचा। भक्त राम की इच्छा तो स्वाभाविक है। परन्तु क्या सचमुच आप मेरे शरीर का भला चाहते हैं? मैं तो अब शरीर का नाश कर चुका। मुझे तो यही अभीष्ट था कि चुपचाप किसी एकान्त स्थान में रहकर धर्मग्रन्थों पर विचार करता और यदि कुछ जनता की भेंट रखने योग्य अपने पास होता तो उसको उनके आगे रख देता। परन्तु मुझे अपनी निर्बलताओं का फल मिल रहा है। जिनके लिये अपयश खरीदा उन्हीं के द्वारा मुझको दारूण दुख पहुंचे। अब सिवाय जबरदस्ती छुटकारा लेने के और कौन सा मार्ग है। बेचारे भक्तराम को क्या मालूम कि वर्षो से मैं गुरुकुल में कुछ भी काम नहीं कर सका हूं और यहां बैठना निरर्थक है। मैंने इसलिए कि मेरे काम में विघ्न डालने वाले और मेरे पग–पग पर रुकावटें डालने वाले काम के अयोग्य न हो जावें एक शब्द भी लिख कर पब्लिक नहीं किया। ऐसी अवस्था में मेरे लिये श्रेय मार्ग वही है जहां मैं विश्वासघाती और मित्रद्रोहियों की क्रियाओं को भूलकर उनके लिये भी परमात्मा से कल्याण की प्रार्थना कर सकूं। सम्भव है कि आप अन्तिम युक्ति सोचें कि आप गुरुकुल के जल्से पर आवें ही नहीं। यदि आपने ऐसा ही किया तब भी मुझे 11 अप्रैल, 1917 के प्रातःकाल यहां से चल देना है[4]।"

गुरुकुल छोड़कर संन्यास लेने की बात जब इन्द्र को पता लगी, तो उन्होंने साहस करके महात्मा जी को अकाट्य युक्तियों द्वारा अपने निश्चय से हटाने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि "संन्यास की प्रथा देश और जाति के लिए बहुत हानिकारक है। आप तो पहले ही संन्यासी हैं, वेश बदलने से क्या लाभ? संन्यास लेने पर भी आपको सार्वजनिक कामों के झंझट से छुट्टीं नहीं मिलेगी[5]।" इन्द्र की बातों को सुनकर महात्मा जी संन्यास की अवमानना से क्रोधित नहीं हुए, अपितु शान्त और सहज मुद्रा में बोले– "इन्द्र! तुम्हें तो मालूम ही है कि मैं युक्ति के आधार पर कोई कदम नही उठाता, केवल श्रद्धा से प्रेरित होकर ही उठता हूं। यह निश्चय भी मैंने श्रद्धावश ही किया है। मेरा यह निश्चय अटल है[6]।" ऐसी स्थिति में इन्द्र के पास नतमस्तक होने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रहा।

गुरुकुल का पन्द्रहवां (1917 ई0) वार्षिकोत्सव। कुलभूमि में धूम–धाम और दौड़–धूप। बीस–पच्चीस हजार लोगों की भीड़। जिधर देखो उधर महात्मा जी के संन्यास लेने की चर्चा और परिचर्चा। सारा उत्सव संन्यास के रंग में रंगा हुआ। गुरुकुल का यह उत्सव विगत वर्षो के उत्सव से कुछ हटकर था। महात्मा मुंशीराम के लिये गुरुकुल की रिपोर्ट पढ़ने का जब अवसर आया तो उन्होंने पुरानी लीक से हटकर कहा –"देवियों और भद्र पुरूषों ! मैं इस समय आपके सामने गुरुकुल की वार्षिक रिपोर्ट–पढ़ने नहीं खड़ा हुआ हूं। गुरुकुल की रिपोर्ट तो तीन दिनों से यहां बराबर पढ़ी जा रही है और आप यहां सुन रहे हैं। जो कुछ आप यहां देखते हैं या सुनते हैं या अनुभव करते हैं, वह सब गुरुकुल की रिपोर्ट ही है।" गुरुकुल के लिए धन की अपील करते हुए महात्मा जी ने कहा कि "जब मैंने गुरुकुल का कार्य आरम्भ किया था, तब अपने पर मुझे कम विश्वास था आप

लोगों पर कुछ अधिक था और परमात्मा पर सबसे अधिक और पूरा विश्वास था। वही विश्वास अब भी स्थिर है और मैं घोषणा करता हूं कि यदि आप धन देंगे, तो यह गुरुकुल चलेगा। यदि आप लोग नहीं देंगे, तो भी चलेगा[7]।" उपर्युक्त रिपोर्ट की छाया में यह कहा जा सकता है कि महात्मा मुंशीराम आत्म विश्वास और जग विश्वास की अपेक्षा ईश्वर विश्वास की दृढ़ नींव पर ही संन्यास की भूमिका में उतर रहे थे।

इसी उत्सव पर संन्यास आश्रम में प्रवेश से पूर्व आर्य जनता ने आपकी सेवाओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए निम्न लिखित मान–पत्र भेंट किया था–

आर्य जाति के हृदय सम्राट् !

आज आप सम्राट् से भी ऊंचे परिव्राट् के सिंहासन पर अधिरोहण करने लगे हैं। आज जो पुष्पांजलि लेकर हम आपकी सेवा में आते हैं, वह आंसुओं से भीगी है। यद्यपि हम जानते हैं कि जहां आप अब तक आर्य जाति के हृदयों पर उस अधिकार से शासन करते थे, जो आर्य जाति ने स्वयं आपको आपके गुणों पर मुग्ध आपके गले में पहनाया था, वहां अब आप उस अधिकार से शासन करेंगे, जिसके लिये आप केवल परम साक्षी के आगे उत्तरदाता हैं, तो भी हृदय द्रव हुये बिना नहीं रहता।

श्रीमन् ! आर्य जाति आज बताना चाहती है कि जहां अब तक आपकी सेवा के लिये धन, समय और प्रेम का दान करने में दरिद्र नहीं हुई, आज इस विदाई और मिलाप के विलक्षण संगम में वह अपने एक सच्चे पुत्र पर शब्दों की वर्षा करने में भी दरिद्र नहीं है। यदि है तो केवल इसलिये कि हृदय भरा हुआ है केवल इसलिए कि आपकी कीर्तिगान करने के लिये शब्द उचित साधन नहीं हैं।

भारत का विशेषतः पंजाब का कौनसा कोना है, जो आपके ओजस्वी नाद से न गूंजा हो, जिसमें आपके वैदिक धर्म, ऋषि दयानन्द और आर्य–जाति के प्रति अगाध प्रेम का कोई न कोई स्मारक न हो, जिसमें आपके उस अपूर्व त्याग का कोई न कोई दृश्य उपस्थित न हो, जिसके कि एक जीते उदाहरण इस गुरुकुल में आज हम आपकी सेवा में उपस्थित हैं। इस कार्य के लिए इससे अच्छा स्थान हम नहीं चुन सकते थे। इन भावों से इस भूमि में हम सम्राट् को विदाई देते हैं और परिव्राट् के चरणों में सिर झुकाते हैं। राजन् ! मंगल संकल्प पूर्ण हो। भगवन् ! आप हमें आशीर्वाद दें। आचार्य दयानन्द का महायज्ञ पूर्ण हो।

वशंवद आर्य जाति।

महात्मा मुंशीराम ने इस मान–पत्र के लिए आर्य जनता का धन्यवाद किया और साथ में चतुर्थ आश्रम के कर्तव्यों के पालन के लिए आशीर्वाद मांगा। परन्तु ब्रह्मचारियों और कुलभूमि से विदाई लेना इतना सहज और सरल नहीं था, जितना बाह्य दृष्टि से दिखाई पड़ता था। महात्मा जी ने जिस दिन से कुलभूमि के लिये जालन्धर से विदाई ली थी, उस दिन प्रेम और कर्तव्य में इतना संघर्ष नहीं हुआ होगा, जितना कि संन्यास वाले दिन कुलभूमि को छोड़ते हुए हुआ था। आपका मन तो उसकी धूल के प्रत्येक कण–कण में समाया हुआ था। यहां का प्रत्येक पुष्प और पादप, वृक्ष और ऋक्ष, भवन और हवन, पानी और पवन, ब्रह्मचारी और कर्मचारी आपके प्राणवन्त व्यक्तित्व का साक्षी था। संन्यास लेने की पूर्व सन्ध्या को आपने महाविद्यालय विभाग के ब्रह्मचारियों को विशेष उपदेश दिया। उपदेश के अन्त में विदाई की ओर संकेत करते हुए आपका गला भर आया। कर्त्तव्य पर ममता भारी होती दिखाई दी। कुल स्नेह ने आंखों को तरल बना दिया। अन्त में कर्तव्यबोध ने ममता और प्रेम पर तुरीय स्थिति की ओर बढ़ते विचारों द्वारा विजय पाई।

11 अप्रैल, 1917 के ब्रह्म मूहूर्त में नित्य कार्यों से निवृत्त होकर पीत पट कन्धों पर डाले, हाथ में ऊंचा दण्ड लिये और पैरों में खड़ाऊँ पहने महात्मा जी जब गुरुकुल की बैलगाड़ी में बैठने लगे, तो उत्सव में आये यात्रियों में से एक उत्साही सज्जन उच्च स्वर में बोल उठे–

1. कबीरा खड़ा बाजार में लिये लुकाटी हाथ।
   जो घर फूंके आपना सो चले हमारे साथ।।

2. जमाना उसके कदमों में झुका देता है सर अपना।
   जो दुनियां में तो रहते हैं, पर उससे है बेगाना।।

3. उसने कदम बढ़ाये जब मकसद की ओर।
   राह में काफिला खुद ही बढ़ता गया।।[७]

वस्तुतः महात्मा जी का–काफिला बढ़ता ही गया। कुलभूमि में 24 ब्रह्मचारियों के साथ प्रवेश करने वाला महात्मा अब 240 के लगभग ब्रह्मचारियों के भरे–पूरे कुल को छोड़कर विदा हो रहा था। सम्पूर्ण दृश्य राम के अयोध्या–त्याग के समान हृदय स्पर्शी सा बन गया था। परन्तु महात्मा जी के और राम के त्याग में उद्देश्यों की दृष्टि से असमानता थी। राम ने स्वेच्छा से नहीं अपितु पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए वन गमन किया था। महात्मा जी का कुलभूमि से गमन स्वेच्छा से वैदिक संस्कृति के चतुर्थ आश्रम में प्रवेश के लिए था। एक नगरी से वन की ओर गये थे तो दूसरे वन से नगरों की ओर प्रस्थान कर रहे थे। एक युवराज से अरण्यौकस बने थे, तो दूसरे कुल सम्राट से परिव्राट् बनकर विराट की ओर अग्रसर हो रहे थे। इतनी असमानता होते हुए भी दोनों में वैदिक मान्यताओं के प्रति अगाध निष्ठा की समानता अद्वितीय रूप मे थी।

हरिद्वार और कनखल के मध्य स्थित मायापुर वाटिका महात्मा मुंशीराम का संन्यासी रूप देखने के लिये जनसमूह से पटी पड़ी थी। 12 अप्रैल को सूर्योदय के साथ ही आर्य समाज के तत्कालीन वरिष्ठ संन्यासी सत्यानन्द की अध्यक्षता में महात्मा मुंशीराम का संन्यास आश्रम प्रवेश संस्कार आरम्भ हुआ। संस्कार की आधी विधि के बाद सिर के केश और दाढ़ी–मूंछ मुंडवाये, संन्यासी के वस्त्र धारण किये महात्मा जी यज्ञ मण्डप में उपस्थित हुए। महात्मा जी के इस रूप को देखकर प्रायः सभी दर्शकों की आंखें प्रेम और प्रसन्नता से तरल हो गई। आर्य समाज के क्षेत्र में उग्र सुधारवादी रूप में पहचाने जाने वाले मुंशीराम ने संन्यास दीक्षा के गुरू की परम्परा को तोड़कर परम पिता परमात्मा को अपना गुरू मानकर गुरू द्वारा की जाने वाली प्रक्रिया स्वयं ही पूरी कर ली। इस अकल्पित दृश्य को देखकर कुछ संन्यासियों और रूढ़िवादी आर्य सज्जनों में असन्तोष अवश्य हुआ। हल्की सी बुदबुदाहट भी सुनाई पड़ी। परन्तु तालियों की गड़गड़ाहट में विरोधी स्वरों के शब्द दब गए। महात्मां मुंशीराम ने बोलते हुए कहा कि "मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धापूर्वक ही करता आया हूं। मैंने संन्यास भी श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर ही लिया है। इस कारण मैंने 'श्रद्धानन्द' नाम धारण करके संन्यास में प्रवेश किया है। आप सब नर–नारी प्रभु से प्रार्थना करें कि वे मुझे अपने नये व्रत को पूर्णता से निभाने की शक्ति दें[७]।" महात्मा मुंशीराम ने जहां संन्यास दीक्षा में मानव गुरू बनाने की परम्परा तोड़ी, वहां संन्यास के नाम श्रद्धानन्द के साथ दण्डी या सरस्वती आदि विशेषणों की समाप्ति भी की।

गुरुकुल में आने का आग्रह

संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के उपरांत स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वास्थ्य सुधार के लिये गुरुकुल–कुरुक्षेत्र (हरियाणा) में चातुर्मास्य किया। यहां का जल–वायु स्वामी जी के स्वास्थ्य के लिये

सदा ही अनुकूल रहा था। संन्यास आश्रम में प्रवेश के पश्चात् दिल्ली रहते हुये भी जब कभी विश्राम की आवश्यकता होती, तो स्वामी जी इसी गुरुकुल में चले आते थे। इनको इस शाखा से विशेष प्रेम था। 'आदिम सत्यार्थ प्रकाश' की समालोचना इसी गुरुकुल में रहकर लिखी गई थी। एक युरोपीयन महिला ने आपको सौ रूपये देकर कहा कि आप किसी प्रिय संस्था को दे दें। स्वामी जी ने ये रूपये गुरुकुल कुरूक्षेत्र को ही दिये थे। कुरुक्षेत्र के चातुर्मास्य में स्वामी जी ने 'आर्य समाज के इतिहास को लिखने का कार्य अपने हाथ में लिया। इससे पूर्व भी परोपकारिणी सभा की ओर से 1909 ई0 में आपने यह काम अपने हाथ में लिया था। परन्तु सभा के कार्य से असंतुष्ट होकर यह छोड़ना पड़ा था। इतिहास लेखन के संकल्प की पूर्ति के लिये आपने 17 भाद्रपद, 1974 वि0सं0 (सन् 1917) को 'सद्धर्म प्रचारक' समाचार पत्र में लिखते हुए सभी आर्य समाजी समाचार पत्रों, संस्थाओं के संचालकों से अपनी-अपनी रिपोर्ट भेजने को कहा। इसके साथ ही आप इतिहास सामग्री के संकलन के लिये दो महीने के दौरे पर निकल पड़े।

महात्मा मुंशीराम के संन्यास लेने पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के विषय में तत्कालीन गुरुकुल के एक स्नातक ने अपने संस्मरण लिखते हुए कहा है कि "महात्मा जी तो स्वामी जी हो गए, मगर उसका हम सब लोगों (ब्रह्मचारियों) पर और गुरुकुल पर-बड़ा विचित्र मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। गुरुकुल में भूचाल सा आ गया। प्रत्येक कार्य उथल-पुथल हो गया। परिणाम यह हुआ कि महाविद्यालय के अधिकांश छात्र इच्छा न रहने पर भी गुरुकुल छोड़ गये[10]।" विद्यार्थियों के गुरुकुल छोड़ने की सूचना जब आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब को मिली, तो वह बहुत चिन्तित हुई। स्थिति यहां तक पहुंच चुकी थी कि गुरुकुल टूटने के कगार पर आ गया था। गुरुकुल को इस स्थिति से उभारने के लिये आचार्य रामदेव और आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अनुरोध पर स्वामी जी ने गुरुकुल कुरुक्षेत्र छोड़कर गुरुकुल कांगड़ी में ही बैठकर इतिहास लिखने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस बात की पुष्टि स्वाजी जी द्वारा गुरुदत्त को लिखे गये एक पत्र से इस प्रकार होती है-

16-10-1975 (विक्रमी)

प्रिय पुत्र गुरुदत्त जी, नमस्ते।

आपका पत्र पहुंचा, बड़ी गड़बड़ के पश्चात् अब फिर यही निश्चय कि गुरुकुल की रक्षा के लिए उद्यत होऊं। यदि मैं शीघ्र वहां नहीं गया तो उसके टूट जाने की सम्भावना है, अतएव सब कुछ बेच-बाच कर चल देने का निश्चय पक्का हो गया है। परमात्मा सहायता करेंगे। इस कारण किसी उत्सव पर न जा सकूंगा। आपको प्रयत्न करके छुट्टी लेनी चाहिए, जिससे सुमित्रा को एक बार मिल सकूं तथा सुशीला को भी देख सकूं। सुमित्रा को नमस्ते, सुशीला को प्यार दें। पं0 गणपति शर्मा लाहौर के उत्सव के पश्चात् आपके पास रुक सकेंगे। लाला वजीर चन्द जी को उस समय भेजने का प्रयत्न करूंगा।

मुंशीराम[11]

गढ़वाल के अकाल में सहायता-कार्य

गुरुकुल कांगड़ी में स्वामी जी के आ जाने के समाचार से कुछ स्थिरता आई और स्वामी जी ने इतिहास लेखन के बिखरे पन्नों की धूल ही झाड़ी थी कि गढ़वाल के दुर्भिक्ष पीड़ितों की दयनीय स्थिति ने आपका ध्यान अपनी ओर खींचा। सरकार ने दुर्भिक्ष पड़ने का प्रतिवाद किया। इस प्रतिवाद

के पीछे सरकार का दोहरा स्वार्थ जुड़ा हुआ था। दुर्भिक्ष के समय प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था रोजी–रोटी का अन्य कोई उपाय न देखकर इस क्षेत्र के लोग दबादब सेना में भर्ती हो रहे थे। सरकार की मनमांगी मुराद स्वतः ही पूर्ण हो रही थी। दूसरी ओर ईसाई मिशनरी के लोग दुर्भिक्ष पीड़ितों की मानसिकता का लाभ उठाकर और प्रलोभन देकर पर्वतीय लोगों को धर्म परिवर्तन के लिये प्रेरित कर रहे थे। दुर्भिक्ष के कारण बढ़ी हुई महंगाई को देखकर सरकार ने बद्रीनाथ की यात्रा पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। ऐसी स्थिति में हरिद्वार में बैठे स्वामी जी किस प्रकार निष्क्रिय रह सकते थे। परिस्थितियों का दोहन करने के उपरान्त स्थिति का सही मूल्यांकन करके स्वामी जी ने लाहौर के उर्दू दैनिक 'देश' में 23 अप्रैल, 1918 को एक अपील प्रकाशित कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि आपके नाम धन पहुंचना आरम्भ हो गया। 24 अप्रैल को 'भारत हिन्दू सभा' ने भी गढ़वाल के अकाल पीड़ित लोगों की सहायता का बिगुल बजाया। 25 अप्रैल को डी.ए.वी. संस्थाओं के शलाका पुरुष महात्मा हंसराज ने भी सहायता के लिए अपील प्रकाशित कर दी। इस प्रकार तीन तेरह और बारह बाट में बिखरे हुए व्यक्तित्वों का एक सांझा मोर्चा नहीं बन पाया और सहायता के कार्य के लिए स्वतन्त्र रूप से पृथक्–पृथक् कार्य क्षेत्र बांट कर अपनी–अपनी बांसुरी बजाने लगे।

कोटद्वार के मार्ग से पौड़ी–श्रीनगर होते हुए बद्रीनाथ तक सहायता पहुंचाने का काम स्वामी जी को सौंपा गया। 3 मई, 1918 को स्वामी जी गुरुकुल से कोटद्वार के लिए चल पड़े। मार्ग में झगड़मल नामक स्थान पर अकाल के कारण एक पुरानी आर्य पाठशाला ईसाइयों के प्रबन्ध में चली गई थी। इसे ईसाइयों के हाथ से छुड़ाकर स्वतन्त्र प्रबन्धक समिति का निर्माण कर दिया। कोटद्वार पहुंचकर गंगादत्त के सहयोग से दुर्भिक्ष पीड़ितों को सहायता पहुंचाने की व्यवस्था की। 7 मई को आप कन्या गुरुकुल के संबंध में होने वाली एक अत्यावश्यक बैठक में भाग लेने के लिये दिल्ली चले गये। बैठकं के पश्चात् आप 10 मई को गुरुकुल लौट आए। यहां मदनमोहन मालवीय् की 'भारत हिन्दू सेवा समिति' के मन्त्री हृदय नाथ कुंजरू आप से मिले और परस्पर मिलकर कार्य करने का प्रस्ताव रखा। स्वामी जी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। स्वामी ने अपने सुपुर्द किये गये क्षेत्र में पांच राहत केन्द्र खोल दिये। गुरुकुल कांगड़ी के अनेक स्नातक और महाविद्यालय विभाग के कुछ ब्रह्मचारी स्वामी जी की सहायता के लिये पौड़ी पहुंच गए।

गढ़वाल के अकाल पीड़ित क्षेत्र में सहायता कार्य करते हुए स्वामी जी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत सेवा समिति का झण्डा पौड़ी के सहायता केन्द्र पर लगा हुआ था। यह झण्डा वहां के राजा की आंखों में चुभने लगा और झण्डा उतारने का आदेश तुरन्त जारी हो गया। रियासत के कर्मचारी जब यह आदेश लेकर स्वामी जी के पास पहुंचे, तो उनका उत्तर था कि "अपने मालिक से कह दो कि यह झण्डा गोखले की आत्मा ने लगाया है। सिवाय उसके दूसरा कोई इसको उतार या उतरवा नहीं सकता।" स्वामी जी का ऐसा उत्तर रियासत के अधिकारियों को प्रतिकूल करने के लिए पर्याप्त था। अधिकारियों ने 'सद्धर्म प्रचारक' में गढ़वाली लोगों की सामाजिक कुरीतियों और अन्य अन्ध विश्वासों के संबंध में स्वामी जी द्वारा लिखे लेखों को आधार बनाकर स्वामी जी के विरूद्ध यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि वे सहायता करने के बहाने से अपने धर्म को फैलाने आए हैं। गढ़वालियों की संस्कृति को स्वामी जी से खतरा है, इस प्रकार के दुष्प्रचार से गढ़वाली जनता भड़क उठी और एक पंचायत करके स्वामी जी के सामाजिक बहिष्कार का फरमान भी दिया। इसी संबंध में पौड़ी में बहिष्कार सभा करके, स्वामी जी का सिर काट लेने की धमकियां भी दी गई। सभा के दिन स्वामी जी दौरे से पौड़ी लौट रहे थे। मार्ग में ही हितैषियों ने स्वामी जी को परामर्श दिया कि वे पौड़ी न जाएं। परन्तु निर्भीक संन्यासी ने एक न सुनी और ऊपर से तुर्रा यह कि वे सीधे सभा स्थल पर जाकर सभापति के आसन के समीप बैठ गए। स्वामी जी की उपस्थिति ने पासा ही पलट दिया और लोगों के दिमाग से बहिष्कार का नशा हिरन हो गया। इस प्रकार की निर्भीकता

का प्रथम प्रदर्शन (मुंशीराम के नाम के समय) जालन्धर में होने वाली सनातन धर्मियों की एक सभा में कर चुके थे।

संन्यासी होने के उपरान्त भी स्वामी जी का गुरुकुल के प्रति ममत्व छीजा नहीं था। उनके मन के किसी कोने में अभी तक यह भाव बैठा हुआ था कि वे पूर्ववत् ही गुरुकुल के अधिकारी हैं। राहत कार्य को एक स्वतन्त्र संन्यासी के रूप में आरम्भ करने पर भी उनकी अन्तर्चेतना में गुरुकुल के आचार्यत्व का भाव विद्यमान था। इसीलिए तो उन्होंने राहत कार्य को 'गुरुकुल के प्रतिनिधि के रूप में' करने के विषय में लिखा।

धौलपुर आर्य समाज की समस्या

गढ़वाल के अकाल कार्य से निवृत्त होकर गुरुकुल में आकर बैठे ही थे कि धौलपुर आर्य समाज की समस्या ने आ घेरा। राज्य सरकार ने धौलपुर आर्य समाज भवन के एक भाग को गिरा कर जन साधारण के शौचालय बनाने का निर्णय ले लिया[12]। जोर्डन के अनुसार सरकार वहां स्टेट बैंक का भवन बनाना चाहती थी[13]। वास्तविकता बैंक से ही संबंधित थी। स्थानीय आर्य जनता रियासत के इस निर्णय से असन्तुष्ट थी। स्थानीय आर्य जनता के अनुनय और विनय को रियासती अधिकारियों ने अनसुना कर दिया। लोगों ने अपनी गुहार स्वामी जी के आगे जाकर की। स्वामी जी समस्या के समाधान के लिये तुरन्त धौलपुर के लिये चल पड़े। धौलपुर पहुंचकर परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् स्वामी जी ने रियासती निर्णय बदलवाने के लिये राजप्रासाद के द्वार पर निराहार और निर्जल रहकर बैठने का निश्चय कर लिया। स्वामी जी के निश्चय के पक्ष में भिन्न–भिन्न स्थानों से जत्थे भेजने के निर्णय से अकड़ी हुई रियासती सरकार को अपना निर्णय बदलने के लिये बाध्य होना पड़ा। अन्ततः सरकार झुकी और बैंक भवन बनाने का निर्णय वापिस लेना पड़ा। इस घटना ने संन्यासी के रूप में श्रद्धानन्द को लोगों की सच्ची श्रद्धा का पात्र बना दिया।

धौलपुर आर्य समाज की समस्या के समाधान के बाद स्वामी जी जब गुरुकुल पहुंचे, तो वहां इनफ्लूएंजा की बीमारी फैली हुई थी। इस बीमारी में उन्होंने गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की उसी भाव से सेवा की जैसी गुरुकुल के आचार्य के रूप में बीमार विद्यार्थियों की करते थे। बीमारी शान्त होने पर सन् 1918 ई0 के नवम्बर मास में लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर होते हुए दिल्ली चले आए। दिल्ली के सेठ रघुमल लोहिया आर्य समाजी होने के कारण चिरकाल से स्वामी जी में अटूट श्रद्धा रखते थे। उन्होंने सन् 1913 ई0 में दिल्ली से 18 किलोमीटर की दूरी पर स्थित गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की स्थापना के लिये अपने भाई की स्मृति में एक लाख रूपया दान रूप में दिया था। उनके नया बाजार (वर्तमान श्रद्धानन्द बाजार) में दो मकान थे। उनमें से एक मकान का पहला तल (मंजिल) सेठ जी ने स्वामी जी के स्थायी निवास के लिये समर्पित कर दिया। इसी मकान में स्वामी जी ने शहीद की मृत्यु पाई।

राजनीति में प्रवेश

1918 ई0 यूरोप का पहला विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। युद्ध के दिनों (1914–18) में इंग्लैण्ड के शासकों ने भारतीयों को स्वराज्य देने की बड़ी–बड़ी आशाएं दिलाई थीं। युद्ध की समाप्ति पर विजेता के रूप में उभरी इंग्लैण्ड की सरकार से भारतीयों को यह आशा थी कि वह स्वराज्य जैसी कोई योजना प्रस्तुत करेगी। परन्तु हुआ इसके विपरीत ही और स्वराज्य जैसी किसी योजना की कुरूप किश्त 'रौलट एक्ट' के रूप में पेश की गई। इस प्रकार रोटी की आशा में बैठे भारतीयों को पत्थर भेंट किया गया। इस विश्वासघात के कारण देश में असन्तोष और रोष का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। ऐसी संकट काल की परिस्थिति में महात्मा गांधी मैदान में आए और अहिंसात्मक सत्याग्रह

द्वारा 'रौलट एक्ट' का विरोध करने का प्रस्ताव रखा। इसके अतिरिक्त यह सुझाव भी प्रस्तुत हुआ यदि आवश्यक हुआ तो कौंसिल के सदस्य सदन का बहिष्कार करेंगे। 'रौलट एक्ट' के अतिरिक्त उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से सहायता की। प्रथम विश्वयुद्ध में टर्की ने जर्मनी का साथ दिया था। युद्ध का अन्तिम परिणाम इंग्लैण्ड के पक्ष में रहा और जर्मनी के साथ ही परास्त होने के कारण उसने टर्की के सुलतान को खलीफा पद से हटा दिया। ब्रिटिश सरकार के इस कदम से भारत के मुसलमानों की धार्मिक भावना को ठेस लगी और ये अंग्रेजों के विरूद्ध हो गये तथा 'खिलाफत आन्दोलन' आरम्भ कर दिया। परिस्थिति को अपने अनुकूल जानकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने 'खिलाफत आन्दोलन' का समर्थन किया। इस समर्थन के कारण देश का एक बड़ा धार्मिक समुदाय असहयोग आन्दोलन के साथ जुड़ गया।

स्वामी जी का संन्यास लेने से पूर्व का जीवन प्रायः सक्रिय राजनीति से दूर ही था। कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेते हुये भी उन्हें कोरी राजनीति में कोई श्रद्धा नहीं थी। संन्यास के उपरान्त स्वामी जी महात्मा गांधी की सत्य और अहिंसा आधारित राजनैतिक भागीदारी से इतने प्रभावित हुए कि एक घटना ने उनको राजनैतिक चौराहे पर खड़ा कर दिया। राजनीति में पदार्पण की नाटकीय घटना का वर्णन करते हुये वे स्वयं लिखते हैं कि "मैं उस आन्दोलन में कैसे सम्मिलित हुआ, उसकी कहानी कई बार पत्रों में निकल चुकी है। मेरे परम मित्र स्वर्गवासी गोपाल कृष्ण गोखले के मुख्य शिष्य मिस्टर श्रीनिवास शास्त्री को मैं माननीय मालवीय जी की प्रेरणा से मिलने गया। मेरे मिलने का उद्देश्य यह था कि यदि नौकरशाही 'रौलट बिल' को पास करने पर तुली ही रहे और हिन्दोस्तानी सभासद अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने के लिये कौंसिल से उठ खड़े हों, तो मिस्टर शास्त्री भी उनके संग ही उठ जाएं। मैंने तो शास्त्री जी के साथ यह चर्चा छेड़ी और उन्होंने गांधी जी की सत्याग्रह संबंधी घोषणा का जिक्र करके 'लीडर'[14] पर्चा (समाचार पत्र) मेरे सामने कर दिया और कहा– वह उस घोषणा के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाना अपना कर्तव्य समझते हैं। मैंने बहुतेरा समझाया कि जब वह गांधी जी के मत और कर्मों के जिम्मेदार नहीं, तो खाहमखाह दाल–भात में मूसल चन्द बनने का क्या लाभ ! जब उन्होंने एक न सुनी और कहा– It is my duty to protest against it. (मेरा यह कर्तव्य है, मैं इसका विरोध करूं)। तब मैंने उत्तर दिया Then I must sign the satyagrah vow. (तब मुझे सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर अवश्य करने है)। और तब मेरे लिए सत्याग्रह के प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करना आवश्यक हो गया। मैंने मिस्टर शास्त्री के यहां से लौटते ही गांधी जी को तार दे दिया[15]।

लेखकों के अनुसार तार की भाषा इस प्रकार थी "अभी–अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किए हैं। इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने में प्रसन्नता अनुभव करता हूं[16]।" इस तार के "धर्मयुद्ध" शब्द के अव्याख्यायित रहने पर भी यह तात्पर्यायार्थ निकलता है कि स्वामी जी की दृष्टि में असहयोग आन्दोलन में ऐसे मौलिक मूल्य थे, जो कि इसे धर्म की परिधि के अन्तर्गत ले आते थे। इन्हीं मूल्यों की प्रतिध्वनि स्वामी जी के भावी राजनैतिक चिन्तन में गुंजायमान रही। देहली से यह तार गांधी जी के पास जा रहा था और गांधी जी वायसराय से मिलने दिल्ली आ रहे थे। अतः उन्हें यह तार नहीं मिला। गांधी जी दिल्ली आकर वायसराय से मिले। सम्भवतः यह 5 या 6 मार्च, 1918 का दिन था। वायसराय से निराशाजनक उत्तर मिला और गांधी ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। स्वामी जी ने महात्मा गांधी से भेंट की। भेंट का पूरा विवरण तो प्राप्त नहीं है, हां उस भेंट के पश्चात् स्वामी जी ने इन्द्र को बताया कि यदि महात्मा गांधी ने सत्याग्रह किया तो वे निश्चित रूप से उनका साथ देंगे[17]। परन्तु इस मुलाकात की कुछ झलकियां स्वामी जी द्वारा लिखित 'लिबरेटर' समाचार पत्र के लेख से इस प्रकार मिलती हैं–

सत्याग्रह के सम्बन्ध में सुझाव

"सत्याग्रह आन्दोलन का सम्पूर्ण संविधान पढ़े बिना ही मैं सत्याग्रह सेना में भर्ती हो गया। बम्बई में उस समिति का गठन किया गया, जिसको यह तय करने का काम सौंपा गया था कि किन–किन अंग्रेजी कानूनों की किस प्रकार अवहेलना करनी है। एक प्रकार से सारे आन्दोलन का केन्द्रीकरण कर दिया गया था। किन्तु मेरे विचार से कानूनों की अवहेलना को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए स्थानीय स्तर पर स्वतन्त्रता दिया जाना आवश्यक था। मैंने महात्मा जी से कार्य की योजना विषयक उनके सुझाव जानने चाहे। उन्होंने मुझे बताया कि आरम्भ में पुलिस को सूचना देकर जब्तशुदा साहित्य को बेचा जायेगा। मेरा विचार था कि ऐसा करने पर चतुर नौकरशाही हम पर हंसेगी और मैंने अपने भी सुझाव उनके समक्ष रखे। मेरा प्रथम सुझाव पंचायत अदालतें स्थापित करने का था, जिससे कि ब्रिटिश न्यायालयों का परोक्ष रूप में बहिष्कार किया जा सके। मेरा दूसरा सुझाव यह था कि अक्टूबर 1919 ई0 तक, जबकि खरीफ की फसल का लगान दिया जाना था, दस ऐसे जिले तैयार किये जाते जहां जमीन का लगान तथा अन्य कर देने से लोग इन्कार कर दें। मैंने पंजाब में ऐसे पांच जिलों को इस कार्य के लिये तैयार करने का वचन दिया, जहां हिन्दू जाटों का बहुमत था। मैंने महात्मा जी से निवेदन किया कि वे गुजरात में भी पांच ऐसे जिले तैयार करें क्योंकि खेड़ा जिला सत्याग्रह तथा अहमदाबाद की मिलों के सत्याग्रह के कारण वहां महात्मा गांधी अपने प्रभाव के कारण ऐसा कर सकते थे। किन्तु महात्मा जी ने मुस्करा कर कहा– भाई साहेब, आप यह जान जायेंगे कि मैं सत्याग्रह के काम में अत्यन्त निपुण हूं। मैं अपने काम को भली भांति समझता हूं। महात्मा जी के इस कथन को चुनौती देना निरर्थक ही था और मैंने उनके निर्णय के समक्ष अपना सिर झुका लिया।"[18]

यहां पाठकों की जानकारी के लिए यह बताना आवश्यक है कि स्वामी जी दृष्टि में पंजाब प्रान्त के पांच हिन्दू जाट बहुल जिले अम्बाला डिविजन के ही थे। इन पांच जिलों के नाम इस प्रकार हैं– अम्बाला, करनाल, रोहतक, हिसार और गुडगांवां। इन पांच जिलों के क्षेत्र से ही हरियाणा प्रदेश का निर्माण हुआ है। स्वामी जी ने द्वारा छांटे गयेः उपर्युक्त पांच जिलों की विश्वसनीयता का कारण इन जिलों में गुरुकुलों की स्थापना को जाता है। सन् 1918 से पूर्व अम्बाला डिविजन में जितने भी गुरुकुल स्थापित हुए, प्रायः उनकी आधार शिला रखने का गौरव स्वामी जी को मिला था। अम्बाला डिविजन के गुरुकुल कुरुक्षेत्र, गुरुकुल झज्जर (रोहतक), गुरुकुल–मटिण्डू (रोहतक), गुरुकुल भैंसवाल (रोहतक), गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ (गुड़गांवां) सभी स्वामी श्रद्धानन्द को आर्य जगत् का अप्रतिहत और अग्रणी नेता मानते थे। यदि महात्मा गांधी स्वामी जी के 'पांच जिला सिद्धान्त' को मान लेते तो क्या स्वामी जी अपने उद्देश्य में सफल होते, इस पर आसानी से प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है। कारण कि उस समय की अम्बाला डिविजन की आर्य सामाजिक और राजनैतिक स्थितियां यह बताती हैं कि किसानों के मसीहा छोटू राम द्वारा स्वामी जी का विरोध अवश्य होता। इस विचार की पुष्टि इस बात से भी होती है कि छोटू राम ने किसानों द्वारा लगान न देने की नीति से असहमत होकर कांग्रेस छोड़ दी थी।

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखा गया उपर्युक्त लेख यह संकेत भी देता है कि यद्यपि महात्मा गांधी स्वामी जी को भाई के समान मानते थे तथापि वे असहयोग आन्दोलन के विषय में अपनी अंगुली उन्हें नहीं पकड़वाना चाहते थे। इससे स्पष्ट हो गया कि भविष्य में भी कांग्रेस की नीतियों में स्वामी जी को पीछे धकेला जा सकता है और हुआ भी ऐसा ही।

राजनीति में प्रवेश की प्रतिक्रियाएं-

7 मार्च, 1919 को दिल्ली में एक सार्वजनिक सभा हुई। इस सभा में स्वामी जी ने अपने जीवन में प्रथम बार राजनैतिक विषय पर अपने विचार खुल कर प्रकट किया। स्वामी जी ने इस सभा में कहा कि असहयोग आन्दोलन राजनीति से कहीं अधिक धार्मिक है। आर्य समाजी तो इस बात को सुनकर भौंचक्के रह गए। परन्तु स्वामी जी, के पुत्र इन्द्र के लिए स्वामी जी का राजनीति में प्रवेश वरदान के रूप में सिद्ध हुआ। इन्द्र के शब्दों के अनुसार "मेरा बचपन से ही राजनीति की ओर झुकाव था। दिल्ली आकर मेरे उस झुकाव को पनपने और कार्यरूप में परिणत होने का अवसर मिला, मानो प्यासे को पानी मिल गया। पिता जी के राजनैतिक प्रवेश ने मुझे अवसर दिया कि मैं बचपन की हवस को पूरा करने के लिये गहरे पानी में लम्बी छलांग लगा दूं[19]।" इन्द्र ही नहीं, अपितु अनेक आर्य समाजी व्यक्ति जो कि सत्याग्रह की नदी किनारे बैठे–बैठे छलांग न लगाने के कारण ऊंघ रहे थे, उनको भी हरी झण्डी मिल गई। इस प्रकार स्वामी जी के राजनीति में प्रवेश के कारण कांग्रेस को बड़ा भारी लाभ हुआ और इसे कर्मठ, चरित्रवान और देशभक्त आर्यसमाजी व्यक्तियों का एक समूह कार्यकर्ताओं के रूप में मिल गया।

इसके पश्चात् स्वामी जी गुरुकुल कांगड़ी में खोली जाने वाली प्रोद्योगिक और व्यवसायिक शिक्षा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के विचार से 10 मार्च को औद्योगिक नगरी बम्बई के लिए प्रस्थान कर गये। बम्बई पहुंच कर शिक्षा जगत् का बूढ़ा शेर राजनीति की दलदल में ऐसा फंसा कि वहां सत्याग्रह के पक्ष में पांच भाषण दे डाले और मूल उद्देश्य 'प्रोद्योगिक संस्थानों' को देखना ही भूल गया। स्वामी जी ने बम्बई के उपरान्त महात्मा गांधी के प्रतिनिधि के रूप में भड़ौच और सूरत में भी व्याख्यान दिए। स्वामी जी के बम्बई, भड़ौच और सूरत के व्याख्यानों की दो प्रतिक्रियाएं हुई। इनमें से एक प्रतिक्रिया अंग्रेज शासकों से सम्बन्धित है, तो दूसरी आर्य समाज के क्षेत्र से जुड़ी हुई है। ब्रिटिश शासकों की प्रतिक्रिया महात्मा गांधी और स्वामी जी के परस्पर सहयोग की चिन्ता को लेकर थी। भारत के दो राजनैतिक और धार्मिक ऐरावतों के मिलन से व्याकुल होकर तत्कालीन वायसराय लार्ड चैम्स फोर्ड ने भारत सचिव मिस्टर मान्टेग्यू को एक पारिभाषिक तार इस प्रकार भेजा था–

"आन्दोलन (सत्याग्रह) तीव्र गति से चल रहा है महात्मा मुंशीराम ने, जिसने अब श्रद्धानन्द नाम रख लिया है, गांधी के साथ हाथ मिला लिया है। बहुत काल से वह एक सुप्रसिद्ध धार्मिक मुखिया रहा है और सामाजिक सुधारक़ के नाते भी यथेष्ट प्रतिष्ठा अर्जित की है। प्रतीत होता है कि वह राजनैतिक आन्दोलनकर्ता के रूप में ख्याति प्राप्त करना चाहता है। अभी देखना है कि कष्ट का समय आने पर उसकी सहन शक्ति कितनी है। उसका बड़ा लड़का कुछ काल तक सुप्रसिद्ध विप्लवकारी का ब्यूनोस एरिस में अतिथि रहा है[20]। उसका छोटा लड़का दिल्ली से सरकार के विरूद्ध देशी भाषा का एक उग्र दैनिक निकालता है[21]। हमें प्रतीक्षा करनी है कि क्या होता है[22]।"

दूसरी प्रतिक्रिया आर्य समाजियों की थी। आर्य समाजियों में यह भ्रम फैल गया कि आर्य समाज सामूहिक रूप में सत्याग्रह में सम्मिलित हो गया है। और हाथी के पांव में सबके पांव आ गए हैं। आर्य समाजियों की इस भ्रान्ति के निवारण के लिये स्वामी जी ने बम्बई से इन्द्र को इस प्रकार का पत्र लिखा–

बम्बई

15–3–19

मेरे प्यारे इन्द्र,

आज प्रातःकाल शरीर ठीक है। हमारा कार्य भी बड़ी उत्तमता से चल रहा है। .... यहां गांधी जी मिले। मैं कल बोला भी। 'विजय' 'बाम्बे क्रानिकल' के नाम भेज दिया करो। मि0 हानीमैन कल सभा में मिले थे। आज उन्हें कहूंगा कि एक्सचेंज कर लें।

असहयोग–सत्याग्रह के आन्दोलन में मेरे प्रवेश से कुछ आर्यसमाजी घबरा गए हैं। तुम मेरी ओर से ठीक समझकर 'सद्धर्म प्रचारक' में लिख दो कि स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी हैं। उनका किसी आर्य संस्था से विशेष सम्बन्ध नहीं। उनके सत्याग्रह में शामिल होने के अर्थ नहीं कि आर्य समाज संस्था रूप में इसमें शामिल है। ऐसे आर्य समाजी होंगे, जो सत्याग्रह को उचित न समझें।

कुछ भीरू लोग तथा ईर्ष्यालु कुछ का कुछ प्रकट करेंगे। इसलिए तुम जो उचित समझो, नोट लिख छोड़ो।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी

श्रद्धानन्द

स्वामी जी 22 मार्च को दिल्ली लौट आए। दिल्ली में आकर स्वामी जी ने देखा कि उनकी अनुपस्थिति में स्थानीय सत्याग्रह समिति की निष्क्रियता के कारण सत्याग्रह अभियान निर्जीव सा हो गया है। स्थानीय सत्याग्रह समिति के सदस्य होने के नाते स्वामी जी ने 24 और 27 और 29 मार्च को तीन सभाओं का आयोजन किया। 29 मार्च की सभा में लोगों को यह बताया गया कि 30 मार्च की हड़ताल में क्या–क्या करना है और उसी दिन सांयकाल चार बजे एक सार्वजनिक सभा भी होगी। महात्मा गांधी द्वारा प्रसारित स्मरण पत्र में स्वामी जी ने एक चीज अपनी ओर से जोड़ते हुए कहा कि इस दिन प्रत्येक मनुष्य आधे घण्टे के लिए ध्यान करे और परमात्मा से प्रार्थना करे कि वे हमारे विरोधियों का हृदय परिवर्तन कर दे।

छाती को चूमती संगीनें

30 मार्च का दिन और दिल्ली की प्रत्येक दुकान और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में सर्वत्र सन्नाटा और शान्ति। यह शान्ति मरघट की शान्ति न होकर स्वदेश प्रेम की अनुपम शालीनता का सिरोपा पहने हुई शान्ति थी। दिल्ली शहर में क्या हिन्दू, क्या सिक्ख, क्या जैन और क्या मुसलमान सभी ने हड़ताल कर रखी थी। शहर में तांगे और ट्रामें तक बन्द थी। हलवाइयों के पास बन्धा दूध आया, वह उन्होंने बच्चों और गरीबों में मुफ्त बांट दिया। 12 बजे तक स्वामी जी ने शहर में गश्त लगाई। इसके बाद कुछ सुस्ताए ही थे कि स्टेशन पर गोली चलने की सूचना मिली। स्वामी जी तुरन्त पैदल ही स्टेशन की ओर चल पड़े। उन्होंने मशीनगन से अन्धाधुन्ध गोलियां चलाये जाने की आवाज सुनी। एक दर्जन व्यक्ति या तो मारे गये या घायल हो गए। मृत और घायलों को खींच–खींच कर स्टेशन यार्ड में ले जाया गया। स्वामी जी ने मौके पर मौजूद सिटी मैजिस्ट्रेट मिस्टर करी से सही तथ्यों की जानकारी चाही। अंग्रेज मैजिस्ट्रेट ने स्वामी जी की उपेक्षा की और मुंह मोड़ कर खड़ा रहा। स्वामी जी चाहते तो उसको उसके व्यवहार से भी अधिक कड़वा पाठ पढ़ा सकते थे। परन्तु असहयोग के अहिंसक सिपाही ने मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन करते हुए इतना ही कहा कि वे लोगों को सभा स्थल पर ले जा रहे हैं, हालांकि अभी सभा होने में काफी देर है। अतः उसे फौज

या मशीनगनों का प्रदर्शन करके जनता को उत्तेजित नहीं करना चाहिए। सिंह की ठवन से चलते हुए स्वामी जी के पीछे–पीछे जनता चल पड़ी। धीरे–धीरे आरम्भ की तीन–चार हजार की भीड़ पच्चीस हजार के लगभग लोगों का समूह बन गई। इस भीड़ को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने कहा कि हमें सत्याग्रही की भांति आचरण करके अपने शोक और क्रोध को नियन्त्रित करना चाहिए। इस समय तक स्वामी जी को यह समाचार मिल चुका था कि गोरे सिपाहियों ने चांदनी–चौक के निकट गोली चलाई है और लगभग 12 व्यक्ति गोलियों के शिकार हुए हैं।

इस समाचार से लोगों में हलचल मच गई। स्वामी जी द्वारा उन्हें शान्त किये जाने का प्रयास किया ही जा रहा था कि इतने में उत्तर दिशा से घुड़सवार सेना का एक दस्ता सभा की ओर बढ़ता हुआ आया। उसके अफसर ने स्वामी जी से पूछा– यहां क्या हो रहा है? स्वामी जी का उत्तर था कि वे लोगों को शान्त रहने का उपदेश दे रहे हैं। उत्तर से सन्तुष्ट होकर घुड़सवार चले गए। परन्तु पांच बजे के लगभग दूसरी बार सभा का चारों तरफ से घेराव कर लिया गया। दिल्ली के चीफ कमिश्नर मिस्टर बैरन ने स्वामी जी को सभा से बुलाकर कहा कि यदि वे इस बात का आश्वासन दें कि इस सभा में कोई भड़काऊ बात नहीं कही जायेगी, तो उनके उत्तरदायित्व पर इस सभा को जारी रहने देता हूं। स्वामी जी का स्पष्ट और सपाट उत्तर था कि वे इस शर्त पर उत्तरदायित्व लेने को तैयार हैं कि सेना व्यर्थ में दखल देकर लोगों को न भड़काए। सभा की कार्यवाही चलती रही। माण्टेग्यू को भेजा जाने वाला प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। सभा समाप्ति पर अनुशासित लोगों की तरह भीड़ स्वामी जी के पीछे–पीछे चल पड़ी। इस भीड़ के पीछे बहुत से घुड़सवार सिपाही और मशीनगने पहरा सा देती चल रही थी। जब स्वामी जी की अगुआई में भीड़ घण्टाघर के निकट आई तो देखा कि सड़क के बीच में गोरखा सिपाही दोहरी पंक्ति में खड़े हैं। भीड़ को देखकर वे दाहिनी पटरी की ओर जाने लगे। स्वामी जी ने सोचा कि शायद भीड़ को रास्ता देने के लिए ही सिपाही पटरी की ओर चले गए हैं। लोग नारे लगाने में मस्त थे और तेजी से आगे बढ़ रहे थे। भीड़ को अपनी ओर आता देखकर सिपाही घबरा गए और तीन–चार कदम पीछे हटकर अपनी बन्दूकों को ऐसे ढंग से सम्भालने लगे जैसे गोली छोड़ने के समय सम्भालते हैं। इतने में भीड़ पर रायफल से एक गोली चलाई गई। इस पर हलचल मच गई और भीड़ की ओर से आपत्तिजनक आवाजें आने लगी। किन्तु स्वामी जी ने भीड़ को रुकने के लिये कहा और संन्यासी वेश में अकेले ही सिपाहियों तक गये और पूछा कि निर्दोष और शान्त लोगों पर गोली क्यों चलाई गई है? उत्तर न देकर दो सिपाहियों ने अपनी रायफलों की संगीने स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा– हट जाओ नहीं तो छेद देंगे। स्वामी जी का एक कदम और बढ़ा। स्वामी जी ने गम्भीर घोष में कहा– मार दो, और वहीं खड़े रहे। तुरन्त आठ–दस रायफलें स्वामी की की छाती की ओर बढ़ गई। अब संगीनें छाती को चूम रही थीं।

ऐसी स्थिति में भीड़ के लिए संयम दिखाना कठिन हो गया। वह आगे बढ़ना ही चाहती थी कि स्वामी जी ने उन्हें अहिंसा की प्रतिज्ञा की याद दिलाई और भीड़ वहीं रुक गई। परन्तु भीड़ में से निरन्तर आवाजें आती रही कि वे मर जायेंगे पर स्वामी जी को मरने नहीं देंगे(७)।" अन्त में सेना अधिकारियों ने सिपाहियों को हटाकर भीड़ के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दिया। जनता ने अपना कोलाहलपूर्ण प्रयाण जारी रखा। स्वामी जी के निवास स्थान नया बाजार आने पर लोग अपने–अपने घरों की ओर चल दिए।

इस प्रकार दिल्ली में सत्याग्रह प्रणाली के महाकाव्य का प्रथम सर्ग काली और नीली स्याही से न लिखा जाकर लाल स्याही से लिखा गया। इस अहिंसात्मक लाल स्याही में हिन्दू और मुसलमान दोनों की लाली मिलकर एक हो गई थी। यदि स्वामी श्रद्धानन्द रेलवे स्टेशन की घटना से लेकर

घण्टाघर तक की उत्तेजक परिस्थितियों के कारण–विस्फोटक मानसिकता में आई जनता को नियन्त्रित नहीं करते, तो शायद गांधी जी का अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन संसार के सबसे भयंकर रक्तिम आन्दोलन के रूप में स्मरण किया जाता। यह स्वामी जी के निर्भीक और प्रभावी व्यक्तित्व का ही जादुई प्रभाव था कि अपार भीड़ भी उनके संकेत पर एक अनुशासित समूह की तरह व्यवहार करने लगती थी। स्वामी जी के निर्भीक व्यक्तित्व ने बूढ़ी नगरी में संजीवनी बूटी का काम किया और दिल्लीवासियों ने धर्म और जाति के भेद–भाव बिना उन्हें नव चेतना का मसीहा मान लिया। राजनीति के क्षेत्र में स्वामी जी का पहला चरण ही इतना सशक्त था, जिसने सबको चमत्कृत कर दिया था।

31 मार्च का प्रातः कालीन सूर्य इस बात का साक्षी था कि मानो 30 मार्च की रात ने सदियों पुरानी हिन्दू–मुस्लिम भेद–भाव की दीवारों को चकनाचूर कर दिया था। यह प्रातःकाल 'हम एक हैं' (ह से हिन्दू और म से मुस्लिम) से उदित हुआ। 31 मार्च को प्रातःकाल 30 मार्च की गोली से मृत एक मुसलमान का जनाजा निकला। जनाजे के साथ चलने वाली भीड़ बहुत अधिक थी। भीड़ में हिन्दू अधिक थे या मुसलमान यह कहना अनुमान का विषय था। जनाजे के साथ स्वामी श्रद्धानन्द भी थे और हकीम अजमल खां भी। इन दो महान् विभूतियों का प्रथम मिलन जनाजे के जुलूस से ही हुआ। अगले दिन सरकारी हस्पताल से पांच लाशें और मिली। उनमें से दो मुसलमान और तीन हिन्दू थे। मुसलमानों के जनाजे मुख्यतया हिन्दुओं के कन्धों पर थे और हिन्दुओं की अर्थियों को मुसलमान कन्धा दे रहे थे। इन शवों के उठाने वालों के मनों में यह भावना नहीं थी कि वे किसी काफिर को अथवा हिन्दू को कन्धा दे रहे हैं। पांचों अर्थियां कुछ दूर तक साथ–साथ चलीं। चांदनी चौक से भीड़ दो भागों में बंट गई। स्वामी जी मुसलमान शहीदों के जनाजे के साथ ईदगाह जाने की जिद्द कर रहे थे। किन्तु मुस्लिम नेताओं के आग्रह पर उनको अपना विचार बदलना पड़ा और वे हिन्दू–शहीदों की अर्थियों के साथ यमुना घाट के लिये चल पड़े। इस स्थिति में स्वामी जी के पैर तो निगम बोध घाट की ओर बढ़ रहे थे, परन्तु मन विपरीत गति से मुसलमान शहीदों के जनाजों के साथ भाग रहा था।

जामा मस्जिद में भाषण

शहीदों का खून सदा रंग दिखाता है, यह उक्ति सत्य है। यह रंग इतना सात्त्विक होता है कि इसमें जाति, धर्म, वर्ण और वर्ग के संकुचित विचार काफूर हो जाते हैं। दिल्ली के शहीदों के रंग ने 'हम एक हैं' के दिखाने में देरी नहीं की। 4 अप्रैल के दिन दोपहर बाद की नमाज के पीछे विश्व की प्रसिद्ध 'जामा मस्जिद' में मुसलमानों का जलसा हो रहा था। भीड़ में से मौलाना अब्दुल्ला चूड़ीवाले ने अचानक आवाज देकर कहा – "स्वामी श्रद्धानन्द की तकरीर भी होनी चाहिये। दो–तीन उत्साही युवक उठे और स्वामी जी को नये बाजार के निवास से लिवा लाए। अल्ला हो अकबर के नारों के साथ स्वामी जी मस्जिद के मिम्बर (वेदी) पर विराजमान हुए। स्वामी जी ने निम्न वेद मन्त्र बोलकर अपने भाषण को आरम्भ किया–

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नीमहे।

इस मन्त्र की व्याख्या को सभी–श्रोताओं ने श्रद्धापूर्वक सुना और मस्जिद के किसी भी कोने से कोई विरोध का स्वर नहीं उठा। स्वामी जी ने अपने भाषण का अन्त 'ओं शान्ति' को तीन बार बोल कर किया। इस प्रकार स्वामी जी ने विश्व के धार्मिक इतिहास में एक कीर्तिमान स्थापित किया। यह पहला अवसर था जबकि भारत में ही नहीं अपितु सम्भवतः सम्पूर्ण मुस्लिम जगत में किसी गैर मुस्लिम व्यक्ति ने जामा मस्जिद की वेदी से उपदेश दिया हो। इस घटना से वे धर्म और जाति की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर मानव से महामानव और 'अजातशत्रु' बन गए थे। यदि देखा जाए,

तो राजनीति के क्षेत्र में यही उनकी प्रथम और अन्तिम उपलब्धि थी। इससे बड़ा सम्मान क्या हो सकता था?

दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी ने 30 मार्च को हड़ताल करके पहल कर दी थी। वस्तुतः महात्मा गांधी ने अभी हड़ताल का कोई दिन निश्चित नहीं किया था। अतः स्वामी जी सहित अनेक नेता लोगों को दुकानें आदि खोलने के लिए प्रेरित करने लगे। 4 अप्रैल को सायंकाल डिप्टी कमिश्नर बीडन ने शहर के रईसों और अफसरों की एक बैठक बुलाकर कहा कि रेलवे स्टेशन पर इकट्ठी भीड़ बदमाशों का जमावड़ा थी। बीडन के गलत वक्तव्य का प्रतिवाद सत्याग्रह समिति की ओर से छपवा कर 6 अप्रैल को प्रातःकाल लोगों में वितरित करवा दिया गया। वस्तुतः 6 अप्रैल ही महात्मा गांधी द्वारा निश्चित हड़ताल का दिन था। दिल्ली सत्याग्रह कमेटी ने 30 मार्च को 'प्रार्थना दिवस' मना लिया था। इसलिये दिल्ली समिति 6 अप्रैल को मात्र सरकार के विरोध में एक सभा करने का विचार रखती थी। जब 6 अप्रैल को सूर्योदय हुआ तो सारा कारोबार बन्द हो गया। हजारों लोग सवेरे के समय फतहपुरी मस्जिद में एकत्र हुये और स्वामी जी को सत्याग्रह की प्रार्थना का संचालन करना पड़ा । जामा मस्जिद का इतिहास फिर दोहराया गया। दिल्ली के लोगों के आग्रह पर स्वामी जी ने महात्मा को तार देकर प्रार्थना की कि वे पंजाब–सिन्ध के दौरे पर जाते हुए दिल्ली के लोगों को भी दर्शन दें। महात्मा जी का स्वीकारात्मक उत्तर आ गया किन्तु उन्हें 8 अप्रैल को दिल्ली प्रवेश से पूर्व ही पलवल रेलवे स्टेशन पर सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद 10 अप्रैल को पूर्ण हड़ताल हो गई। हड़ताल के पश्चात् यमुना के किनारे एक सभा हुई जिसमें गिरफ्तारी के समय महात्मा गांधी द्वारा महादेव देसाई के हाथ भेजा गया सन्देश स्वामी जी ने पढ़ा।

12 अप्रैल को स्वामी जी को बम्बई से भेजा महात्मा गांधी का तार मिला। इस तार में लोगों को संयम और अहिंसा का पालन करने को कहा गया था। साथ में यह भी लिखा था कि स्वामी जी इस सन्देश को लाहौर और अमृतसर आदि स्थानों पर भी भेजें। स्वामी जी को ऐसा निर्देश इसलिये दिया गया था कि पंजाब में अधिकांश में जिन लोगों ने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की थी, वे आर्य समाजी थे और वे इस आन्दोलन में इसलिये प्रविष्ट हुए थे कि इसका नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द कर रहे थे[24]। स्वामी जी ने लाहौर और अमृतसर तार अवश्य भेजे किन्तु सरकार ने ये तार बीच में ही रोक लिए। महात्मा गांधी के तार से वचनबद्ध होकर स्वामी ने स्थानीय समाचार पत्रों में हड़ताल समाप्त कर देने की सूचना भी प्रकाशित करवाई। लेकिन 13 तारीख को यह सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि महात्मा गांधी ने सत्याग्रह कार्यक्रमों को ही स्थगित कर दिया है और अपने देशवासियों के विरुद्ध अनशन आरम्भ कर दिया है। महात्मा गांधी के इस कारनामें से विचलित न होकर स्वामी जी तथा हकीम अजमल खां तथा डा0 अन्सारी हड़ताल खुलवाने के प्रयास में जुटे रहे। दिल्ली के चीफ कमिश्नर मिस्टर बैरन ने स्वामी जी को बुलाकर कहा कि वे भारत की राजधानी में और खून की बूंद भी नहीं गिराना चाहते। स्वामी जी ने उत्तर देते हुये स्पष्ट किया कि उनका धर्म सब काल में रक्तपात से घृणा करता है। अतः उनका प्रयास होगा कि सर्वत्र शान्ति बनी रहे[25]। अन्त में 10 अप्रैल को दिल्ली की हड़ताल समाप्त हो गई।

30 मार्च से आरम्भ होकर 10 अप्रैल तक चलने वाली दिल्ली की हड़ताल के विषय में कहा गया है कि ''उस समय ऐसा 'रामराज्य' रहा जिसे दिल्ली–निवासी अभी तक न भूले होंगे। सेंध लगाना बन्द, ताले टूटने बन्द, जुएखानों और शराबखानों के ठेकेदार बैठे शराबियों की प्रतीक्षा करते रहते थे।'' इस लघु अवधि में दिल्ली में रामराज्य लाने में दिल्ली की त्रिमूर्ति (डा0 अन्सारी, हकीम अजमल खां और स्वामी श्रद्धानन्द) में से स्वामी श्रद्धानन्द का योगदान सर्वोपरि था। स्वामी श्रद्धानन्द की तुलना में दिल्ली की हिन्दू–मुस्लिम जनता में अन्सारी और अजमल की पैंठ द्वितीय श्रेणी की थी। जहां स्वामी

श्रद्धानन्द हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों में सम्पूज्य थे, वहां अन्सारी और अजमल हिन्दू जनता में लोकप्रियता स्थापित नहीं कर सके थे। दिल्ली के सर्वोच्च अधिकारी भी स्वामी जी को ही सारे फिसाद (हड़ताल) की जड़ मानते थे।

जलियांवाला गोली काण्ड की जांच में सहायता

'रौलट एक्ट' के विरोध में सत्याग्रह की घोषणा के प्रारम्भिक चरणों में जो देश व्यापी हड़ताल हुई थी, उसको भिन्न–भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने अपने–अपने तरीकों से निपटने की जुगत बैठाई। पंजाब के गवर्नर माहकल ओड़वायर की सरकार ने जलियांवाला बाग (अमृतसर) में निहत्थे और शान्त लोगों की भीड़ पर बड़ी निर्ममता से गोली चलवा कर सत्याग्रह की आत्मा को दबाना चाहा। इस भीषण गोली काण्ड से पंजाब का वातावरण कांप उठा और श्मशान घाट जैसी शान्ति सर्वत्र फैल गई। प्रान्त की आह भरी पुकारें बाहर न जाने पायें, इस विचार से 'सैन्सरशिप' का पर्दा तान दिया गया। वाणी और लेखनी दोनों कैद हो गई। लोकमत को प्रचण्ड रूप में उभरते देखकर बड़ी विवशता के साथ सरकार ने 'सैन्सरशिप' का पर्दा हटाया। 'सैन्सरशिप' हटने पर पंजाब की स्थिति के विषय में देश के नेताओं को वास्तविकता का बहुत कुछ पता चला। पंजाब के आतंक पीड़ित लोगों को सान्त्वना देने एवं वस्तुस्थिति से पूर्णतया परिचित होने के लिये देश के शीर्षस्थ नेता पंजाब के लिये प्रस्थान करने लगे। ऐसी अवस्था में सिसकते पंजाब की सुध लेने, उसी का एक सपूत, सन्यासी वेश में सर्वप्रथम अमृतसर पहुंचा। वह संन्यासी अन्य कोई न होकर स्वामी श्रद्धानन्द ही था। 'भारत सेवा समिति' के उपप्रधान के नाते संन्यासी श्रद्धानन्द ने पीड़ित और आहत अनाथों एवं विधवाओं को सहायता देने का काम अपने हाथ में लिया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा सवा लाख रुपया सहायता कार्य के लिए संगृहीत किया। स्वामी जी के अपनत्व को पाकर पंजाब का मृतप्राय वातावरण सजीव हो उठा। पंजाब में अपनी उपस्थिति को सार्थक बनाकर कुछ समय के पश्चात् स्वामी जी दिल्ली लौट आए।

कांग्रेस पार्टी ने पंजाब की घटनाओं की तहकीकात के लिये पं0 मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास को भेजा। इस सन्दर्भ में स्वामी जी के पास पं0 मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि वे मार्शल ला की घटनाओं की तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिये लाहौर जा रहे हैं। आप पंजाब में सहायता का कार्य करके अभी आए हैं। अतः इलाहाबाद से लाहौर जाते हुए आपसे मिलना चाहूंगा। पं0 मोतीलाल पत्र में लिखी तारीख को स्वामी जी से उनके निवास स्थान पर मिले। एक ही कालेज के सहपाठी होने पर भी पैंतालीस वर्ष के अन्तराल के कारण एक दूसरे को अपरिचित समझने वाले दो चेहरे आमने–सामने खड़े एक दूसरे का मुंह ताक रहे थे। एक दूसरे के मुख से 'अरे तुम–अरे तुम' शब्द ही सबसे पहले निकले। प्रत्यक्षदर्शी इन्द्र के शब्दों में "दोनों ने खूब कसकर हाथ मिलाए। पिता जी ने कहा– मैं नहीं जानता था कि पंडित मोतीलाल नेहरू तुम ही हो। पंडित जी ने उत्तर दिया कि मैं भी अब तक नहीं समझता था कि महात्मा मुंशीराम और स्वामी श्रद्धानन्द तुम्हीं हो[77]।

इसके पश्चात् दोनों ने अपनी–अपनी राजनैतिक स्थितियों के लबादे उतार कर कालेज के दिनों को स्मरण करके बड़ी आत्मीयता से बातचीत की। स्वामी जी से सहयोग का आश्वासन पाकर पं0 मोतीलाल तहकीकात के लिये लाहौर चले गए। इस तहकीकात में स्वामी जी ने पूरा–पूरा सहयोग दिया। घटना से संबंधित गुप्त कागज–पत्र और चित्रों को तहकीकात कमेटी तक पहुंचाने का कार्य स्वामी जी ने किया। इसके अतिरिक्त जहां से साक्षियां मिलनी कठिन होती थीं, वहां स्वामी जी के पहुंचते ही लोग निर्भय होकर साक्ष्य के लिये तैयार हो जाते थे।

सत्याग्रह के संबंध में गांधी जी से मतभेद और त्यागपत्र

सत्याग्रह में नवचेतना फूंकने वाले, सन्यासी होते हुये भी स्वाभिमानी और अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने वाले स्वामी श्रद्धानन्द का सत्याग्रह की नीति को लेकर शीघ्र ही मतभेद हो गया। मतभेद के प्रमुख कारण गांधी जी की कार्य शैली और चिन्तन से संबंधित थे।[1] गांधी जी ने सत्याग्रह को वापिस लेते समय जो घोषणा पत्र प्रसारित किया था, उसमें फौज और पुलिस द्वारा शान्त नागरिकों को मारे जाने का उत्तरदायित्व सत्याग्रहियों के कन्धों पर ही डाला गया था। दिल्ली के लोगों द्वारा इसका प्रतिवाद किये जाने का गांधी जी पर कोई असर नहीं हुआ। एक प्रकार से उत्तरदायित्व अप्रत्यक्ष रूप से सीधा स्वामी श्रद्धानन्द पर आता था। क्योंकि वे ही दिल्ली सत्याग्रह के अग्रणी नेता थे।[2] इसी प्रकार जब लाला शंकरलाल पर यह झूठा आरोप लगा कर कि उन्होंने सी.आई.डी. के इन्सपेक्टर फकीर मुहम्मद को पीटा, गिरफ्तार कर लिया गया, तो महात्मा गांधी ने शंकर लाल को तार भेजकर कहा कि वे अपना कोई बचाव न करें और सच्चे बयान दें। स्वामी जी ने इसका प्रतिवाद करते हुये गांधी जी को लिखा कि वे तथ्य को जाने बिना हस्तक्षेप न करें।

[3]हर डाक से महात्मा गांधी द्वारा ऐसे पोस्टर आते थे, जिनमें यह निर्देश होता था कि यदि कोई सत्याग्रही पुलिस द्वारा वांछित है, तो वह अपने आपको गिरफ्तार करा दे। स्वामी जी ने इस प्रकार के सभी पोस्टरों को जलाने का आदेश दे दिया और महात्मा गांधी द्वारा प्रेषित इन अनावश्यक हुक्मनामों के विरोध में स्थानीय सत्याग्रह समिति से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। इन सब कारणों का परिणाम यह हुआ कि स्वामी जी ने 2 मई को अपना त्याग पत्र सत्याग्रह समिति को दे दिया। यहां पाठकों की जानकारी के लिये त्याग पत्र उद्धृत किया जाता है, जिससे स्वामी जी के राजनैतिक चिन्तन को समझने में कोई भ्रान्ति नहीं रहे–

''सरकार द्वारा उठाये गए 'रौलट बिल' जैसे असाधारण कदम के सम्बन्ध में आप द्वारा प्रस्तावित सत्याग्रह का व्रत–लेने से पूर्व ही मैं न केवल अहिंसा और सत्य को दृढ़ता के साथ व्यवहार में लाने का उपदेश देता था, अपितु यम–नियमों में वर्णित अन्य सद्‌गुणों का भी उपदेश देता था। मैंने सदा ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया है और सोचता हूं यह सब सद्‌गुणों का मूल है। मेरा विचार रहा है कि केवल ब्रह्मचर्य पालन ही संसार के वर्तमान संघर्षो को रोक सकता है। मैंने सत्याग्रह की सफलता में ब्रह्मचर्य की शर्त को जोड़कर सत्याग्रहियों को इसकी सूचना समाचार पत्रों द्वारा दे दी।

आपको भली प्रकार मालूम है कि मैंने वर्तमान राजनीति में भाग लेने की कभी चाह नहीं की है। मैं मोन्टेग्यू–चैम्सफोर्ड की सुधार योजनाओं से बहुत ही कम सरोकार रखता हूं। मेरा विचार यह रहा है कि हजारों वर्षो से संसार की कूटनीति के सिरमौर होने के कारण शासकों (अंग्रेजों) के सामने गोलमेज कांफ्रेसों में भारतीय डटे नहीं रह सकते। मेरे विचार से राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग यह है कि हम अपने शासकों को स्वयं उन द्वारा सुधार योजना तैयार करने की गुंजायश दें।

परन्तु 'रौलट बिल' ने मानवीय स्वतन्त्रता और न्याय के प्राथमिक सिद्धान्तों के मूल पर ही कुठाराघात कर दिया। जिसे मैं भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के रूप में मानता हूं, ऐसे आप जैसे व्यक्ति द्वारा आह्वान हुआ, तो मैंने उस आह्वान को पूर्ण मन और आत्मा से माना। जब रौलट बिल का एक अंश कानून के रूप में पारित हो गया, तो आपका आदेश था कि एक दिन अपमान और प्रार्थना दिवस के रूप में मनाना है। सारे देश ने सर्वोच्च संकल्प के साथ आपके आदेश का पालन किया। इसके उपरान्त 30 मार्च, 1919 को दिल्ली में क्या घटित हुआ, सम्पूर्ण देश को विदित है।

तब दिल्ली की ओर आते हुये आपको पकड़ लिया गया और सारा देश बड़ी गहराई तक झकझोरा गया। सरकार के इस कुमन्त्रित कार्य का परिणाम सबको मालूम है।

अहमदाबाद, बीरमगांव, अमृतसर और कसूर आदि स्थानों पर भ्रमित और विकृत लोगों ने जो ज्यादतियां और अत्याचार किये, उनकी निन्दा करने में, मैं आपके साथ हूं। इसके अतिरिक्त मैं सार्वजनिक एवं अन्य भवनों, विशेष रूप से ईसाई चर्चो को, अमृतसर और गुजरानवाला में जलाये जाने के प्रति अपने घृणा के भाव प्रकट करता हूं। ईसाई धर्म के मानने वाले भारतीय ईसाई धर्मयाजकों को मारने और स्त्रियों पर अकारण असभ्य आक्रमण से बड़ा भारी सदमा पहुंचा है। मैं आशा करता हूं कि अमृतसर तथा अन्य स्थानों के हिन्दू–मुसलमान चर्चो के पुनर्निर्माण में सहायता एवं मृत यूरोपीय एवं भारतीय परिवारों के साथ वास्तविक सहानुभूति प्रदर्शित करेंगे।

लेकिन मैं सरकारी अधिकारियों द्वारा दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर जानबूझ कर जनता को चिढ़ाने के सम्बन्ध में तथा कानून के नाम पर पंजाब में किये गये वीभत्स कार्यो के प्रति आपकी चुप्पी का साथ नहीं दे सकता। यदि मैं जनता की ज्यादतियों और सरकारी अधिकारियों के अत्याचार पूर्ण कार्यो के प्रति अपनी आवाज नहीं उठा सका, तो इसका कारण पंजाब सरकार के अनुरोध पर दिल्ली से भेजे जाने वाले तारों एवं पत्रों पर मतभेद रहित सार्वजनिक सेन्सरशिप लगाकर प्रैस का गला घोटना ही था।

यह पत्र लिखते समय भी मेरे मन में आपके व्यक्तित्व एवं आपके सन्तीय चरित्र के प्रति सर्वोच्च सम्मान है। अतः किन्हीं महत्त्वपूर्ण विषयों पर आपसे मतभेद होने पर दुःख होता है। यदि मैं आपसे कर्तव्यनिष्ठता के कारण मतभेद रखता हूं, तो उनको न कहना और परिणामों को न जानने का अर्थ अपने साथ बेईमानी करना है।

आपने कानूनों की अवज्ञा करने के आन्दोलन को, यह कहकर कि देश में संकट उत्पन्न हो गया है और यह परिस्थिति के अनुकूल नहीं रहा, इसे अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया है। आप आशा रखते हैं कि जब देश में शान्ति स्थापित हो जाएगी और लोग सामान्य रूप में सत्याग्रह के सत्य सिद्धान्तों को पूर्ण रूप में हृदयंगम कर लेंगे, तो इसे पुनः आरम्भ किया जाएगा। अब, मैं यह मानता हूं कि जब तक इस प्रकार की सरकार रहेगी तब तक देश में शान्ति स्थापित होने की कोई सम्भावना नहीं है और न ही सामान्य लोग आपके सत्याग्रह के सत्य सिद्धान्त को हृदयंगम करेंगें। केवल कागज पर हस्ताक्षर करने से ऐसा नहीं हो सकता। मेरा यह मानना है कि भारत में वर्तमान परिस्थितियों में महापरिवर्तन लाये बिना अवज्ञा आन्दोलन असम्भव है। अतः आपके विचारों के अनुरूप ही यह विचार रखता हूं कि रौलट एक्ट से भिन्न अवज्ञा आन्दोलन के अनुकूल अवसर निकट भविष्य में आना सम्भव नहीं है। मेरा यह भी दृढ़ मत है कि जब भारत में वास्तविक शान्ति आएगी, तब तक रौलट एक्ट का मुद्दा काफूर होगा और फिर कोई अवसर इस मुद्दे को लेकर अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का नहीं आएगा। फलतः आप द्वारा निर्धारित सत्याग्रह के प्रतिज्ञा–पत्र पर हस्ताक्षर करने का वास्तविक कारण ही समाप्त हो गया है। मैं आप द्वारा गठित सत्याग्रह समिति से अपना नाम वापिस लेने की प्रार्थना करता हूं। एक संन्यासी के नाते, मैं धर्म के, सत्य, अहिंसा एवं ब्रह्मचर्य के शाश्वत सिद्धान्तों के प्रचार और प्रयोग के लिये निरन्तर प्रयास करता रहूंगा।

व्यक्तिगत रूप में मेरी धारणा पारित रोलट एक्ट एवं प्रस्तावित रोलट एक्ट के सम्बन्ध में अपरिवर्तनीय रहेगी। मैं सोचता हूं कि एक संन्यासी के नाते यह मेरा धार्मिक कर्त्तव्य है कि इस प्रकार के कानून द्वारा पारित आदेशों के प्रभावी होने पर उनको न मानूं। मैं इन कानूनों की रोक के लिये

आध्यात्मिक साधना भी करूंगा। लेकिन धर्म प्रचार के कार्य में लगने पर भी देशवासियों के लिए मेरी सेवाएं सदा निम्न रचनात्मक कार्यो के लिए समर्पित रहेंगी–

(1) भारत की एकता– इसके लिये हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख इत्यादि को एक सामान्य मंच पर लाकर संयुक्त पंचायतों द्वारा उनके मतभेदों को दूर करना।

(2) स्वदेश की वस्तुओं को लोकप्रिय बनाना।

(3) हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापित करना।

(4) वर्तमान सरकारी विश्वविद्यालयों से हटकर एक स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा नीति का विकास करना।

स्वामी जी के सत्याग्रह समिति से त्याग–पत्र सम्बन्धी पत्र का उत्तर महात्मा गांधी ने 6 मई, 1919 को देते हुए लिखा–

भाई साहब,

आपका खत मुझे मिला है, पढ़कर मैं बहुत दुःखित हुआ हूं। मैं कैसा भी करूं, मेरी भूल हो जाये तो भी आप अपना प्रण क्यों छोड़ सकते हैं। यदि लोग सत्य, अहिंसा का पालन करने के लिये तैयार न हो जायेंगे तो हम सार्वजनिक सत्याग्रह छोड़ सकते हैं, किन्तु हम सब क्यों छोड सकते हैं? मैं नहीं जानता हूं कि आपको सब पत्रिका मिल चुकी है या नहीं। एक पत्रिका जिसमें लड़ते (आन्दोलन) किस तरह फिर शुरु हो सकती है उस बारे लिखा गया है। जब तक रौलट कायदे रद्द नहीं हुये हैं तब तक हम शान्ति नहीं रख सकते ऐसा मेरा दृढ़ मन्तव्य है।

दिल्ली में मिलिटरी ने भूल की ऐसा मैंने आपके खत से जान लिया और आपको मालूम है, मेरे व्याख्यानों में इस विषय में मैंने सख्त टीका की थी। पंजाब के बारे में अब तक भी मुझे मालूम नहीं कि मुख्य दोष किसका है। पंजाब के बारे में मैंने कुछ भी नहीं कहा। अहमदाबाद और वीरमगाम में पोलिस का कोई दोष नहीं था। केवल स्वच्छन्दता ही से लोगों ने बड़ा भारी अत्याचार किया था। प्रजा के साथ–साथ काम करते हुए प्रजा को सीधा रास्ता बताना आपका और मेरा धर्म है, ऐसी मेरी अल्पमति है। मेरी उम्मीद है कि आप प्रतिज्ञा का ठीक–ठीक पालन करेंगे।

आपका

मोहन दास गांधी

महात्मा गांधी का उपर्युक्त पत्र मिलते ही स्वामी जी ने उन्हें 9 मई, 1919, को उत्तर देते हुए अपने पूर्व निश्चय की दृढ़ता के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा–

श्री महात्मा गांधी जी,

आपका 6 मई का पत्र मुझे मिला, उसमें मेरे पत्र का पूरा उत्तर नहीं आया। आपने अपनी नई पत्रिका पढ़ने के लिये मुझे लिखा है। 8 मई के इन्डेपेन्डेन्ट (समाचार पत्र) में मैंने आपके दो लेख पढ़े। आप जुलाई के प्रारम्भ से फिर कानून भंग का कार्य आरम्भ करने को लिखते हैं। मेरी सम्मति में इन दो मास के अन्दर सारी जनता में सत्याग्रह के भाव नहीं फैलाये जा सकेंगे और जब तक गवर्नमैन्ट का इस समय का बर्ताव जारी रहेगा तब तक कभी भी ऐसे उच्च भाव जनता में फैल नहीं सकेंगे। आपको भी इसमें सन्देह है और इसीलिए आप लिखते हैं कि यदि ऐसा न हुआ तो भी सरकार इतनी फौजें लगा देगी कि लोग वायलेन्स (हिंसा) न कर सकेंगे। इस लेख ने इधर के

सब सत्याग्रहियों में असन्तोष फैला दिया है। मेरा निश्चय है कि ऐसी बेइज्जती को सहन करना सत्याग्रह नहीं, किन्तु सरल जनता को फौजियों के हवाले करना रूपी पाप है। शोक यह है कि जिन सहस्रों आदमियों ने आप में श्रद्धा के भाव से प्रेरित होकर सांसारिक और अपने भविष्य की परवाह न करके सांसारिक सब कुछ छोड़ा, उनसे कुछ भी सम्मति न लेकर आप एकदम घोषणा पत्र छपवा देते हैं।

रौलट एक्ट के विरुद्ध मेरा वैयक्तिक सत्याग्रह जारी रहेगा, परन्तु पहले पत्र में जो कुछ मैंने लिखा है उस पर 6 मई वाले इन्डेपेन्डेन्ट के लेख को पढ़कर मेरा निश्चय और दृढ़ हो गया है।

आपका

श्रद्धानन्द

उपर्युक्त पत्र–व्यवहार की परिणति यही निकली कि स्वामी जी ने सत्याग्रह समिति से नाता तोड़कर अपने आपको कांग्रेस से विलग कर लिया। स्वामी जी के सत्याग्रह समिति से पृथक होने पर मिश्रित प्रतिक्रियाएं हुई। पंजाब के शासन द्वारा की गई ज्यादतियों के सम्बन्ध में जांच के लिये सरकार की ओर से भी हन्टर की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई थी। लार्ड हन्टर ने स्वामी जी के सन्दर्भ को लेकर महात्मा गांधी से पूछा कि क्या आपके लैफ्टिनेन्ट स्वामी श्रद्धानन्द ने आपके सत्याग्रह को दूषित समझ कर आपसे सम्बन्ध तोड़ लिया है। महात्मा जी ने उत्तर देते हुए कहा– कि लैफ्टिनैन्ट न कहिये, मेरे सहयोगी कहिये। स्वामी जी ने मेरे सत्याग्रह को दूषित नहीं समझा था। प्रत्युत वे मुझ से कुछ आगे जाना चाहते थे और मैं उनके साथ आगे नहीं बढ़ सकता था[२८]।

अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष

पं0 मोती लाल नेहरु जब पंजाब में मार्शल लॉ की गैर सरकारी समिति के अध्यक्ष बनकर लाहौर आए थे, तो उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन के लिए उपयुक्त नगर के सम्बन्ध में स्वामी जी से राय मांगी थी। स्वामी जी ने कांग्रेस का अगला अधिवेशन अमृतसर में करने का आग्रह किया, क्योंकि स्वामी जी की विचारधारा में ऐसा करने से पंजाब के लोगों की हिम्मत और इच्छा शक्ति को प्रबल बनाये रखा जा सकता था। इसके लिये उन्होंने कांग्रेस प्रधान को विधिवत् निवेदन पत्र भी भेज दिया। 8 जून, 1919 को इलाहाबाद में कांग्रेस कार्यकारिणी में इस पर विचार होना था। स्वामी जी अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिये वहां गए। तत्कालीन प्रधान मदनमोहन मालवीय किसी अन्य प्रान्त में कांग्रेस अधिवेशन करने के इच्छुक थे। स्वामी जी ने कार्यकारिणी के सदस्यों को लाहौर के पक्ष में मना लिया लेकिन प्रधान को मनाना कठिन हो गया। स्वामी जी ने एन्ड्रूज को भेजकर मदनमोहन मालवीय को मनाना चाहा फिर भी उनकी गर्दन नहीं मुड़ी। अन्त में अनेक प्रयासों के पश्चात् मालवीय जी इस शर्त पर अमृतसर में अधिवेशन करने के लिये सहमत हुए कि दूसरे प्रान्तों और नेताओं से किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता की अपेक्षा नहीं करनी होगी[२९]। स्वामी जी बड़े उत्साह से अमृतसर आये और अधिवेशन की तैयारी के लिए नागरिकों की स्वागत समिति का गठन किया। इस समिति के मन्त्रियों और उपाध्यक्षों का चयन भी हो गया किन्तु बहादुर पंजाब में किसी को भी समिति का अध्यक्ष बनने के लिये राजी नहीं किया जा सका। आखिरकार कांग्रेस के नेताओं और महिलाओं के आग्रह करने पर स्वागत समिति का प्रधान का पद स्वामी जी को ही सम्भालना पड़ा। स्वामी जी ने स्वागताध्यक्ष बनने की स्वीकृति देने से पूर्व गांधी जी की सम्मति प्राप्त करना उचित समझ कर उन्हें पत्र लिखा। कारण यह था कि अनेक प्रमुख हिन्दू और आर्य समाजी स्वामी जी को राजनीति के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर संन्यास की अवमानना करने से विरत करना चाहते थे। गांधी जी ने इसका उत्तर इस प्रकार लिखा–

तिथि भाद्रपद शुक्ला 10, 1975 वि0,

साबरमती।

भाई साहब, मुझे आपका पत्र मिला। मेरा विश्वास है कि जब तक हम धार्मिक उद्देश्य को लेकर राजनीति के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं होते, तब तक हम भारत के पवित्र और सच्चे उत्थान के कार्य में सफल नहीं हो सकते। यदि आप स्वागत समिति के अध्यक्ष बनते हैं तो आप कांग्रेस में धार्मिक भावनायें प्रविष्ट करा पायेंगे। इसलिए आपको स्वागत–समिति का अध्यक्ष पद स्वीकार कर लेना चाहिए। यही राय मैं आपको दे सकता हूं।

आपका

मोहन दास गांधी

स्वामी जी ने ऊँच–नीच और आगा–पीछा देखकर स्वागताध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया। स्वामी जी के स्वागताध्यक्ष बनने पर मद्रास से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दू' समाचार पत्र ने 10 अक्टूबर, 1919 के अंक में सम्पादकीय टिप्पणी लिखते हुए निम्न उद्गार व्यक्त किए–

"पंजाबी जोश शाश्वत और अजेय है। उसकी आहत भावनाओं में (जलियां वाला बाग काण्ड) जीवन ज्योति जलाने, वीरता की अग्नि को प्रज्वलित रखने, आशा के प्रकाश–स्तम्भ को पुनः स्थापित करने और पंजाब के राजनैतिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिये उन्होंने एक नेता की खोज कर ली है और वह है स्वामी श्रद्धानन्द। जिन्होंने भारत माता की वेदी और सत्य पर अपना जीवन न्यौछावर किया हुआ है। यह बात उस रीति–नीति से सुस्पष्ट है जो उन्होंने वेद की शिक्षाओं पर दृढ़ रहने और उनका अनुसरण करने में दर्शायी है।

वेद ही उनका प्रकाश–स्तम्भ और मार्गदर्शक है, जिन्होंने एक बार भारत को सब देशों का सिरमौर बनाया था और जिस काल को हम हर्ष और गर्व के साथ याद करते हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी सच्चाई, साहस और स्वतन्त्र निर्णय शक्ति के प्रतीक हैं। वे बात बनाने वाले नहीं, अपितु काम करने वाले कार्यकर्ता हैं। पब्लिक प्लेटफार्म से भाषण देने, बढ़िया राजनैतिक भाषण देने या प्रकाशित हुई सम्मतियों से ही वे सन्तुष्ट नहीं रहते।

शिक्षा के क्षेत्र में उनका गुरुकुल (कांगड़ी) उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति का जीता–जागता सबूत है। जिसकी स्थापना और संचालन पर उन्होंने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया।"

स्वागत समिति की प्रथम बैठक में स्वामी जी को प्रधान पद की कठिनाईयों का आभास हुआ। ये कंठिनाईयां भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार की थी। भीतरी कठिनाईयों में से एक कठिनाई यह थी, स्वागत समिति के कुछ सदस्यों ने स्वामी जी के काम में बाधा डालने का प्रयास किया। बाहरी कठिनाई– सरकारी हस्तक्षेप का भय था। कांग्रेस स्थल के लिए किसी उपयुक्त स्थान का चुनाव करना सबसे कठिन कार्य था। स्वामी जी की दूरदृष्टि नगर ने एक मील दूर कृषि की भूमि किराये पर लेकर इस समस्या का समाधान कर लिया। अभी स्वामी जी को अकल्पित प्राकृतिक आपदा से भी जूझना शेष था। स्वामी जी के परिश्रम से जब विशाल पण्डाल और प्रतिनिधियों के ठहरने की व्यवस्था पूर्ण हो गई तो अचानक 24 दिसम्बर को ऐसी वर्षा हुई जैसी पिछले चालीस वर्षों में कभी नहीं हुई थी। प्रतिनिधियों के ठहरने हेतु लगाई गई छोलदारियां पानी में तैरने लगीं और सभा पण्डाल तालाब के समान हो गया। परन्तु विपरीत परिस्थितियों में निढाल होना स्वामी जी के स्वभाव में नहीं था। स्वामी जी की एक अपील पर नगरवासियों ने प्रतिनिधियों के लिये अपने घरों

में स्थान दे दिया। पण्डाल के लिये स्वामी जी ने रेलवे अधिकारियों के सहयोग से राख मांग ली। इस प्रकार इस प्राकृतिक विपदा से उद्धार हुआ।

26 दिसम्बर को अधिवेशन आरम्भ होने पर स्वामी जी ने जो स्वागत भाषण दिया वह इस प्रकार था–

"ओउम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

अथाते सुम्नीमहे(३०)।।

हे, सारी सृष्टि के आधार! तुम्हीं हमारे रक्षक हो– तुम्हीं हमें मान दिलाने वाले हो। इसलिए हम सब तुम्हें इस पवित्र यज्ञ में आह्वान करते हैं। हे शासकों के परम शासक और जातियों के परम सहायक! तुम आज इस जातीय भवन में अपने दृढ़ न्याय, असीम प्रेम का प्रसार करो जिससे प्रवाहित होकर सब बहिनें और भाई, चेतन और अचेतन– दोनों प्रकार के जगत् के डर से मुक्त हो कर, न्याय और प्रेम की आहुतियों से इस जातीय यज्ञ को पूर्ण करें।

भारत माता की पुत्रियों और पुत्रों!

स्वागतकारिणी सभा अमृतसर की ओर से मैं आप सबका हार्दिक स्वागत करता हूं। जिन्होंने दिल्ली नगर में पहुंचकर इस जातीय महासभा के रत्नों को निमन्त्रित किया था, जिन्होंने आप सबके स्वागत के लिए देहली से लौटते ही अमली काम शुरू कर दिया, जो मातृ–भक्ति के प्रेम–मद से उन्मत्त होकर दिन रात जातीय सेवा की मस्ती में झूमते फिरते थे, जिन्होंने गंगा और यमुना के संगम की बुनियाद गत रामनवमी के दिन रखकर सिख गुरुओं से पवित्र किए हुए इस नगर को सचमुच अमृत–सरोवर बना दिया था– उनको भयभीत स्वार्थ तथा अन्याय की शक्तियों ने गत 10 अप्रैल को गुम कर दिया। अपने नेताओं का बिछोड़ा एक ओर, और जिस देवता की पूजा के लिए सत्याग्रह का मानसिक व्रत धारण किया था, उसकी गिरफ्तारी दूसरी ओर–इन दोनों घटनाओं ने अमृतसर की व्याकुल जनता को अन्धा कर दिया। प्रजा अपनी पैत्रिक प्रथा के अनुसार सिर और पैर से नंगी, अपनी मां–बाप हाकिम के पास, फरियाद को दौड़ी। परन्तु हाकिम को उसके अन्दर का भय कंपा रहा था। वह मानता है कि उसने पहले से ही फौज इकट्ठी कर रखी थी और उसको हुक्म दे दिया था कि यदि भूलकर, उसे मां–बाप समझने वाली, प्रजा उसके मन्दिर की ओर चलने का यत्न करे तो, जैसे भी हो सके, उसे आगे बढ़ने से रोका जाए। भोली निहत्थी प्रजा ने रूठे हुए बालक की तरह मारपीट कर आगे बढ़ने का यत्न किया और प्रजा के प्रति सम्राट जार्ज पंचम के प्रतिनिधियों ने उसकी प्रजा को गोलियों से भून डाला। अपने निरपराधी सम्बन्धियों को घायल होते हुए और उनमें से बहुतों को रणभूमि में बेजान पड़े हुए देखकर, जनता में आसुरी भाव का विकास हुआ। जिस लाडले मान के भाव से प्रेरित होकर चले थे, उसका उल्टा परिणाम देखकर भी जिन वीरों के हृदय नहीं डोले और जो फिर भी एक ओर मृत् शरीरों और घायलों को उठाते हुए, दूसरी ओर जनता से काम लेने की प्रेरणा करते रहे, उन पर अब तक सत्यपरायण देवताओं के मानसिक भावों की पुष्प–वर्षा हो रही है। परन्तु साधारण पुरुष क्रोधाग्नि में दग्ध होकर बुद्धिहीन हो गए। उस तामसी अवस्था में जो पिशाचत्व के काम कुछ भारत के कुपुत्रों से हुए वह जाति के उज्ज्वल मुख पर एक बदनुमा ध ब्बा है और उसी के लिए सारे पंजाब को प्रायश्चित करना पड़ा है। यदि गंगा और यमुना के संगम के साथ सरस्वती भी उनमें आ मिलती तो पूर्ण पवित्र प्रयाग बन जाता, और हिन्दू, मुसलमान और ईसाई जन समाजों के मेल से भारत से दुई दूर होकर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुंच, संसार में सचमुच एक चक्रवर्ती राज्य की बुनियाद डाल देती। परन्तु जहां स्वार्थ का चारों ओर राज्य है, वहां इस गिरे हुए समय में निःस्वार्थ क्षमता का प्रकाश कैसे होता! नियम के नाम पर विप्लव और

शान्ति के नाम पर अत्याचार का राज्य फैल गया। मार्शल–ला ने – नर, नारी, बाल, वृद्ध और युवा सबको बेजान कर दिया। वैशाख की पवित्र संक्रान्ति के दिन जो रक्त से भूमि लाल हुई उसके श्रवण मात्र से सबके छक्के छूट गए। हां, उस दिन मार्शल–लॉ की विजय हुई और शान्ति फैल गई, परन्तु वह शमशान–भूमि और कब्रिस्तान की शान्ति थी–वह मौत की शान्ति थी।

इस शान्ति का निष्कण्टक राज उस समय तक बराबर रहा जब 29 जून सन् 1919 की दोपहर के समय मैंने, भारत के दो प्रसिद्ध नेताओं और पंजाब के अपनाए हुए संरक्षकों के साथ, अमृत नाम्नी–परन्तु विष से मूर्छित–नगरी में प्रवेश किया मेरा मतलब पूज्य मालवीय जी तथा माननीय पं० मोती लाल नेहरु जी से है।

जिस दिन से इन दोनों वीरों ने जलियांवाला बाग नामी पवित्र तीर्थ की प्रदक्षिणा करके धैर्य और निर्भयता का अमर मंत्र फूंकना शुरु किया, उसी दिन से अमृतसर में जीवन का संचार हो चला और इस जागृति का पहला परिणाम यह हुआ कि मूर्छा से जागते ही जनता ने अपने नेताओं की प्रतिज्ञा को याद करके कहना आरम्भ किया कि कांग्रेस का आगामी अधिवेशन अमृतसर में ही होना चाहिए। किस प्रकार यह शब्द सारे शहर में गूंज उठा, किस प्रकार इस आवाज की गूँज दबाने की कोशिश हुई किस प्रकार 'दिन–दिन चढ़े सवाया गूढ़ा रंग' की उक्ति के अनुसार जनता की दृढ़ता को कामयाबी हुई, इस पर कुछ भी कहने की जरूरत नहीं। 'जिन ढूँढा तिन पाइया' अमृतसर की जनता की मुराद आज पूरी हुई और मुझे भारत की पूज्या देवियों और माताओं पर न्यौछावर होने वाले पुत्रों का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस जातीय महासभा के इतिहास में शायद यह पहला ही अवसर है जब संन्यासी शानदार वेदी पर खड़ा दिखाई देता है। जिस दिन से स्वागतकारिणी सभा का सभापति चुना गया, उसी दिन से यह प्रश्न हो रहा है कि– 'क्या संन्यासी को राजनैतिक आंदोलन में भाग लेना चाहिए?' मेरा उत्तर बहुत सीधा है। जिस दिन से मैंने संन्यासाश्रम में प्रवेश किया उसी दिन से सारे संसार को एक परिवार समझने, सारे संसार के धन को एक आंख से देखने और लोक लज्जा को छोड़कर लोक सेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया। मैं राजनैतिक आंदोलन के लिए नहीं प्रत्युत किसी और कर्त्तव्य के पालन के लिए आज इस वेदी पर खड़ा हूं। पहला कारण मेरे इस वेदी पर आने का यह है कि पंजाब के जिन रत्नों ने भारत माता के उज्ज्वल माथे को दाग से बचाने के लिए फांसी और जन्म कैद को तुच्छ समझा और निरपराध होते हुए रहम की दर्खास्त को पाप समझकर कैदखाने को काशी और काबे का रुतबा दिलाया– हरिकिशन लाल, दूनीचंद, रामभज दत्त, किचलू, सत्यपाल– उन्होंने भरी सभा से मुझे आज्ञा भेजी कि मैं स्वागतकारिणी का सभापति बनूं। फिर मैंने जेल के खूनी पिंजरों में श्रद्धा सम्पन्न चौधरी बुग्गा और वीर महाशय रत्तो–से सिंह–पुरुषों के मुख से भी यही ध्वनि सुनी। परन्तु जब इनमें से कुछ धर्मवीरों की धर्मपत्नियों ने कहा– 'बंदीगृह में गिरे हुए हमारे पति महाशयों की आत्मा तभी शान्त होगी जब कांग्रेस का महोत्सव न ढले, और भिक्षु संन्यासी से उल्टी भिक्षा मांगी तो उसे मातृ शक्ति के आगे सिर झुकाना पड़ा।

यह पहला कारण मेरे इस वेदी पर आने का है। दूसरा कारण मेरा आश्रम और उसका कर्त्तव्य है। सनातन वैदिक धर्म की रक्षा के लिए जो सम्प्रदाय (सनातन धर्म समाज, आर्य समाज और सभा समाजें) भारतवर्ष में स्थापित है, उनका प्रश्न है कि संन्यासी का राजनीति से क्या सम्बन्ध ? मेरा उत्तर 'वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ बरसों की उम्र तक जीने की आशा कर्म करते हुए ही करूं, परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मों में फंसू नहीं।

कवि तुलसीदास ने सच कहा है– **'करमप्रधान विश्व करि राखा'**- प्रत्येक को अपना धर्म

पालन करना है। आज तक यह 'भारत जातीय महासभा' साधारण पोलिटिकल काम करती रही है, परन्तु आज इसे धर्म के शिखर पर उठाना पड़ेगा, और उसके साथ ही हे, बहिनों और भाइयों! हम सबको भी अपनी दृष्टि ऊँची करनी पड़ेगी। पंजाब का तप सहस्र मुख से यही उपदेश दे रहा है कि मानवी मूल अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े गंभीर तप की आवश्यकता है।

अब नीतियों और राजीनामों और सौदा–सुलुफ का जमाना नहीं रहा; अब निर्भयता से सत्य पर दृढ़ होने का समय आ गया है। संन्यासी की सम्प्रदायों से–चाहे वे धार्मिक हों या राजनैतिक–क्या काम? उसने तो सारे संसार की सेवा का बीड़ा उठाया है– उसका किसी सम्प्रदाय के साथ क्या सम्बन्ध! शायद इसी विचार से प्रेरित होकर मेरे हस्बेहाल फारसी कवि ने कहा है– 'न हिन्दू अम् न मुसलमान न गब्रियम न यहूद'

मैं न 'हिन्दू' हूं न 'मुसलमां', न 'ईसाई' हूं और न 'यहूदी'। मैं न 'मॉडरेट' हूं, न 'एक्स्ट्रीमिस्ट', न 'होमरूलर' हूं और न किसी विशेष पक्ष का समर्थक हूं। लेकिन, शायर के दूसरे मिसरे के साथ मैं सहमत नहीं। मैं नहीं कहता कि– 'बहैरतम् कि संरजामे माचिरखाहद बूद'।

मैं विस्मित नहीं हूं कि मेरा अन्त क्या होगा। मेरा आनन्द श्रद्धा में है और इसलिए मैं जानता हूं कि भारत माता की सन्तान के साथ मेरा भविष्य भी उत्तम ही होगा।

एक राजनैतिक बुद्धिमान् ने मुझे सम्मति दी है कि मैं रिलीजस और सोशल कामों में लगा रहूं और पोलिटिकल कामों में दखल न दूं। उनके लिए मेरा उत्तर यह है कि जिस समय पंजाब की भूमि में आते हुए 'परिन्दों के भी पर जलते' थे, उस समय संन्यासी ने अपना कर्त्तव्य समझा कि यहां की मुरझाई हुई वाटिका को प्रेम जल से सींचने के काम में आपके राजनैतिक नेताओं के कन्धे से कन्धा जोड़ दे। परन्तु आज जब देश के रत्नों ने एक स्वर से पंजाब को अपना लिया है, तब मैं जाति के अमीनों को उनकी अमानत सौंपकर अपने–आपको कृतकृत्य समझता हूं।

बहिनो और भाइयों! मैं पंजाब की ओर से साधारणतया और अमृतसर की प्रजा की ओर से विशेषतः आप सब का स्वागत करता हूं। मैं जानता हूँ कि आपकी सेवा हम यथार्थ रूप से नहीं कर सकते। इस नगर को धनहीन, सम्पत्तिहीन, बलहीन और उत्साहहीन बनाने में मार्शल लॉ ने कुछ कसर नहीं छोड़ी। परन्तु एक भाव है जिसे मार्शल लॉ का भयानक अत्याचार भी दबा नहीं सका। वह है मातृभूमि का प्रेम और माता की सन्तान के साथ सच्चा अनुराग और वही भाव मैं आपको भेंट करता हूँ। इस भाव में ऐसी वृद्धि हुई है कि यदि हम उसके लिए मार्शल लॉ के संचालक श्रीमान् सरमाईकल ओडवायर और उनके हाथ के दोनों हथियारों– अर्थात् जनरल डायर और कर्नल फ्रेंक जानसन का हार्दिक धन्यवाद करें तो अनुचित नहीं है और शायद कुछ व्यक्तियों ने इसी भाव को लक्ष्य में रखकर कर्नल फ्रेंक जानसन के सामने 'मार्शल लॉ की जय' गुंजाई हो। निष्कपट कर्नल फ्रेंक और मातृप्रेम के रंग में प्रजा को रंग देने वाले जनरल डायर ने जो मार्शल लॉ की घुट्टियाँ पंजाब को पिलाई हैं उनसे पंजाब का जातीय जीवन पचास वर्षो के लिए मर तो क्या जाता उल्टा आधी शताब्दी का उल्लंघन करके आज पंजाब अपने आगे बढ़े हुए बंगाली, मराठी, गुजराती, मद्रासी भाईयों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाने को तैयार है। जिस पंजाब प्रांत में राष्ट्रीयता और उसके अधिकारों की चर्चा पढ़े लिखों में से भी केवल मुट्ठी भर आदमियों में रह गई थी वहां आजकल गुमनाम से गुमनाम ग्राम में भी जातीय महासभा के उद्देश्य और उसकी शक्ति को केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियां भी कुछ–कुछ समझने लग गई हैं। गत् 15 दिनों के अन्तर्गत मेरे पास ग्रामों से जो पत्र आए हैं और 24 जून, 1919 ईस्वी से अब तक जिन ग्रामीण बहनों और भाईयों से मेरी भेंट हुई है उनकी काया पलट देखकर मुझे विश्वास हो गया कि जाति में अब पूरी जागृति हो गई है।

इस समय जाति रूपी वीणा की सम्प्रदाय रूपी विविध तारें एक दूसरे से मिली हुई हैं और उनमें से एक ही स्वर निकल रहा है। इन स्वरों की एकता की बधाई में क्या पोलिटिकल पार्टी बाजी के बेसुरे आलाप को न्यौछावर नहीं कर देना चाहिए? मॉडरेट, लिबरल्ज और एक्सट्रीमिस्ट रेडिकल्ज, महाराष्ट्र होम रूलर्ज और अडियार होम रूलर्ज तथा इनकी शाखाएं–प्रतिशाखाएं, एक ही लक्ष्य को सामने रखकर काम करने की दावेदार हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य मातृभूमि को स्वतंत्र करना और संसार के अन्तर्जातीय संगठन में उसे माननीय बनाना बतलाया जाता है तब एक दूसरे से इतनी घृणा क्यों? अपनी कमजोरी मनुष्य स्वयं नहीं देख सकता और जब दो पक्ष प्रत्यक्ष में स्थापित हो कर विवाद आरम्भ हो जाए तब तो विचारों का पक्षपात स्वाभाविक है, परन्तु तीसरा निष्पक्ष दर्शक दोनों की कमजोरी को ठीक बतला सकता है। सच्चाई के प्रकट करने में क्षमा प्रार्थना की आवश्यकता नहीं और इसलिए मैं अपनी सम्मति स्पष्ट कह देता हूं।

इस समय के मतभेद का कारण भारत सचिव मिस्टर माण्टेगू की पेश की हुई सुधार–स्कीम समझी जाती है। नरम दल के महानुभाव कहते थे कि इसे स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाओ तो हम तुम सबके साथ शामिल होंगे। तब प्रश्न होता कि क्या आप इतने ही संशोधन से सन्तुष्ट हैं? उत्तर मिलता था कि नहीं, परन्तु जितना मिले उसे स्वीकार करके और लेने के लिए हाथ फैलाना और बात है और मिले हुए को सर्वथा अस्वीकार करना और बात है। नरम दल की दृष्टि से यह उत्तर ठीक था, परन्तु अब गरम दल भी तो यही कहने लग गया है। अब तिलक महाराज भी तो यही कहते हैं कि जितना मिलता है उसे ग्रहण करो और शेष के लिए आन्दोलन जारी रखो। फिर मतभेद क्यों? उत्तर दोनों ओर से एक सा ही मिलता है। नरम कहते हैं– 'हम अपनी सम्मति से नहीं डिगे, गरमों ने अपनी सम्मति बदल दी है– वे हमारे समीप पहुँच गए हैं और इसलिए हमारी जीत स्वीकार करो'। गरम कहते हैं– 'नरम तो बिना ननुनच के सब–कुछ स्वीकार करने को तैयार थे, अब वे हमारी ओर उठे हैं, इसलिए उन्हें हार स्वीकार करनी चाहिए!' एक दूसरे की दलीलें समाचार पत्रों में निकल चुकी है, उनको दोहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं। बात सीधी यह है कि दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार नहीं है। दोनों ही अपने स्थान में डटे खड़े हैं। नरम कहते हैं कि भारत–सचिव हमारी बुद्धिमत्ता पर मोहित हुए और हमारी माकूल महदूद तजवीजों से सहमत होकर उन्होंने भारतवर्ष को कुछ अच्छे अधिकार दिए हैं। इसके उत्तर में गरम कह सकते हैं कि यदि हम पूरे स्वराज की एकदम याचना न करते तो देश को इतना भी न मिलता जो अब मिला है। वे पंजाबी की लोकोक्ति पेश कर सकते हैं कि 'मौत को पकड़ो तो जहम कबूल करता है।' परन्तु मिस्टर माण्टेगू एक तीसरी बात कह रहे हैं– 'हाउस ऑफ कामन्स' में सुधार–स्कीम पर वक्तृता करते हुए उन्होंने 4 दिसम्बर को मिस्टर स्पूर के उत्तर में कहा कि न तो कामन्स भारत की शासन–पद्धति को हिन्दुस्तानी आन्दोलन के कारण बदल रहे हैं और ना ही वह विश्वास करते हैं कि यह आन्दोलन आगे जारी रहेगा। उन्होंने यह भी कहा अर्थात् 'आन्दोलन से शक्ति के परिवर्तन में शीघ्रता न होगी प्रत्युत देरी हो सकती है।'

तीन दल हैं और तीनों की बात एक–दूसरे को काटती है। परन्तु अपने–अपने ख्याल में तीनों सच्चे हैं। नरम यदि सचिव माण्टेगू के प्रस्ताव का समर्थन करते तो उनके पास सुधार–स्कीम के विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देना कठिन हो जाता। परन्तु यह सच नहीं कि इस सुधार–स्कीम को एकदम से पास कराने के लिए 'कांग्रेस की एक शिकायत आज के अधिवेशन से पहले दूर करना' ही मिस्टर बानरला ने बतलाया था। मिस्टर माण्टेगू भी सच्चे हैं क्योंकि उन्होंने जो कुछ ब्रिटिश पार्लियामेंट से भारत को दिलवाया है उन्हीं के दृढ़ संकल्प का नतीजा है – भारत की नरम और गरम पार्टी तो उनकी शतरंजी चालों के मोहरे मात्र थे।

जब यह हाल है तो लड़ाई काहे की? पुराने पठानों की तरह दोनों मूंछों पर ताव दे रहे हैं और मातृभूमि के विरोधी उनकी खिल्ली उड़ा रहे हैं। यह घरू युद्ध कैसे दूर हो? सुधार–स्कीम अब विवादास्पद विषय नहीं रहा। नरमों का उसे स्वीकार करना और गरमों का उसे अस्वीकार करना–दोनों निरर्थक डींगें हैं। बुरी है वा भली पूर्ण है वा अपूर्ण–सुधार–स्कीम हम पर लागू हो चुकी है।

नरमों से तो इस पर कोई प्रश्न नहीं हो सकता, परन्तु मैं गरमों से पूछता हूं कि आपके अस्वीकार करने के अर्थ क्या हैं? क्या आप इस पास हुए कानून का सर्वथा बहिष्कार करने को तैयार हो? क्या आप यत्न न करोगे कि लेजिस्लेटिव काउंसिलों में आपके चुने हुए, आपका पक्ष समर्थन करने वाले प्रतिनिधि बैठें? यदि सारी जाति, एकसम्मत होकर, इन मिले हुए अधिकारों की उपेक्षा करने को तैयार होती है, तब तो अस्वीकार करने के कुछ अर्थ भी हो सकते। परन्तु इस समय तो यह असम्भव है। तब झगड़ा कैसे तै हो? झगड़ा तै हो गया है क्योंकि लोकमान्य तिलक महाराज ने व्यवस्था दे दी है कि "जो मिला है उसे ले लो और शेष के लिए व्यवस्थित आन्दोलन जारी रक्खो।"

भारत में राष्ट्रीयता के भाव के आदि संचारकों में से तिलक महाराज का ऊँचा दर्जा है। और कौन भारत का सपूत है जिसने बहादुर तिलक से बढ़कर माता की शान की रक्षा के लिए सहन किया है? क्या 'मातृ–सेवक–सेना' के सैनिक अपने बूढ़े सेनापति की व्यवस्था के आगे सिर न झुकाएंगे?

अब रास्ता साफ हो गया। नरम और गरम दोनों मिले अधिकारों को लेने में सहमत हैं। मतभेद इतना ही है कि इतना भी किसकी कृपा से मिला? मैं उस पक्ष की सेवा में, जिसके हाथों में इस समय कांग्रेस की बागडोर है, एक निवेदन करता हूं। आपकी शक्ति बड़ी है। बुद्धि और नीति का चाहे आपके कुछेक मॉडरेट लिबरल भाइयों ने ठेका ले रक्खा हो, लेकिन संस्था और बल में आपका पाया इस समय ऊँचा है। सामने शत्रु नहीं है, एक ही माता के पुत्र आपके भाई हैं। उनमें से कुछ ऐसे पुराने योद्धा भी हैं जिन्होंने माता की सेवा में बहुत कुछ सहन किया है। क्या स्वर्गवासी गोखले–मातृसेवा में मुग्ध उसी चिन्ता में प्राण देने वाले गोखले–को आप भुला सकते हो? और उस राजनैतिक संन्यासी के त्यागी उत्तराधिकारी साधु–स्वभाव श्रीनिवास शास्त्री की तुम उपेक्षा कर सकते हो? आज समय के फेर ने चाहे कुछ पलटा दे दिया हो, परन्तु क्या राजनैतिक आन्दोलन के प्रथम वीर सिपाही श्री सुरेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय का तुम तिरस्कार करोगे?

झगड़ा एक पल में निबटता है, यदि एक संन्यासी का कहना मान लो। तुम ही मूँछे नीची कर लो। और जो कुछ मिला है उसके संभालने में लग जाओ।

इस सम्बन्ध में आपका एक कर्तव्य है जिसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूं यह सच है कि हमारी जाति को उसके अधिकारों से ब्रिटिश शासकों ने मुद्दत तक वंचित रक्खा, यह सच है कि इस देश के साथ कई बार विश्वासघात हुआ, यह सच है कि इस समय भी ब्रिटिश जाति के अन्दर ऐसे लोग हैं जिन्होंने आपके पोलिटिकल अधिकारों को दबाने का ही नहीं बल्कि हमारे बचे–खुचे मानवी अधिकारों तक को छीनने का यत्न किया है, परन्तु क्या कुपात्रों की खुदगर्जी और बे–इनसाफी को देखकर सुपात्रों के धर्मभाव और न्याय को भूल जाना चाहिए? मिस्टर माण्टेगू ने इस समय वह काम किया है जो संसार के इतिहास में सदा के लिए यादगार रहेगा। कहा जा रहा है कि मि. माण्टेगू ने क्या किया है? किसी हद तक उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया है और जो कुछ भी किया है अपने साम्राज्य की भलाई के ख्याल से किया है। तब उनका धन्यवाद करने की क्या जरूरत है?' मैं पूछता हूं कि संसार में कितने व्यक्ति है जो अपना कर्तव्य पालन करते हैं? क्या यह सच नहीं है कि आपमें से जितने पोलिटिकल अधिकार पाने के लिए अधिक शोर मचाते हैं, वे भारत के साढ़े छह करोड़ अन्याय से पीड़ित अपने भाइयों को अछूत समझकर उनसे घृणा का भाव दूर नहीं कर

रहे? और कितने हैं जो अपने उन दीन भाइयों को अपनाते हैं? यदि अपनी जाति के एक अन्त्यज को अपनाने के लिए आप 'मोहनदास कर्मचन्द गांधी' को देवता मान सकते हों तो घोर विरोधों का मुकाबिला करते हुए एक रसातल को गई हुई जाति को, किसी अंश तक, उसके अधिकार दिलाने में कृतकार्यता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में क्या आप मिस्टर माण्टेगू का वाणी से भी धन्यवाद न करेंगे? और जिस ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अपने कर्तव्य को (चाहे वह किसी स्वार्थ के विचार से क्यों न हो) समझा है, क्या हम उसे साधुवाद न कहेंगे? बहिनो और भाइयो ! भारत की प्राचीन सभ्यता के नाम पर मैं आप सबसे अपील करता हूं कि इस अपूर्व अवसर को हाथ से न जाने देना और कृतघ्नता का दाग माथे पर न आने देना !

परन्तु इस कृतज्ञता प्रकट करने का यह मतलब नहीं है कि आप अपने शेष अधिकारों के लिए आन्दोलन करना छोड़ दो। मिस्टर माण्टेगू के कृतज्ञ होते हुए भी इस अंश में उनसे मतभेद आवश्यक है। परन्तु एक बात मैं अवश्य कहूंगा कि कहीं आन्दोलन में फंसकर मिले हुए अधिकारों का ही नाश न हो जाय। एक शायर का कलाम बिल्कुल हस्बे–हाल है–

धोने की 'रिफार्मर है जा बाकी, कपड़े पै है जब तलक कि धब्बा बाकी।
धो शौक से धब्बे को पै इतना न रगड़, धब्बा रहे कपड़े पै न कपड़ा बाकी।

अब मैं उस घटना की ओर आता हूं जो आपको स्वदेश के दूर से दूर कोने से खींच कर लाई। देश जिस परीक्षा में से गुजरा है उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं। जिस घटना ने पंचनद की पुरानी पाक सरजमीन से चंगेज खां और नादिरशाह के अत्याचारों को विस्मरण करा दिया, उसकी बुनियाद भारत की असली और बनावटी–दोनों प्रकार की राजधानी देहली नगर में रखी गई थी। 30 मार्च सन् 1919 ई. के तीसरे पहर पहली गोली देहली में चली और उस समय पता लगा कि जिस देश को बेजान समझा जाता है उसमें कितनी जान है। हण्टरकमेटी के आगे जो शहादत गुजरी है वह क्या जाहिर करती है? उससे मालूम होता है कि इस सदियों से सोई हुई जाति के अन्दर सच्ची वीरता का भाव भी सोया हुआ ही था, मर नहीं गया था। भारतवर्ष के पुनरुद्धार के लिए पहला रक्त पाण्डवों की पुरानी राजधानी की भूमि पर गिरा और उस रक्त ने भारतमाता के प्रधान पुत्रों (अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानों) के सदियों से जुदा हुए दिलों को जोड़ दिया। 31 मार्च को पहला जनाजा पचास हजार मातमदारों के साथ कब्रिस्तान की तरफ चला और वहां शहीद की लाश पर मुस्लिम ईमान, हिन्दू मुस्लिम एकता के शैदा, इस समय के मेरे सबसे प्यारे भाई, हकीम अजमल खां से मेरी भेंट हुई। मुसलमान शहीद का जनाजा और हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। यह तो एक विचित्र दृश्य था। शहीद की कब्र पर उसके खून के पबन्द से, बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक–दूसरे से जुड़ गए।

फिर जब शाम को दो जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान–भूमि में पहुंचा और दाह कर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू–मुसलमानों को इस ईश्वरदत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिख भाई ने कहा– 'हम पर क्यों जुल्म करते हो? सिख भी कौम के साथ है।' अब हजारों के मजमे में उस वक्त सैकड़ों आंखों से प्रेम की जलधारा बह रही थी। और जब मैं श्मशान भूमि से चल दिया तो (पूर्वीय तपस्वी महात्मा मसीह के सच्चे चेले और भारत माता के प्रेम–पुत्र, मेरे प्रिय भाई महाशय चार्ली ऐण्ड्रयूज के धर्मभ्राता) प्रिंसीपल 'सुशील कुमार रुद्र' मुझे आकर गले से मिले और कहा– 'मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार देख नहीं सकता। मेरा हृदय जाति के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।' परमेश्वर इस मरुभूमि में बहुत से ऐसे रागद्वेषरूपी दुष्ट व्यवसनों के दलन करने वाले रुद्र उत्पन्न करे, यह मेरी हार्दिक याचना है।

4 अप्रैल सं. 1919 ई. का दिन आया तब जामा मस्जिद देहली में खुदा की शान दिखाई दी। उसके पश्चात 18 अप्रैल की रात तक (जब तक कि पुलिस का राज फिर से स्थापित न हुआ) दिल्ली नगर में रामराज रहा। यह ठीक है कि 3 मार्च के प्रातःकाल से 18 अप्रैल की रात तक एक ताला नहीं टूटा, एक मारपीट नहीं हुई, एक जेब नहीं कतरी गई–और तो और, जुएखाने बन्द रहे, शराबखानों में कोई विरला आदमी ही दिखाई देता था और प्रसिद्ध गुण्डों ने भी देवियों को मां, बहिन, और बेटी समझकर उनको अभयदान दे छोड़ा था।

देहली से यह प्रेम–मयी वायु सारे पंजाब में फैल गई। एकता और मिलाप की लहर बिजली की तरह सारे देश में घूम गई। मस्जिद और मन्दिर में कुछ भेद न रहा। ऐसे समय में सच्चाई और सहनशीलता का सन्देश देने के लिए महात्मा गांधी देहली की ओर चले। जिन हुकूमत के नशे में चूर मनुष्यों का जीवन ही स्वार्थ का स्वरूप हो, उनकी समझ में न सत्य का गौरव आ सकता है और न ही वे सत्याग्रह की शान को समझ सकते हैं। स्वार्थ का इन्द्रासन डांवाडोल हो गया। इस दुबले, बीमार, मुनहनी जिस्म के अन्दरवाले आत्मा के तेज को दुनियादार स्वार्थ सहन न कर सका। जिन बहादुर ब्रिटिश जनरलों और गम्भीर नीतिमान् ब्रिटिश शासकों ने एक तिहाई दुनिया को जीतकर जर्मन साम्राज्य की शक्ति खाक में मिला दी थी, उसके योद्धा इस नई शक्ति के उद्धव से दहल गए, और उसी का नतीजा पंजाब का घोर उपद्रव है। अराजकता का राज हो गया, मनुष्य की जान का कुछ मूल्य न रहा, जेलखाने भर दिए गए, बोलना अपराध हो गया, नंगे चूतड़ों पर कोड़े खाकर चिल्लाना पाप हो गया, इज्जतदारों ने खयाली इज्जत को बचाने के लिए पुलिस रूपी यमदूतों के घर भर दिए और साध्वी सतियों को अपनी रक्षा कठिन हो गई। जलियांवाले बाग की घटना को सामने लाओ और जनरल डायर के कथन को याद करोः

'हां, मैं समझता हूं कि बिना गोली चलाए भी शायद मैं उनको मुन्तशिर कर सकता था।' इस पर प्रश्न हुआ कि फिर आपने ऐसा क्यों न किया? उत्तर मिला– 'वे लौट आते और मेरी हँसी उड़ाते और मैं समझता हूं कि मैं बेवकूफ बनता।' शायद इसी मौके के लिए शायर ने कहा था– 'किसी की जान गई आपकी अदा ठहरी ! एक बहादुर ब्रिटिश जनरल की शान पर सैकड़ों युवा, बूढ़े और बालको के सीस चढ़ जाएं तो क्या परवाह है, उसकी शान में फर्क न आना चाहिए। उन 11 से 15 वर्ष की विधवाओं का चित्र अपने सामने लाइए जिनके पति सूली पर चढ़े या भून डाले गए और जिनके उदासीन मुखों के दर्शन मात्र ने मुझे, नेहरु जी और मालवीय जी को आठ–आठ आंसू रुलाया। एक युवक के नंगे चूतड़ों पर बैतों की मार का हाल सुनाकर एक वृद्ध ऐसा रोया कि उसकी घिग्घी बँध गई। सिंह–पुरूष चौधरी बुग्गा की वीर रमणी का एक गोरे के हाथ से खींचकर मकान से लाया जाना एक घटना है।

मैंने इन घटनाओं का स्मरण आपके हृदयों में शोक और घृणा का भाव उभारने के लिए नहीं दिलाया। घृणा किससे दिलाऊँ? क्या ब्रिटिश जाति से जिसने रिपन, ब्राइट, फासेट, ब्रैडला, वेडरबर्न, इस कांग्रेस के पिता ह्यूम काटन और उनके बीसियों सहकारियों को उत्पन्न किया और इस गिरी हुई जाति को उठाने में सहायता देते हुए ही समाप्त हुए ? क्सर उस जाति से जिसने हार्डिंग और मॉर्ले, और माण्टेगू को जन्म दिया, जिनसे आगे भी बहुत–सी सहायता मिलने की आशा है? परन्तु स्वार्थ के सौदे को छोड़कर मैं पूछता हूं कि जिस जाति ने देवी वसन्ती और हार्नीमेन, बुड्राफ और इनके बीसियों साथियों को उत्पन्न किया और श्रद्धा–सम्पन्न सरल हृदय ऐण्ड्रूज को भारत माता की गोद में दे दिया–उस ब्रिटिश जाति से घृणा दिलाने के लिए मैंने आपकी स्मरण शक्ति को नहीं प्रेरित किया है और न मैं आपको व्यक्तियों से घृणा दिलाना चाहता हूं। व्यक्ति सब हमारे भाई है; उनमें जो दोष घुस जाते हैं वे ही हमारे शत्रु हैं। ओडबायर और डायर ''जानसन'' और ओब्रायन में सब

हमारे ही तो भाई हैं। एक पिता की तो सब सन्तान हैं। उनके अन्दर जो क्रोध और असाधुता के भाव हैं वे ही हमारे शत्रु हैं। परन्तु क्या उन शत्रुओं पर घृणा और क्रोध और "कीने" की सहायता से हम विजय पा सकेंगे? इसका एक कवि ने ठीक उत्तर दिया है–

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्य दानेन, जयेत्सत्येन चानृतं।।

'क्रोध को हम शान्ति से जीतें, असाधुता को साधु–भाव से, कंजूसी को दान से और झूठ को सच्चाई से जीतने की आशा रखें।' जातियों की परस्पर की घृणा ने तो संसार के नाश की बुनियाद रखी है– उस घृणा का मैं समर्थक नहीं। न मैंने आपको शोकातुर करने के लिए इन घटनाओं का वर्णन किया है। मेरा मतलब केवल यह बतलाने का है कि जिस वेदना में से गुजरने का पंजाब को सौभाग्य प्राप्त हुआ है उससे हम सबको क्या शिक्षा मिलती है।

इस वेदना का प्रथम फल हिन्दू–मुसलमानों का ईश्वरदत्त मिलाप है जिसे स्थिर रखना जाति का प्रथम कर्तव्य है। इस मिलाप को स्थिर रखने के लिए दिलों को तीसरों के द्वेष से भी पाक रखना चाहिए। हिन्दु–मुसलमानों की एकता के स्थान में हिन्दोस्तानी मात्र के अन्दर एकता उत्पन्न करके संसार को अपनाना इस समय का मुख्य कर्तव्य है।

दूसरा फल इस वेदना का यह है कि जाति को तप का गौरव मालूम हो गया। मार्शल–लॉ के दिनों में पता लगा कि पोलिटिकल अधिकारों का शोर मचानेवाले यदि चरित्रहीन हों तो वे देश को रसातल में ले जाते हैं। इसलिए सबसे बढ़कर काम चरित्र–संगठन का है जो जाति को अपने हाथ में लेना चाहिए।

तीसरा फल यह हुआ कि जाति को व्यवस्था–बद्ध आन्दोलन के प्रभाव का पता लग गया। जहां भी नेता बुद्धिमान, सहनशील और सत्य–परायण थे और जनता ने उनकी आज्ञाओं का पालन किया, उन स्थानों में बड़ा भारी बचाव हुआ और शीघ्र शान्ति स्थापित हो गई। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सहनशक्ति का गौरव प्रत्यक्ष हो गया। सबसे बढ़कर सहनशक्ति का प्रकाश जलियांवाले बाग में हुआ। इस वृक्ष–पुष्प–फल–हीन (किन्तु अमर) वाटिका में युवा पुरुषों ने ही नहीं, बल्कि बूढ़ों और बालकों तक ने सत्य पर आरूढ़ होकर घातक गोली की वर्षा को फूलों की वर्षा समझा। इस स्थान की 'जलन' को हिन्दू–मुसलमान और सिख वीर शहीदों के लहू ने मिलकर शान्त कर दिया है। यह भूमि अब 'अमर–वाटिका' के नाम से प्रसिद्ध होगी क्योंकि इस पवित्र भूमि में जो मरे वे स्वयं अमर हो गए और हम सबको और आनेवाली नस्लों को अमृत–नगर में पहुंचने का सीधा रास्ता दिखा गए।

बहिनों और भाइयो ! पश्चिमी परिभाषा में 'पोलिटिकलमैन' जिसे कहते हैं, वह मैं नहीं हूं। अपने पोलिटिकल अधिकार लेने का जो आधुनिक मार्ग है उसका मुझे अनुभव नहीं और उसमें मेरा दखल देना घृष्टता मात्र होगा। कितना, किस दर्जे का, किस क्रम से स्वराज्य मिलना चाहिए और किस प्रकार उसके लिए यत्न करना चाहिए, यह देश के राजनैतिक नेता ही जानते हैं, इसलिए इसका विचार मैं उन्हीं पर छोड़ता हूं। और इस काम के लिए मैं मुनासिब साधन उन विविध राजनैतिक सभाओं को समझता हूं जो इस समय, कई कारणों से स्थापित हो चुकी है और जिनके नेता उनको दिनों तक उन्नत करने में लगे हुए हैं। परन्तु इस जातीय महासभा के सामने मैं कुछ अपने विचार रखना चाहता हूं जो मेरे क्रियात्मक अनुभव का निचोड़ हैं।

इस जातीय महासभा का प्रधान काम अब तक यह रहा है कि स्वदेश के पोलिटिकल अधिकारों को विदेशी गवर्नमेण्ट से प्राप्त करने के लिए रेज़ॉल्यूशन मात्र पास करे, परन्तु जहां एक

ओर उन पास किए प्रस्तावों (Resolutions) को अमली जामा पहिनाने के लिए बहुत कम यत्न हुआ है वहां कौम की असली बुनियाद डालने और उस कौम को मिलने वाले अधिकारों को पचाने के योग्य बनाने का बहुत कम क्या, इस जातीय महासभा की तरफ से कुछ भी यत्न नहीं हुआ। स्वराज्य प्राप्त करके उसे पचाने के लिए पहली जरूरत यह है कि कौम का एक–एक बच्चा ऐसी तालीम हासिल कर सके जिससे उसकी आत्मा दृढ़ होकर उसके अपने शरीर, इन्द्रियों और मन का मालिक, उनको वश में करने वाला बन सके। यह तब हो सकेगा जब एक ओर जातीय शिक्षा–पद्धति बनाकर कौम की तालीम कौम के हाथों में हो जाए और दूसरी ओर जाति के माता और पिता अपने शरीरों, इंद्रियों और मनों को शुद्ध करके अपनी सन्तान के सामने, पैरवी करने के लिए उत्तम मिसाल रखें। मैंने देश की आचार तथा समाज–सम्बन्धी सेवा करते हुए गत 26 वर्षो में अनुभव किया है कि जहां प्रत्येक शिक्षित पुरुष कालिज से निकलते समय देश और धर्म–सेवा का मानसिक व्रत धारण करके निकलता है वहां परीक्षा के समय एक हजार में से शायद ही एक साबितकदम रहता हो। ऐसे हिन्द के देशभक्त उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। जो विदेशी शासकों से प्रलोभित किये जाने पर भी देश के हित के लिए उपाधि (Title) रूपी सुनहरी जंजीरों को तोड़ के फेंक दें। वाइसराय की अनुचित धमकी के उत्तर में 'सर' की उपाधि को सिर से उतार के फेंक देने वाले डाक्टर सुब्रह्मण्यम–से ब्राह्मण देश में कितने हैं? अपनी जाति पर अत्याचार करने वाले पिशाच–भाव का जिस गवर्नमेण्ट की तरफ से इजहार हुआ, जिस गवर्नमेण्ट के चाकरों ने स्वजाति के गौरव को नष्ट करने में कुछ कसर न छोड़ी, उसकी दी हुई उपाधि को एक दिन के लिए भी धारण किए रखना पाप समझने वाले भारत के सूर्य, कवि रवीन्द्रनाथ से कितने देवता हैं? और सच्चे राजधर्म का पालन करने वाले, मनुष्य और पशु के भय से मुक्त, वैदिक निर्भयता के उपदेश पर अमल करने वाले, स्वदेश को पद दलित करनेवाले शासकों की श्रेणी को एकदम छोड़ देनेवाले वीर शंकर नायर से सिंहपुरूष कितने हैं? देवियों और भारत माता के सुपुत्रो! यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। अब सदाचारी, ब्रह्मचारी, शिक्षक हों, और कौमी हो शिक्षा–पद्धति (National Scheme of Education) तब ही कौम की जरूरतों को पूरा करने वाले नौजवान निकलेंगे, नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम निकलती रहेगी।

परन्तु यह पहली जरूरत पूरी होना कठिन है जब तक कि कौम की बुनियाद न पड़ ले। मैं इण्डियन नेशनल कांग्रेस की वेदी पर खड़ा हूं और इसलिए शायद यह कहना सिडीशन समझा जाए कि 30 मार्च सन् 1919 से पहले तक कौमो की बुनियाद नहीं पड़ी थी। परन्तु मैंने, और जिन निर्भय देश सेवक देवताओं का मैं साथी हूं उन्होंने मशीनगनों (Machine Guns) और हवाई जहाजों (Aeroplanes) की मालिक गवर्नमेंट की धमकी पर भी सच को कभी नहीं दबाया तब आप दयालु बहिनों और भाइयो ! मुझे सत्य के प्रकाश करने में क्या सन्देह हो सकता है ! मेरा मन्तव्य है कि 30 मार्च, 1919 ई. तक 'नेशन' का नाम ही नाम था, उसकी बुनियाद नहीं रखी थी। जो काम हिन्दु मुसलमानों के समझदार नेताओं की 34 वर्षो की मेहनत पूरा न कर सकी उसकी बुनियाद, परमेश्वर की कृपा से, देहली नगर में 30 मार्च की शाम को रखी गई और 13 अप्रैल की शाम को जब जलियांवाले बाग में हिन्दू, मुसलमान और सिख, बाल, युवा और वृद्धों का रक्त मिलकर बहा–उस समय जातीयता के महल की बुनियादें भरी जाकर दृढ़ हो गई। अब कसर केवल एक है जिसे निकाल डालिए।

लण्डन नगर में भारत की रिफार्म स्कीम कमेटी के सामने 'ईसाई मुक्ति फौज' के जनरल बूथ टकर (Booth-Tucker) साहब ने कहा था कि भारत के साढ़े छः करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिए और उसके लिए हेतु दिया था– "Because they are ancher-sheets of the British Government"

इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिए और सोचिये कि किस प्रकार आपके साढ़े छः करोड़ भाई–आपके जिगर के टुकड़े जिन्हें काटकर परे फेंक दिया–किस प्रकार भारतमाता के साढ़े छः करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट रूपी जहाज के लंगर बन सकते हैं ! मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूँगा कि इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम–जाल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि 'आपके वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे, बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं। उनकी पुत्रियां और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे, उनके गृह–नर–नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे और हमारे स्वतंत्रता प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक–दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे।' हे देवियों और सज्जन पुरुषों ! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह संकल्प पूरा हो।

देहली नगर की जामा मस्जिद में मैंने वह दृश्य देखा था जिसका स्वप्न मुझे 26 वर्षो से आ रहा था और क्या आश्चर्य है कि परम पिता और जगत् की दयालु माता की कृपा से मुझे अपने दूसरे स्वप्न का दृश्य भी जागृत अवस्था में देखना नसीब हो ! जब वह दिन आवेगा जब आपको अपने विदेशी खानपान, अपने विदेशी पहरावे और अपने विदेशी भोग जीवन (Life of Luxury) को तिलांजली देनी होगी और कोई छूआछूत नहीं बन सकेगी जो इस जातीय महासभा के सभ्यों को अपने नीचे महदूद कर सके। जाति के बिखरे हुए अंग मिलाकर फिर से जातीय भवन खड़ा हो जाए और भारत सन्तान की शिक्षा जाति के ही अधिकार में हो। यह जाति की स्वतन्त्रता का मूल तंत्र है। आओ, बहिनो और भाइयो ! उस स्वर्गीय समय की एक झलक देखने के लिए परमेश्वर के पवित्र अदृश्य चरणों में अपने हृदयरूपी सीस नवा दें। कौन परमेश्वर?

'कांटा है हरिक जिगर में खटका तेरा,
हलका है हरिक गोश में खटका तेरा।
माना नहीं जिसने तुझको जाना है जरूर,
भटके हुए दिल में ही खटका तेरा'।

"हे गोरे और काले के मालिक ! हे राव और रंक के स्वामी ! इस जातीय महासभा में अपनी सच्ची रोशनी का प्रकाश कर जिसकी सहायता से जाति के नेता सत्य का यथार्थ स्वरूप देखें और उसकी रोशनी में अपने और बेगाने के साथ एक–सा न्याय का बर्ताव कर सके[71]।"

श्रद्धानन्द संन्यासी

जब हम उपर्युक्त भाषण की समीक्षा करने बैठते हैं, तो हमें यह भाषण पुराने अधिवेशनों की लीक से हट कर एक स्वतंत्र संन्यासी के निष्पक्ष व्यक्तित्व की छाप का दस्तावेज प्रतीत होता है। यह हिन्दू धर्म के किसी भी संन्यासी का भगवे वेश में कांग्रेस मंच से दिया गया प्रथम और अन्तिम भाषण था। इस भाषण के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने लिखा था कि "श्रद्धानन्द का भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सच्चाई का नमूना था।" स्वामी जी ने सत्याग्रह समिति से त्याग–पत्र भेजते हुए लिखा था कि वे कानूनों को वापिस लेने के लिए आध्यात्मिक साधना करेंगे। स्वामी जी की आध्यात्मिक साधना करने के उपायों की झलक इस स्वागत भाषण में स्पष्ट दिखाई देती है। जब स्वामी जी यह कहते हैं कि क्रोध को हम शान्ति से जीतें, असाधुता को साधु–भाव से, कंजूसी को दान से और झूठ को सच्चाई से जीतने की आशा रखें, तो यह आत्मा की उन्नति के लिए ही कहते हैं। स्वामी जी की मान्यता के अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिये चारित्रिक शुद्धता अनिवार्य है। इसीलिए स्वामी जी ने अपने भाषण में यह कहा कि चरित्र गठन के कार्य को जाति को अपने हाथ में लेना चाहिए। स्वामी जी ने अपने त्याग–पत्र में अपनी भावी योजनाओं में शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली को विकसित

करना भी बताया था। इस योजना का संकेत देते हुए उन्होंने कहा कि स्वराज्य प्राप्त करके उसे पचाने के लिए पहली जरूरत यह है कि कौम का एक–एक बच्चा ऐसी तालीम हासिल कर सके जिससे उसकी आत्मा दृढ़ होकर उसके अपने शरीर, इन्द्रियों और मन का मालिक, उसको वश में करने वाला बन सके। इसके अतिरिक्त अपने त्याग–पत्र में स्वामी जी ने यह भावना भी प्रकट की थी कि उनके कार्यक्रमों में हिन्दुस्तानी के विकास का सतत् प्रयास रहेगा। स्वामी जी का हिन्दुस्तानी से क्या अभिप्राय था, इसका निदर्शन स्वयं स्वागत भाषण है। कांग्रेस अधिवेशन के मंच से हिन्दुस्तानी (हिन्दी) में अपना भाषण पढ़कर कांग्रेस के इतिहास में नई शुरुआत की। इस अधिवेशन के स्वागत भाषण में स्वामी जी की अछूतोद्धार की आर्यसमाजी आत्मा राजनीति का लबादा ओढ़कर प्रकट हुई। उन्होंने लोगों से यह प्रतिज्ञा करने को कहा कि आपके साढ़े छः करोड़ भाई अछूत नहीं रहने चाहिये। कांग्रेस के मंच से एक स्वामी ने प्रथम बार अछूतोद्धार की समस्या को राष्ट्रीय समस्या के रूप में प्रस्तुत करके राष्ट्र के नायकों को इस विषय में सोचने के लिये बाध्य किया। इस प्रकार स्वामी जी का स्वागत भाषण एक संन्यासी के व्यक्तित्व की आध्यात्मिक और सामाजिक छाप का बोलता चित्र है।

यह अधिवेशन कांग्रेस के राजनैतिक इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अधिवेशन से पूर्व यह लगता था कि अमृतसर में कांग्रेस के सारे नेता एक हो जाएंगे। परन्तु अधिवेशन से दो दिन पूर्व ब्रिटिश सरकार ने भारत सचिव माण्टेग्यू के द्वारा कुछ सुधार की स्कीम प्रस्तुत करवा दी। इस स्कीम में यह कहा गया था कि सम्राट् भारतवासियों को स्वराज्य देना चाहते हैं, परन्तु यह कार्य शनैः शनैः किया जायेगा। सम्राट् की सद्भावना को दिखाने के लिये मार्शल–लॉ के कुछ कैदी छोड़ दिये गये। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेसी नेता तीन विचारधाराओं में बंट गए। गांधी जी सरकार से सहयोग करने के लिये तैयार हो गए। तिलक ने जितना सहयोग का हाथ सरकार बढ़ाये उतना ही हम बढ़ायें की नीति को उपयुक्त माना। तीसरी विचारधारा उन लोगों की थी जो सरकारी घोषणा को छलावा मानते थे। इसके मुखिया देशबन्धु दास थे। कांग्रेस के इस मतभेद की चर्चा स्वामी जी ने अपने भाषण में भी की थी। स्वामी जी ने अपने भाषण में कहा था कि सुधार स्कीम अब विवादास्पद विषय नहीं रहा। नरमों का उसे स्वीकार करना और गरमों का उसे अस्वीकार करना दोनों निरर्थक डींगें हैं। बुरी है या भली, पूर्ण है या अपूर्ण सुधार स्कीम हम पर लागू हो चुकी है। यह झगड़ा कैसे खत्म हो, इसका निर्णय देते हुए स्वामी जी ने कहा– झगड़ा तै हो गया है क्योंकि लोकमान्य तिलक महाराज ने व्यवस्था दे दी है कि "जो मिला है उसे ले लो और शेष के लिए व्यवस्थित आन्दोलन जारी रखो।" अतः हमें सुधारों के सम्बन्ध में धन्यवाद का प्रस्ताव पारित करना चाहिए। अन्त में श्रीमति एनी बैसेन्ट, मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयासों से तीनों पक्षों में समझौता हो गया और धन्यवाद का एक सर्वसम्मत प्रस्ताव पास हो गया।

इस अधिवेशन की एक और विशेषता की ओर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इस अधिवेशन से यह प्रतीत हो रहा था कि 'तिलक युग' समाप्त हो रहा है। प्रस्ताव के सम्बन्ध में तिलक द्वारा प्रकट किये गये निम्नलिखित उद्‌गार इसके प्रमाण हैं–

"मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूं। अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाए। वह व्यक्ति जिसके हाथ में नेतृत्व सम्भालने की शक्ति दिखाई देती है, वह गांधी है। इसी कारण मैंने गांधी का संशोधन स्वीकार कर लिया है। देश की बागडोर अब उसी के हाथ में जाएगी।"

पुनः गुरुकुल के आचार्य और अधिष्ठाता

कांग्रेस के अधिवेशन के उपरान्त भी लगभग एक महीने तक स्वामी जी पंजाब प्रान्त की सेवा में लगे रहे। अधिवेशन में आपने जलियांवाला बाग को 'अमर वाटिका' का नाम दिया था। आप

इस स्थल पर शहीदों का स्मारक बनवाकर इसे वस्तुतः अमर वाटिका बनाना चाहते थे। परन्तु घटना चक्र आपको अमर वाटिका के स्थान पर 'अमन वाटिका' अर्थात् गुरुकुल कांगड़ी को पुनः सम्भालने की ओर ले चला। सन् 1920 के प्रारम्भिक महीनों में गुरुकुल में एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो गई। वार्षिक परीक्षाएं आने का समय निकट था। पाठ्यक्रम पूरा न होने के कारण ब्रह्मचारियों ने एक मास के लिए वार्षिक परीक्षा स्थगित करने की प्रार्थना की। स्वामी श्रद्धानन्द के संन्यास में प्रवेश करने पर उनके स्थान पर आचार्य बने रामदेव जी ने अनुशासन के नाम पर इस मांग को अस्वीकार कर दिया। आचार्य रामदेव जी सम्बन्ध में महात्मा हंसराज के भाई लगते थे। उनका कोई कार्य छोटे आकार में या धीमी प्रगति से नहीं होता था। वे अतिशयता के प्रेमी थे[७२]। अर्थात उनका स्वभाव आर या पार था। मांग को अस्वीकार करने के बाद मानने का प्रश्न ही नहीं उठता था।[७३] गुरुकुल टूटने के कगार पर दिखाई देने लगा। अन्त में लाचार होकर आचार्य रामदेव सभामन्त्री महाशय कृष्ण के पास गए और उत्तराधिकारी की नियुक्ति की प्रतीक्षा किये बिना ही वे फरवरी, 1920 में अपना पद त्याग कर चले गये। अन्य कोई विकल्प न देखकर गुरुकुल की प्रबन्धकारिणी समिति के प्रधान तथा मन्त्री ने अन्य सदस्यों से परामर्श करके पं0 मालवीय एवं महात्मा गांधी से निवेदन किया कि वे स्वामी श्रद्धानन्द को गुरुकुल के हेतु जलियांवाला बाग स्मारक हेतु चन्दा संग्रह करने की प्रतिज्ञा से मुक्त कर दें[७४]। गुरुकुल के लिए मालवीय जी और महात्मा जी दोनों ही श्रद्धा रखते थे अतः श्रद्धानन्द जी को उन्होंने सहर्ष गुरुकुल का भार सम्भालने की स्वीकृति प्रदान कर दी। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने 25 माघ, सम्वत् 1976 को आचार्य पद से रामदेव जी का और मुख्याधिष्ठाता पद से रामकृष्ण का त्याग पत्र स्वीकार करते हुये यह प्रस्ताव भी पारित किया कि "गुरुकुल की वर्तमान अवस्था में इस सभा की सम्मति में स्वामी श्रद्धानन्द ही पूर्ण योग्यता के साथ गुरुकुल को सम्भाल सकते हैं। अतः अन्तरंग सभा स्वामी जी से प्रार्थना करती है कि वे पूर्ववत् इस कार्य को सम्भालें। सभा उनको गुरुकुल का आचार्य और मुख्याधिष्ठाता नियत करती है। स्वामी जी के वही अधिकार होंगे, जो उन दिनों में थे, जब वे गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता थे। चूंकि स्वामी जी की शारीरिक अवस्था इस योग्य नहीं है कि वे अन्तरंग सभा के प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित हो सकें, इसलिए यह निश्चय हुआ कि गुरुकुल के प्रबन्ध सम्बन्धी सब अधिकार सभा–प्रधान विश्वम्भरनाथ और मुख्याधिष्ठाता की तीन सदस्यीय उप समिति को होंगे[७५]।" प्रस्ताव की प्रति मिलने पर स्वामी जी ने इस बार फूंक–फूंक कर गुरुकुल में आने की सोची और निम्न लिखित शर्ते प्रस्तुत कीं–

(1) गुरुकुल की पाठविधि और प्रबन्ध में परीक्षणार्थ जो परिवर्तन किये जाएं, उनमें दो वर्ष तक सभा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।

(2) गुरुकुल की धन–सम्पत्ति को सभा की धन–सम्पत्ति से पृथक् करके ब्याज पर दिया जाए।

(3) दो वर्ष के लिए अन्तरंग सभा के स्थान पर तीन सज्जनों की एक उपसमिति बनाई जाए जो गुरुकुल का बजट सीधा सभा के साधारण वार्षिक अधिवेशन में प्रस्तुत करे।

(4) कृषि विभाग और औद्योगिक और वाणिज्य विभाग पुनः आरम्भ करने की स्पष्ट आज्ञा दी जाए।

(5) गुरुकुल प्रैस में प्रिटिंग मशीन तथा अन्य सामान के लिये दस हजार रूपया लगाया जाए।

(6) गुरुकुल नियन्त्रण–परिषद, निर्माण (आर्य विद्या सभा) का प्रस्ताव दस ग्यारह वर्ष पहिले पेश किया गया था उसको पारित कराने का पुनः प्रयास हो[७६]।

उपर्युक्त शर्तो से यह प्रमाणित होता है कि उनके पूर्वकालीन आचार्यत्व की अवधि में सभा की अन्तरंग और स्वामी जी के मध्य नीतियों को लेकर गहरा मतभेद था। दोनों के मध्य मतभेद मिटा नहीं था, किन्तु गुरुकुल की विकट परिस्थिति ने उन्हें एक दूसरे के समीप ला दिया था। स्वामी जी यह नहीं चाहते थे कि इस बार उनकी योजनाओं की भ्रूण हत्या हो जाए। अतः उन्होंने शर्ते रखकर स्पष्टोक्ति चाही। लेखकों ने यह माना है कि स्वामी जी अपने असिद्ध स्वप्नों की पूर्ति की आशा से ही गुरुकुल में आए थे[67]। गुरुकुल की स्थापना के साथ ही स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने मन में इस विषय में विभिन्न योजनाओं का कल्पना–चित्र बनाया था। किन्हीं कारणों से संन्यास लेने से पूर्व वे अपनी कल्पनाओं को साकार नहीं बना सके थे। उसी समय उन्होंने सद्धर्म प्रचारक में 'मेरे असिद्ध स्वप्न' नाम से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने आर्य जनता के सम्मुख अपनी मनोव्यथा को प्रकट करते हुए यह बताया था कि उनके कौन–कौन से स्वप्न अपूर्ण रह गए हैं। इस अपूर्णता में किस सीमा तक किसका दोष है, इस पर भी प्रकाश डाला था। उन असिद्ध स्वप्नों की जानकारी पाठकों को भी हो जाये, इस विचार से यहां स्वामी जी का वह लेख अविकल रूप से प्रस्तुत किया जाता है–

"स्वप्नावस्था में ही जाग्रत की सारी तैयारी होती है। इसी अवस्था में योगी परमात्मा की सृष्टि का सौन्दर्य देखना आरम्भ करता है और इसी साधारण पुरुष का मन कर्म–काण्ड की तैयारी करता है।"

गुरुकुल के लिये जिस दिन धन एकत्र करने के लिये मैं घर से निकला था (12 भादों 1956 वि0 तदनुसार 26 अगस्त 1899) उसी दिन रेलगाड़ी में बैठते ही कुछ विशेष कल्पनाएं, गुरुकुल सम्बन्धी कार्यक्रम की, मैंने कर ली थीं। फिर जब कार्तिक सम्वत् 1958 में मुझे आर्य–प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से आज्ञा मिली कि शीघ्र कांगड़ी ग्राम में कुछ अस्थिर मकान बनवा गंगातट पर गुरुकुल खोल दिया जाये, तब भी 22 फाल्गुन 1958 की शाम तक गुरुकुल भूमि में पहुंचने से पहिले मेरे मन में बहुत से संकल्प उठे थे। उस समय से सब संकल्प स्वप्नवत् ही थे। उन में से कुछ तो जाग्रत में परिणत हो आशा से बढ़ कर पूरे हुये कुछ असिद्ध रहकर अब भी स्वप्नावस्था में ही पड़े हुये हैं। स्वप्नावस्था में ही पड़े हुये असिद्ध संकल्पों का वर्णन इसलिये कर देता हूं कि शायद कोई उन्हें सिद्ध करने वाला कर्मवीर निकल आवे और अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल अवस्थाओं के कारण जो मैं न कर सका, उस में वह कृतकार्य हो जावे।

प्रथम आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ स्वप्न थे जो पूरे न हो सके। आरम्भ में मेरा विचार यह था कि 50 लाख रुपयों का स्थिर कोष जमा करके उसके सूद से ही गुरुकुल का काम चलाया जावे। परन्तु ब्रह्मचारियों को कांगड़ी में ले जाते ही ऐसा चौमुखी युद्ध करना पड़ा कि धन एकत्र करने के लिये बाहिर जाना मेरे लिये कठिन हो गया और जिनका इस संस्था को चलाना कर्तव्य था उनमें बहुधा उसको तोड़ने के लिये ही कमर बांध बैठे। तब धन कौन लाता? फ़िर शनैः शनैः यह भाव स्थिर हुआ कि रुपयों के स्थिर कोष के स्थान में आमदनी का स्थिर यत्न किया जाये, जिससे यह शिक्षणालय आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इसके लिये मैंने नीचे लिखे साधन सोचे थे–

(क) एक वर्कशॉप (कारखाना) खोला जाये जिसमें एंजन लगा कर कई प्रकार के व्यवसाय का काम हो। कांगड़ी ग्राम और उसके आस–पास के जंगल में खैर के वृक्ष बहुत हैं। एक कारखाना कत्था बनाने का खोला जाये। अपने जंगल में ढाक के वृक्ष बहुत हैं उनसे लाख पैदा की जाये, और उन्हीं के फूलों (टेसू) से रंग बनाया जावे। सेंभल की रुई इकट्ठी करके बेची जायें। पास के जंगल से शीशम और तुन की लकड़ी सस्ती मिल सकती है। उन लकड़ियों से मेज कुर्सी आदि सामान बनवा कर बेचा जाये। इनके अतिरिक्त और भी व्यवसाय के

कार्य जारी हो सकते थे। स्वामिनी सभा के अधिकारियों से जब बातचीत की तो उन्होंने विरोध ही किया। शिवालिक की पड़ोसी पहाड़ियों पर औषधियॉ बहुत होती हैं और बिना मूल्य मिल सकती हैं। वैद्य के आने पर सभा से आज्ञा चाही गई कि चरक, सुश्रुत में दिये नुस्खों के अनुसार औषधियॉ बनाकर वैद्यों के हाथ बेचने की आज्ञा दीजिये। हुकुम हुआ कि ना मंजूर।

अब सभा ने ऐसी बेरुखी दिखाई तो मैंने एक धनाढ्य पुरूष को व्यवसाय के कामों के लिये धन देने को तैयार कर लिया। धामपुर के रईस रायबहादुर चौधरी रणजीतसिंह जी गुरुकुल देखने आये। कारखाने की बातचीत आते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि पूरा कारखाना बनाने के लिये क्या व्यय होगा। मैंने एक लाख का अनुमान बतलाया। उक्त महोदय ने प्रतिज्ञा की कि 50 हजार रूपये वह देंगे, शेष इकट्ठा करने का मैं यत्न करूं। परन्तु जहां घर में कलह हो और उल्टी माला फेरी जाती हो वहां बाहर से क्या सहायता मिल सकती है। श्रीमान् चौधरी रणजीतसिंह जी गुरुकुल से घर लौटकर दस पन्द्रह दिनों के अन्दर ही अचानक मृत्यु के ग्रास हुये। यह विचार दिल का दिल में ही रह गया। यदि यह स्वप्न जागृत में परिवतर्तित होता तो जहां एक ओर गुरुकुल चलाने के लिए स्थिर आय होती, वहीं ब्रह्मचारियों के आर्थिक भविष्य का प्रश्न भी शायद किसी हद तक हल हो जाता।

(ख) कांगड़ी ग्राम की भूमि 1200 पक्के बीघों के लगभग है। उनमें से केवल अनुमानतः 175 बीघे में खेती होती है। 325 बीघे के लगभग में नाला आदि है। 100 बीघे भूमि गुरुकुल की इमारतों के नीचे होगी। शेष 600 बीघे में से 400 बीघे को नौतोड़ किया जा सकता है। मैंने कृषि विभाग इसीलिये खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेंगे परन्तु जो काम (नलाई, कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरी सम्बन्धी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों से, उनके खाली समय में, कराया जावेगा। पैदावार बढ़ाने के लिये ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस बारह कूप लगवा कर खेती की पैदावार बढ़ाई जावे। मेरा अनुमान था कि यदि 400 बीघे और नौतोड़ हो जाये तो वर्ष भर में से नौ महीनों के लि़ये अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की बाटिकादि में काम करने लग गये थे। परन्तु प्रबन्धकर्तृ सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

(ग) एक बार ब्रह्मचारियों में यह उत्साह हुआ कि इमारत का काम वे स्वयं (मिस्तरी की सहायता से) कर लिया करें। एक कमरे की तैयारी में बहुत कुछ काम उन्होंने किया भी, परन्तु उनके मार्ग में इतने विघ्न डाले गये और इतना निरूत्साहित किया गया कि उनका जोश ठन्डा पड़ गया और फिर उन्हें इस काम के लिये किसी ने उत्साहित नहीं किया।

(घ) कांगड़ी ग्राम के जंगल से एक वर्ष ईटों के भट्टे के लिये लकड़ियॉ कटवाई गई। उस वर्ष जंगल की आमदनी तीन हजार से बढ़ गई। मैंने बजट में वह रकम ग्राम की उन्नति के लिए स्वीकार करवाई। साथ ही उपाध्यायों तथा अध्यापकों के लिये निवासस्थान उसी भूमि में बनवाने का विचार किया, जहां नया आदर्श ग्राम बनाया जाना था। मैं कई कारणों से गुरुकुल से अलग जा बैठा। मेरे उत्तराधिकारियों ने जहां उपाध्याय–गृह गुरुकुल के समीप बना लिये, वहां ग्राम के लिए स्वीकार की हुई रकम बिना व्यय हुई ही, वर्ष के अन्त में, लिप्त हो गई और उसकी पुनः स्वीकृति न मिली। यदि कृषिकारों के जीवन का सुधार हो जाता तो पैदावार बहुत बढ़ जाती और गुरुकुल का यश भी अधिक विस्तृत होता। एक बार फिर विचार उठा कि स्थिर धनराशि को जमीन पर लगाना चाहिये। पचास हजार में एक ग्राम बिकता था।

उनका नकदी लगान इतना वसूल होता था कि 40 पैसे सैकड़ा मासिक का सूद फैल जाता। नगर का पानी लगता था। यदि उन्नति की जाती तो पैदावार और बढ़ सकती थी। कुछ एक आर्य पुरूषों का पालन भी हो सकता था। परन्तु इस विषय को सभा में पेश करने से ही अधिकारियों ने इंकार कर दिया। गुरुकुल को तो 50 हजार में ही ग्राम मिलता था। पीछे उसका मूल्य 60 हजार से भी बढ़ गया।

इन सब प्रस्तावों का उत्तर अधिकारियों की ओर से यही था कि यदि इन कामों की आज्ञा लाहौर से दूर दी गई तो साधारण सभासद् यह समझेंगे कि सारी शक्ति कांगड़ी को जा रही है। मुझे कहा जाता था कि मेरी बदनामी इस प्रकार की जायेगी कि जो थोड़ी बहुत सेवा धन या तन से मैंने की है उसके बदले मैं अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता हूं। अब यतः ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता इसलिए वर्तमान कार्यकर्त्ताओं की आय बढ़ाने के लिए उपरोक्त साधनों को प्रयोग में लाने का यत्न करना चाहिये, यदि वे इसे उचित समझें।

दूसरे ब्रह्मचारियों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उन्नति सम्बन्धी कुछ विचार थे जो स्वप्नावस्था में ही विलीन हो गये। गतकर, फरी, घुड़सवारी और अन्य देशी खेलों का शिक्षक अर्जुनसिंह बहुत उत्तम मिला था। कई कारणों से वह अलग किया गया। कई ड्रिल मास्टर आये और चले गये। अन्त में चैत्र, 1973 को सरदार फतेहसिंह को रखा गया जो दिल से काम कर रहे हैं। खेलों में तो ब्रह्मचारी अनुराग से सम्मिलित होते हैं और उससे उनकी शारीरिक दशा औरों की अपेक्षा बहुत उत्तम रहती है, परन्तु प्रातःकाल का, नसों को संगठित करने तथा शरीर को दृढ़ करने वाला, व्यायाम ठीक प्रकार नहीं होता। मुझे आशा थी कि शनैः शनैः गुरुकुल के स्नातक ही अध्यापन के काम में लग जायेंगे और व्यायाम के स्वयं अभ्यासी ब्रह्मचारियों के प्रातःकाल के व्यायाम को ठीक कर देंगे। परन्तु न तो गुरुकुल और उसकी शाखाओं में पढ़ाने के लिये अधिकतः गुरुकुल के स्नातक ही मिले और न ही अन्य सब अध्यापक ऐसे आये जो स्वयं भी व्यायाम के प्रेमी हों।

(क) जिस प्रकार पहिले कुछ वर्षो के अध्यापक स्वयं खूब व्यायाम करते थे और अब भी कोई-कोई ऐसा करते हैं, इसी प्रकार इस समय की सर्वशाखाओं तथा मुख्य गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय स्वयं व्यायाम को अत्यन्त आवश्यक समझ कर ब्रह्मचारियों के साथ व्यायाम किया करें, तब मेरा स्वप्न फलीभूत होगा।

(ख) शारीरिक शिक्षा तथा शरीर रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में बड़ा विचार मैं यह लेकर गुरुकुल में आया था कि रात की पढ़ाई विद्यार्थियों को न करनी पड़े। परमेश्वर ने दिन शरीर और इन्द्रियों से काम लेने को बनाया है और रात इन सबको आराम देने के लिए। यदि अध्यापक ऐसे मिलें जो दिन की पढ़ाई के समय ही विद्यार्थी को सब कुछ उपस्थित करा दें तो रात में पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और दिन के अन्य समयों में मानसिक परिश्रम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब आंखों और दिमाग को कमजोरी की शिकायत भी नहीं हो सकती। आरम्भ में दो वर्ष तक तो कुछ यह क्रम चला, शायद इसलिये कि उस समय सर्व नियत विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध न था, परन्तु आगे चलकर जब बड़े-बड़े अध्यापक और प्रोफेसर जमा हो गये तो जितना परिश्रम मैं इस आदर्श को ले जाने में करता उतनी ही रात को पढ़ाई अधिक होती जाती। शायद इसमें मेरी ही भूल हो, परन्तु यदि गुरुकुल के संचालकों को मेरे प्रस्ताव में कुछ सार दिखाई दे, तो आशा है कि वे इस ओर फिर ध्यान देंगे।

तीसरी कुछ कल्पनायें मानसिक शिक्षा सम्बन्धी थीं। उनमें से बड़ी कमी उचित पाठयपुस्तकों की है। आज कल के सभ्यताभिमानी देशों की युनिवर्सिटियों के पास अपना प्रेस होना अत्यन्तावश्यक

समझा जाता है। गुरुकुल की शिक्षाप्रणाली (इस युग के लिये) नई, उसका पाठ्यक्रम नया, उसकी उमंगें नई–फिर पुस्तकों का संशोधन तथा निर्माण इस शिक्षणालय का एक मुख्य अंग होना चाहिए था। यही सोचकर मैंने गुरुकुल के अर्पण सद्धर्म्म–प्रचारक प्रेस का सारा सामान कर दिया था। इसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर गुरुकुल कोष से सहस्त्रों रूपये व्यय करके प्रिंटिंग मशीन, एन्जन तथा टाइप का विरतृत सामान भी मंगाया था। आधुनिक संस्कृत साहित्य की पाठ्य पुस्तकों में से अश्लील तथा अनुचित भाग निकाल कर पुस्तकें तैयार की गई, वैदिक मेगजीन आदि की सारी अपनी छपाई गुरुकुल में होने लगी; गुरुकुल का यन्त्रालय इन प्रान्तों में केवल इण्डियन प्रेस, प्रयाग, से दूसरे दर्जे पर पहुंच गया था, पर अकस्मात् प्रेस–भवन में आग लग गई और दस बारह हजार का सामान जलकर राख हो गया। प्रेस के जलने के साथ पाठ्य पुस्तकें छपवाने का प्रश्न भी फिर खटाई में पड़ गया, फिर प्रैस दिल्ली में गया उसका बड़ा भाग ६५ सौ रुपये में भेजा गया और कुछ हैन्डप्रेस और कटिंग मशीन आदि बचाकर फिर से गुरुकुल प्रेस की बुनियाद पड़ी। उसके पश्चात् दो बार मैंने सभा से कुछ स्वीकृति प्रेस को बढ़ाने के लिये मांगी, परन्तु मुख्य अधिकारियों के कटाक्ष पर कि मैंने सहस्त्रों रुपये प्रेस में बरबाद करा दिये हैं, मैं अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं देता रहा।

प्रेस का कार्य बढ़ाने से बहुत से अन्य लाभ भी हैं, इसलिये जब वर्तमान मुख्याधिष्ठाता जी की कार्यकुशलता तथा धन रक्षा की योग्यता पर पूरा भरोसा है तो आशा है कि सभा उनको आठ दस हजार रूपया व्यय करके प्रेस को बढ़ाने की आज्ञा देगी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं के लिये उत्तम साहित्य मुद्रित करना तो गुरुकुल यन्त्रालय को विस्तृत करने का फल होगा ही किन्तु उसके साथ ही उससे स्थिर आय भी खासी हो जायेगी।

(ख) गुरुकुल के स्नातकों के लिये आजीविका का प्रबन्ध करने के विचार से ही नहीं, प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक फलदायक बनाने के लिये, गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा प्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि और व्यापार शिक्षा का ध्यान रक्खा गया था। कब से मैं इन विषयों के लिये बल देता रहा हूं और किस प्रकार की रुकावटें उस प्रयत्न के मार्ग में खड़ी होती रही हैं– इस कहानी से यहां कुछ लाभ न होगा। मैंने कृषि शिक्षा का कार्य आरम्भ भी किया परन्तु कई कारणों से उसमें अब तक वह कृतकार्यता प्राप्त न हुई, जो सहज में ही हो सकती थी। मेरे सामने तो कृषि विभाग का जीवन ही संदिग्ध था, परन्तु अब फिर कृषि विभाग को योग्य उपाध्याय मिल गये हैं। यदि इस विभाग को तोड़ने का प्रयत्न न हुआ तो जहां ब्रह्मचारियों को कार्यशील बनाने में सहायता मिलेगी वहां कुछ वर्षो के पीछे इससे आय भी अच्छी होने लग जायेगी।

फिर आयुर्वेद के लिये भी कुछ वर्षो से मैंने प्रस्ताव कर रक्खा था। जिस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कविराज योगेन्द्रनाथ सेन एम0ए0 आये थे, उसी वर्ष बहुत से धन की भी, आयुर्वेद विभाग खोलने के लिये, प्रतिज्ञायें हुई थीं कुछ धन वसूल भी हुआ था, और योग्य वैद्य भी मंगा लिये गये थे। परन्तु शासक सभा के अधिकारियों ने उस विभाग को खुलवाना उचित न समझा। मेरा निश्चय है कि यदि आयुर्वेद विभाग के साथ ही, एक योग्य डाक्टर रख कर अनाटमी, सर्जरी आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाता तो शायद इस समय तक गुरुकुल के स्कूल ऑफ मेडिसिन को गवर्नमेन्ट का चिकित्सा विभाग प्रमाणित भी कर देता। अब बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आयुर्वेद विभाग के खोलने का प्रस्ताव गुरुकुल की शासक सभा में स्वीकार कर लिया है और यदि इस समय कोई योग्य डाक्टर भी अपनी सेवा गुरुकुल के अर्पण कर दे तो आशा है कि जहां गुरुकुल के स्नातक कलकत्ता, मद्रास आदि भटकते फिरने से बच जायेंगे वहां बाहर के विद्यार्थी भी इस विभाग से पूरा लाभ उठा सकेंगे।

यह भी सुनने में आया है कि व्यापार तथा महाजनी की शिक्षा के लिये भी पाठविधि तैयार हो रही है। परमेश्वर शासक सभा को बल प्रदान करें जिससे अधिकारीगण इन कार्यो के चलाने में आलस्य न कर सकें।

आत्मिक शिक्षा सम्बन्धी जो दिव्य स्वप्न देखकर मैं गुरुकुल में गया था, उनका निरन्तर 16 वर्षो तक काम करते हुये, स्मरण नहीं आता था। उनके संस्कार तो प्रबन्ध के द्वन्द्व युद्ध से मुक्त होने पर ही पुनः जागे हैं। गुरुकुल भूमि में पग धरा था यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके की सात वर्षो तक वेदांगों में परिश्रम कर तथा आत्मिक साधनों द्वारा बल प्राप्त करके ऋषि दयानन्द की बतलाई प्रणाली पर वेदाध्ययन में ब्रह्मचारियों की स्वयं सहायता करूंगा और तब आचार्य कहलाने का अधिकारी बनूंगा। गया था अभ्यासी बनने और आत्मिक शक्तियां सम्पादित करने, परन्तु गुरुकुल भूमि में प्रवेश करते ही घोर संग्राम में फंसना पड़ा। जहां प्रकृति प्रत्येक प्रकार से अनुकूल थी। हिमालय के पवित्र चरणों में जाहवी के किनारे डेरा डालकर आशा थी कि ब्रह्मचर्याश्रम के बड़े बोझ को उठाने के लिये बल मिलेगा, वहां मानवी हृदयों की उठाई अशान्ति ने पूर्व के साधनों से प्राप्त बल को भी शिथिल करने के लिये आक्रमण कर दिये। इस विषय में मनुष्यों के प्रति, वाणी या लेखनी द्वारा, कुछ बतलाया नहीं जा सका। जो कल्पनाओं का मनोहर तथा शान्तिप्रद उद्यान हृदय भूमि पर बनाया था वह अब स्मरण में आ रहा है। आत्मिक अवस्था को उच्चासन पर ले जाने और वैदिक ज्ञान को क्रियात्मक बनाने का अवसर, परमेश्वर की कृपा से, अब मिलेगा और इस जन्म की तैयारी आगामी जन्मों में अवश्य काम आवेगी–इस आशा पर ही मैं काम कर रहा हूं। परन्तु अपनी मृत्यु के पहिले यदि एक बार यह दृश्य देख लूं कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर एक ऐसे विद्वान् स्थित हैं जो वेद ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को आचरणों में ढालते हुये ब्रह्मचारियों को मनुष्य के परम पुरुषार्थ की ओर ले जा रहे हैं, तो मैं बड़े सन्तोष से आने वाले जन्म की तैयारी कर सकूंगा।

ब्रह्मचारियों के आत्माओं पर निःस्वार्थ भाव को भली प्रकार अंकित करने तथा उन्हें धर्म और जाति सेवा के लिये तैयार करने का बड़ा भारी साधन यह समझा गया था कि उनके संरक्षकों पर उनकी पढ़ाई एवं उनके पालन–पोषण का कुछ भी बोझ न पड़े। गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा–विधि की तैयारी के समय से ही मैं इस पर बल देता रहा और इसीलिये नियम धारा 6 के नीचे नोट दिया गया था– 'जब कुछ समय में पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा तो समस्त ब्रह्मचारियों का शिक्षा–दान तथा उनका पालन पोषण बिना किसी व्यय लिये किया जायेगा।' मैंने बहुत बार हाथ–पॉव मारे कि पर्याप्त धन (50 लाख रुपये) जमा हो जावे, परन्तु उसके लिए परिश्रम करने का मुझे समय और अवसर ही न मिला। फिर जब संवत् 1967 में कई कारणों से मैं मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद से त्याग–पत्र देकर अलग हुआ तो कुछ सज्जन मित्रों ने मेरी हार्दिक इच्छा को जानकर सर्वथा शुल्क मोचन पर बल दिया और उनका प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। फिर जब मुझे पुनः गुरुकुल की सेवा के लिये लौट आने के लिये बाधित किया गया तो शुल्क लगाने का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष तो पुराने प्रस्ताव को ही सभा से दृढ़ता मिली, परन्तु उससे दूसरे वर्ष इस प्रश्न को फिर सभा में रक्खा गया। यह देखकर कर कि कुछ काम करने वाले बिना गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर शुल्क लगवायें काम करना छोड़ देंगे, मैंने उस अधिवेशन में सम्मिलित होने से ही बचना चाहा, परन्तु शुल्क के पक्षपातियों की ओर से श्री प्रधान जी ने विश्वास दिलाया कि आठ श्रेणियों तक कोई शुल्क लगाने का विचार नहीं; उससे ऊपर शुल्क लगाने का निश्चय है। मैं तो इस समझौते पर चुप रहा परन्तु प्रस्तावकर्ताओं ने पूर्ववत् सब श्रेणियों के लिये शुल्क स्वीकार करा लिया। मैंने अपनी निज प्रतिज्ञानुसार मौन धारण किये रक्खा और सम्मति भी कुछ न दी।

इस समय बिना शुल्क के गुरुकुलों को चलाना असम्भव सा ही हो गया है, क्योंकि जहां प्रबन्ध उत्तम है और अपने कर्तव्य को समझने वाले संचालक हैं वहां धन पर्याप्त नहीं, और जहां शुल्क न लेने का आडम्बर रचा जाता है वहां ब्रह्मचारी तो साधारण भोजनों के लिये भी तरसते हैं और गुरुकुल भक्त सांसारिक भोगों का आनन्द लूटते हैं। मेरा यह स्वप्न भी इस जीवन में पूरा होता नहीं दीखता।

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरी एक और प्रबल इच्छा थी जो अपूर्ण रह गई। मेरा विचार था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पांच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में प्रारम्भिक शिक्षा के लिये पाठशालाएं खोल दी जायें, जिनमें बालक गुरुकुल के लिये तैयार किये जायें। चार वर्ष की पाठ विधि हो। जनता की सभाएं बना कर अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जायें, जिससे उस ओर का कोई भी बच्चा (लड़की हो या लड़का) अशिक्षित न रह जाये। गुरुकुलों के सम्बन्ध में तो कई कारणों से मैं इस विचार को अमली सूरत न दे सका, परन्तु यह प्रबल इच्छा अवश्य है कि आर्यसमाज का इतिहास समाप्त करके, धर्म प्रचार करता हुआ, आर्यभाषा पाठशालाएं खुलवाने का यत्न करता रहूं। उन पाठशालाओं में साधारण ज्ञान देने के अतिरिक्त प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को वैदिक–धर्म का आवश्यक ज्ञान भी कराया जावे। इस काम के लिये ऐसे धर्मवीरों की आवश्यकता होगी जो वर्तमान समय के अनुचित भोगों को तिलांजली देकर तप का जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हों। स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले को इस काम के लिये उत्तेजित करने का मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु वह कई बार इच्छा प्रकट करके भी मेरी प्रार्थनानुसार एक सप्ताह गुरुकुल में निवास न कर सके और इसलिये हमारी स्कीम पक न सकी।

गुरुकुल सम्बन्धी और भी बहुत सी मेरी आकांक्षाएं थीं जो पूरी नहीं हुई; उनके वर्णन से इस समय लेख को बढ़ाना उचित नहीं है। मैंने इन सब असिद्ध स्वप्नों में असफलता का कारण यही समझा था कि गुरुकुल का प्रबन्ध एक ऐसी कार्यकारिणी सभा के आधीन है जिसके सभासदों का गुरुकुल के साथ सीधा सम्बन्ध बहुत कम रहता है। प्रथम तो आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में सभासद लिये ही किसी अन्य भाव से जाते हैं, फिर बहुत से गुरुकुल के सच्चे हितैषी (अधिक दान देने वाले, स्नातक, ब्रह्मचारियों के संरक्षक तथा अन्य विद्वान्) इसके नियन्त्रण में भाग नहीं ले सकते और सबसे बढ़कर कमी यह है कि शासक सभा की बैठकें गुरुकुल से दूर होने के कारण उसकी आवश्यकताओं को सभासद दृष्टि में नहीं रख सकते। मैंने गुरुकुल की भलाई इसी में समझी थी कि उसके लिये एक पृथक् नियन्त्रण–परिषद् बनाई जावे जिसमें दानियों, स्नातकों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों के प्रतिनिधि भी लिये जा सकें। मैंने ऐसा प्रस्ताव दस, ग्यारह वर्षो से कर रक्खा है। परन्तु ऐसा नियम–संशोधन का प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा के उस अधिवेशन में पेश हो सकता है जिसमें सभासदों की उपस्थिति दो तिहाई से कम न हो। एक बार उपस्थिति (कोरम) ठीक हो भी गई और बहुपक्ष अनुकूल भी था, परन्तु सम्मति लेना दूसरे दिन पर रोका गया और दूसरे दिन कोरम न रहा।

सारा सभ्य संसार इस समय अनुभव कर रहा है कि शिक्षा प्रणाली पर ही संसार की वर्तमान अशान्ति की औषधि आर्यपुरुषों ने समझ रक्खी है। बाह्य संसार के कुछ शिक्षक भी इस विषय में आर्यो के साथ सहमत हो चुके हैं। तब गुरुकुल की रक्षा और उन्नति के लिये जो भी उपाय उचित हों उनकी आर्य जनता को उपेक्षा नहीं करना चाहिये। इसीलिये मैंने आर्यजनता की सेवा में अपने उद्‌गार उपस्थित करने का यत्न किया है।

स्वामी जी ने गुरुकुल में पुनः आने की शर्तो में प्रायः अपने 'असिद्ध स्वप्नों' की मुख्य–मुख्य बातें लिख दी थी। गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने स्वामी जी की शर्तो को स्वीकार कर लिया। इस

प्रकार 11 फरवरी, 1920 ई0 (4 फाल्गुन, 1976 वि0) को स्वामी जी ने फिर गुरुकुल में पदार्पण किया। गुरुकुल में आने पर स्वामी जी दिल्ली की दिन प्रतिदिन होने वाली राजनीति से अवश्य कट गये। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिल्ली सत्याग्रह और अमृतसर के कांग्रेस अधिवेशन ने स्वामी को खिलाफत आन्दोलन और कांग्रेस के उच्च श्रेणी के नेताओं की दृष्टि में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति बना दिया था। यद्यपि गुरुकुल में आकर स्वामी जी का कार्य आर्य समाज की सेवा करना था, किन्तु वे यहां आकर भी राजनीति के चक्रव्यूह से नहीं निकल सके।

1920 और 1922 के मध्य की अवधि स्वामी जी के लिये ''दुविधा में दोनों गई, न माया मिली न राम'' की स्थिति वाली रही। 'जुम्मे–जुम्मे अढ़ाई दिन' ही हुए थे कि सभा के कुछ सम्मानीय सदस्यों के साथ पुराना मतभेद सिर उठा कर खड़ा हो गया। 'प्रकाश' के सम्पादक महाशय कृष्ण ने गुरुकुल के उद्देश्यों को लेकर वही पुराना राग छेड़ दिया। विरोध की गरमाहट को देखकर स्वामी जी ने गुरुकुल के संचालन के लिए गठित उपसमिति के सदस्य विश्वम्भर नाथ को 14 अप्रैल, 1920 को एक पत्र लिखा। अपने पत्र में स्वामी जी ने लिखा कि ''महाशय कृष्ण को लिखा मेरा पत्र आपने देखा होगा। मैंने गुरुकुल आने में चाहे भूल की हो, पर आप तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों की अपील पर ही मैं यहां आया हूं और कम से कम तीन वर्ष लग कर काम करना चाहता हूं। मैंने अपने विचार और मन्तव्य कभी किसी से छिपाये नहीं, इसलिए आप, कृष्ण, नारायणदत्त, गंगाराम तथा अन्य सज्जनों ने जब अन्तरंग में मेरे गुरुकुल आने का प्रस्ताव उपस्थित किया था और सभा ने उसको स्वीकार किया था तब सोच–समझ कर ही किया होगा।'' इससे आगे स्वामी जी ने नीतिगत भेदों की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा कि ''पहली बात जिसमें मैं सहमत नहीं हूं, यह है कि गुरुकुल को किसी भी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्धित करना भारी भूल होगी। यदि शिक्षा का सब अधिकार देशी मन्त्रियों के हाथ चला जाए, तो भी गुरुकुल पद्धति से शिक्षा देने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। दूसरा मतभेद उपदेशकों के सम्बन्ध में है। मेरा यह मत है कि आजकल शास्त्रार्थ वास्तविक धर्म–प्रचार के लिये बड़ी भारी बाधा है। इसलिये मैं अपने शिष्यों में अन्य धर्मो के विरुद्ध खण्डनात्मक भाव भरने की अपेक्षा उनके सामने उन सबकी अच्छाइयां रखूंगा और उनको बताऊँगा कि इन सब अच्छाइयों का मूल वेद है। सम्भव है गुरुकुल से इस प्रकार की शिक्षा से निकलने वाले उपदेशकों से आप लोग सन्तुष्ट न हों। तीसरी बात वैदिक धर्म के साथ राजनीति के सम्बन्ध की है। यदि इस सम्बन्ध में इस समय के आर्य समाज के नेता यह समझते हैं कि उनका और अधिकांश आर्य समाजियों का मत मुझ से नहीं मिलता है तो यह आपका धार्मिक कर्तव्य है कि आप मुझ को उसकी तुरन्त सूचना दे दें, जिससे मेरे कारण आप में से किसी को भी कुछ उलझन में फंसना न पड़े[७८]।

स्वामी जी शान्त भाव से जैसे–तैसे गुरुकुल की स्थिरता के कार्य में लगे रहे। उन्होंने गुरुकुल प्रैस में सुधार करके 'श्रद्धा' नामक हिन्दी का साप्ताहिक निकालना आरम्भ किया। इस साप्ताहिक में धार्मिक लेखों के अतिरिक्त तत्कालीन भारतीय राजनीति पर भी स्वामी जी के लेख होते थे। स्वामी जी ने इस साप्ताहिक में 'आर्य समाज और राजनीति' नामक लेख लिखकर अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि–

''पंजाब में आर्य समाज का अधिक प्रचार है। यहां ही इसका अधिक बल है। और पंजाब ने ही अपनी उत्तम से उत्तम सन्तान आर्य समाज को भेंट की हुई है। इसलिये जब पंजाब पर मार्शल–लॉ (अर्थात् नौकर शाही की अराजकता के राज्य) की चढ़ाई हुई उस समय भी आर्य समाजियों का ही कर्तव्य था कि वे आई हुई आपत्ति को धैर्य और शान्ति से अंगीकार करके जनता के सामने दृष्टान्त रूप से खड़े हो जावें। उनकी परीक्षा का यही समय था। जब जलती हुई आग बीच में हो और

स्वधर्म पालन के लिये दूसरे पार जाना हो, उसी समय धर्मध्वजियों की परीक्षा होती है। कवि ने क्या पते की बात कही है–

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी। आपत काल परखिए चारी।।"

उस समय पंजाब के आर्य समाजियों के धर्म तथा धैर्य की परीक्षा हुई। यद्यपि उस परीक्षा में बहुत से आर्य उत्तीर्ण हुए, परन्तु उन आर्य नामधारियों की संख्या भी उपेक्षा से देखने योग्य नहीं, जो उस समय में धर्म के उच्चासन से गिर गए और ऐसे आर्य समाजियों ने इसी गिरावट को अपना श्रृंगार कहना सिद्ध करना आरम्भ कर दिया। वह यह कह कर अपनी पीठ ठोकते रहे कि "जब सब राजनीतिक लहर में बह गए तो आर्य समाज को राजनीति से पृथक् सिद्ध करने के पत्र तथा अन्य साधनों से उन्होंने आर्य समाज की रक्षा की और लहर में नहीं बह निकले।"

परन्तु परिणाम क्या हुआ? जिन्होंने अपनी चमड़ी बचाने के लिये अपने आप को नोन पुलिटिकल सिद्ध करने का यत्न किया, नौकर शाही की दृष्टि में वह भी इस सम्बन्ध से जुदे न समझे गए। हां, उन्हें एक अधिक उपाधि मिली। जैसा कि एक मित्र ने दिखलाया – पंजाब गवर्नमैंट ने उन्हें कातर (Coward) की उपाधि अवश्य दी। मेरी सम्मति यह है कि पंजाब के गत विप्लव में जिन्होंने जनता का साथ दिया उन आर्य समाजियों ने पालिटिक्स में भाग नहीं लिया, उन्होंने मनुष्य अर्थात् आर्य धर्म का ही पालन किया। अब बैठे बाल की खाल उतारते जाओ तो उनकी स्थिति में भेद नहीं आता। मैं प्रति सप्ताह आदित्य वार को व्रतपूर्वक 'रौलट एक्ट' से स्वदेश की मुक्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ यह भी बलपूर्वक इच्छा किया करता हूं कि जब भी किसी मनुष्य समूह पर अन्याय और अत्याचार का आक्रमण हो उसे रोकने के लिये आर्य सामाजिक पुरुष सबसे पहले आगे बढ़ा करें[३७]।

खिलाफत आन्दोलन के सम्बन्ध में विचार

जनसमूह की उपर्युक्त भावना को लेकर ही स्वामी श्रद्धानन्द ने खिलाफत आन्दोलन में रुचि दिखाई थी। अमृतसर कांग्रेस के समय तक महात्मा गांधी अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग के हामी थे। अमृतसर कांग्रेस के बाद मार्शल लॉ के शिकार हुए लोगों की अपीले जब सरकारी दबाव के कारण लार्ड केन की अध्यक्षता वाली न्यायिक समिति द्वारा खारिज कर दी गई, तो महात्मा गांधी का ब्रिटिश सरकार के प्रति असहयोग का रुख बन गया। इस में अली भाइयों की प्रेरणा का भी हाथ था। अली भाइयों ने खिलाफत के सन्दर्भ में भारतीय मुसलमानों को हिजरत (देश छोड़ने) करने के लिए कहा। हिन्दू लोग मुसलमानी खिलाफत आन्दोलन में कुछ इस तरह फंस गए थे कि अनेक लोग सरकारी सेवा छोड़कर इस आन्दोलन में कूद पड़े थे। ऐसी स्थिति में स्वामी जी ने अपने सन्देहों को दूर करने के लिए महात्मा गांधी को निम्न पत्र लिखा–

श्रीमान् महात्मा गांधी जी,

मुझे ठीक पता नहीं है कि आप सिंह गढ़ में हैं या और कहीं, इसलिए आश्रम के पते से ही पत्र भेजता हूं। आशा है कि जहां कहीं आप होंगे, मेरा पत्र वहां पहुंच जायेगा।

मैं समाचार पत्रों में खिलाफत के सम्बन्ध में आपके सम्भाषणों का सारांश और मिस्टर शौकत अली के व्याख्यानों का हाल पढ़ता रहा हूं। अपने मुसलमान भाइयों की जो न्यायानुकूल मांग है, उसके पूरा न होने पर आपने अपनी गवर्नमैन्ट के साथ सहयोगिता का त्याग बतलाया है। यहां तक तो मैं आपके साथ सहमत हूं कि हिन्दू–मुसलमानों को न्यायानुकूल निबटारा न होने पर उपाधियां त्याग देनी चाहिये, औनरेरी कामों से भी फिर किनारा करना चाहिये, परन्तु प्रश्न यह है कि यदि आप

लाखों सिविल और मिलिटरी के सरकारी नौकरों को उनकी नौकरी से अलग कर लेंगे और उनकी आजीविका का कोई प्रबन्ध न कर सकेंगे तो जनता के अन्दर कितनी अराजकता फैलेगी। इससे तो रोग और बढ़ेगा, घटेगा नहीं। मैं इसके विरूद्ध नहीं हूं कि मुसलमानों और हिन्दुओं के सुशिक्षित उच्च्य पदाधिकारी अपने पदों को छोड़ दें, मेरा मतलब लाखों सिविल और मिलिटरी चाकरों से है जिनको जीविका से जुदा करके सत्याग्रह की उच्च्य मर्यादा पर स्थिर रहना कठिन होगा। मुझे डर यह है कि जिन मुसलमानों की धार्मिक इच्छाओं को पूरी करने के लिए आप उनके पथ प्रदर्शक बन रहे हैं, कहीं वे ही न कष्ट अनुभव करने लग जावें।

परमेश्वर की कृपा से मुझे कोई उपाधि प्राप्त नहीं, इसलिए उसके त्याग का प्रमाण नहीं दे सकता। कभी चाकरी भी नहीं की, इसलिए उस प्रकार की सहानुभूति भी नहीं दिखला सकता, किन्तु एक ही प्रकार का सत्याग्रह है जिसमें मैं सम्मिलित हो सकता हूं अर्थात् यदि जनता के उपाधि और नौकरी त्याग करने पर भी गवर्नमैन्ट की आंखें न खुलें, तो मुसलमान भाइयों के साथ स्वयं भी ब्रिटिश साम्राज्य का त्याग कर दिया जावे। यदि आप अगुआ बनें तो कौन न चाहेगा कि आपके पीछे चलकर अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेंवे। परन्तु प्रश्न यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य को छोड़कर किस राष्ट्र की शरण ली जावे; जहाँ धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने का आश्रय मिल सकेगा। समाचार पत्रों में इशारा देखा है कि काबुल हम सबको बुला रहा है, परन्तु वहाँ जाकर ब्रिटिश सरकार पर दबाव पड़ सकेगा और सिवाय ब्रिटिश सरकार के साथ भौतिक युद्ध किए कैसे अभीष्ट की प्राप्ति होगी, यह समझ में नहीं आता। और यदि भारतवर्ष के हिन्दू–मुसलमान भौतिक शस्त्रों का आश्रय लेकर ब्रिटिश गवर्नमैन्ट से लड़ने को ही बाधित हुए तो वे कहाँ तक सत्याग्रही रह सकेंगे।

मैं चाहता हूँ कि इस विषय में आपके मन्तव्य का स्पष्ट ज्ञान मुझको हो जावे जिससे मैं अपने मन्तव्य के साथ कर्तव्य को बराबर मिलाये रखूं। अब आप आराम कर रहे हैं तब यह कष्ट देना अनुचित है, परन्तु जहाँ हमारी सारी जाति के भविष्य का प्रश्न हो, वहाँ ऐसा कष्ट देना अनिवार्य भी हो जाता है।

आपका उत्तराभिलाषी

श्रद्धानन्द[40]

महात्मा गांधी ने स्वामी जी के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा–

भाई साहेब!

आपका पत्र मिला। सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ने को तब ही कहा जाएगा जब उनके लिए खाने–पीने का प्रबन्ध की ठीक योजना बन जाएगी। इस बारे में मुसलमान भाइयों के साथ मैं मसलत कर रहा हूं।

देश त्याग करने की सलाह मैं तो कोई नहीं दी, न मैं दे सकता हूं। कितनेक मुसलमान भाइयों का हिजरत करने का अवश्य अभिप्राय है, उनको हम नहीं रोक सकते हैं। उनसे भी हिजरत का नतीजा अच्छा नहीं आ सका है, ऐसा बता रहा हूं। य़दि सत्याग्रह दृष्टि से यदि हम हिन्दुस्तान का त्याग करें तब उसमें सरकार पर कुछ भी दबाव पड़ने का ख्याल नहीं दीखता है। मगर मेरी राय से हिन्दुओं को हिन्दुस्थान छोड़ने का मौका तो तब आ सकता है जब कोई हिन्दु राजा होगा और प्रजा उसके साथ मिलकर हिन्दू धर्म का पालन ही अशक्य कर देगी। यदि सरकार का असहकार करने में इस समय असमर्थ होंगे तो उसका अर्थ मैं ऐसा ही निकालूंगा कि मुसलमानों की धर्मप्रवृत्ति क्षीण हो गई है। हर कोई भी देख सकता है इस खिलाफत के प्रश्न में इस्लाम को बड़ा धक्का पहुँचाने

की बात है। यदि ऐसे समय पर भी मुसलमान जान–माल की कुरबानी करने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तो धार्मिकता का लोप हो गया ऐसा ही कह सकते हैं। यदि ऐसा बुरा परिणाम आ जायेगा तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि मैं भ्रमण करता हुआ कलिकाल की महिमा को देख रहा हूं। धर्म की भावना हरेक जगह बहुत मन्द हो गई है, और अनेक जो कार्य धर्म के नाम पर होते हैं उसमें भी मैं तो अधर्म ही देख रहा हूँ। यदि मैंने जो लिखा है वह स्पष्ट नहीं होगा तो आप मुझे फिर पूछेंगे।

गुरुकुल का कार्य अब अच्छी तरह से चलता होगा। मैं आज चार दिन से एकान्त स्थान में आया हूँ।

आपका

मोहनदास गांधी[61]

स्वामी श्रद्धानन्द ने महात्मा गांधी के उत्तर तथा अखबारों के द्वारा खिलाफत आन्दोलन के सम्बन्ध में जो सम्मति बनाई थी, उसे प्रकट करते हुए उन्होंने मुसलमानों से कहा–

"(क) जब हिन्दू तय है खिलाफत के सवाल पर अपने मुसलमान भाइयों के साथ हैं तो शिया साहेबान तथा अन्य मुसलमानों को भी (जो मुसलमान रूम को खलीफा नहीं मानते) अपनी कौम का साथ देना चाहिए क्योंकि यह एक प्रतिज्ञा पालन या विश्वास का सवाल है।

(ख) उपाधियॉ या ओनरेरी ओहदे जितने भी अधिक मुसलमान भाई त्याग करेंगे उतना ही ब्रिटिश गवर्नमैन्ट को निश्चय होगा कि वे लोग अपने मतालबे पर दृढ़ हैं। यदि मुसलमान ही पीछे रह गए तो हिन्दुओं से क्या आशा हो सकती है। परन्तु यदि उनमें जोश बढ़ा तो हिन्दू भी अवश्य साथ देंगे।

(ग) मुसलमान उच्च पदाधिकारी यदि सिविल–मिलिटरी कामों से त्याग पत्र दे दें– यथा आनरेबल हाईकोर्ट जज– मियां मुहम्मद शफी, मुसलमान हाईकोर्ट जज साहिबान और अन्य मुसलमान सिविलियन तथा मिलिटरी आफिसर तो हिन्दू भी कुछ उनके साथ शरीक हो जायेंगे।

(घ) फिर भी यदि कुछ ध्यान न खिंचे तो कम वेतन वाले मुलाजिम त्याग पत्र दें तो पहले उनके परिवारों के निर्वाह का प्रबन्ध कर लिया जाए। इनको हिजरत के लिए पीछे न चलाया जावे प्रत्युत इनसे जातीय (कौमी) पुलिस का काम लिया जाए। गत वर्ष के अप्रैल में जैसा रामराज्य 19 दिनों तक दिल्ली में रहा फिर बहुत स्थानों में लाया जा सकता है, परन्तु यह तब हो सकेगा जब दौलतमन्द आदमी भी और काम छोड़कर इस पुलिस की अफसरी में लग जाएं। यदि यह क्रियात्मक दौर चल जाए तो मुझे निश्चय है कि ब्रिटिश गवर्नमैन्ट स्वयं मित्र दल को हमारे पक्ष का बनाने में कृतकार्य हो सकेगी। यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार को अपनी प्रतिज्ञा का ख्याल तो है परन्तु दूसरी और भी फंस चुकी है। यदि यह ठीक हो तो उन्हें भारत प्रजा की दृढ़ता से मित्रदल की काउन्सिल में बल मिलेगा[62]।

उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त 'हिजरत' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए आपने कहा कि "मेरे भाइयों! भागना कायरों का काम है। हम यहां ही रहेंगे, यहाँ ही जीएंगे और इसी पवित्र भूमि में माता की सेवा करते हुए प्राण त्यागेंगे। यहाँ से 'हिजरत' के स्थान में यहां ही शहीद बनेंगे। अपने सहन तथा तप से गोरी जातियों के कठोर ह्रदयों को भी ऐसा पिंघला दें कि उन्हें भारत के एक–एक बच्चे से दीन प्रार्थना करनी पड़े और ब्रिटिश गवर्नमैन्ट के प्रतिनिधि यह कहने के लिए विवश

हों कि 'उठो भारत के सच्चे पुत्रों और उसकी पुत्रियों! अपनी अमानत को सम्भालो क्योंकि अब हम अमानत में ख़यानत नहीं करना चाहते[43]।''

राजनैतिक उड़ान में आचार्यत्व पिछड़ गया

राष्ट्रीय राजनीति में छलांग लगाने वाले संन्यासी को गुरुकुल के प्रबन्ध में बार–बार कठिनाइयां आने लगी। उन्होंने इन कठिनाइयों से सम्बन्धित एक पत्र सभामंत्री को 14 अप्रैल को लिखा था। इस पत्र के प्रत्युत्तर में सभामंत्री ने सम्पूर्ण परिस्थितियों के लिए स्वामी जी को ही उत्तरदायी ठहराया। इसके उत्तर में स्वामी जी ने सभामंत्री (महाशय कृष्ण) को 13 जून 1920 को लिखा कि ''गुरुकुल का कार्यभार पुनः सम्भालने से पहिले यदि मुझे उन कठिनाइयों का पता लग जाता, जो इसके मार्ग में पड़ चुकी हैं, तो मैं फिर से काम सम्भालने का साहस ही नहीं करता। परन्तु जब एक बार बोझ उठा चुका हूं, तो किसी मंजिल तक उसे पहुंचाने का यत्न करुँगा[44]।'' परिणाम स्वरूप अगस्त 1920 ई0 में स्वामी जी ने गुरुकुल के लिये स्थायी कोष स्थापित करने का विचार किया और इस कार्य के लिये सर्वप्रथम कलकत्ता को चुना। स्वामी जी ने वहां गुरुकुल के प्रचार और धन संग्रह का कार्य आरम्भ ही किया था कि खिलाफत आन्दोलन के परिशिष्ट के रूप में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन आमन्त्रित किया गया। स्वामी जी का इस अधिवेशन में भाग लेना अत्यावश्यक था क्योंकि उन्होंने 'अस्पृश्यता निवारण' विषय से सम्बन्धित एक प्रस्ताव विषय समिति के विचारार्थ भेजा हुआ था। किन्तु इसे जानबूझ कर विषय समिति ने ताक पर रख दिया। यहां तक कि महात्मा गांधी जी ने भी इसके महत्व को अनुभव नहीं किया। इससे स्वामी जी को बड़ी निराशा हुई। अक्टूबर के अन्त में स्वामी जी गुरुकुल के लिए धन संग्रह हेतु बर्मा चले गये तथा दिसम्बर, 1920 के प्रथम सप्ताह में लौटे। स्वामी जी ने गुरुकुल के लिये 20 लाख रूपया संग्रहित करने का संकल्प किया था, परन्तु स्वामी जी अपने लक्ष्य से बहुत दूर रहे और मात्र साठ हजार रुपया ही इकट्ठा कर सके।

बर्मा की 31 दिन की यात्रा में स्वामी जी को 14 मान पत्र दिये गए और लगभग 60 भाषण स्वामी जी को देने पड़े। स्वामी जी के भाषणों के विषय धार्मिक होने के साथ–साथ राजनैतिक भी होते थे। बर्मा की सम्पूर्ण यात्रा में एक पुलिस उप–अधीक्षक दो निरीक्षक तथा दो थानेदार स्वामी जी के साथ रहे। उन्होंने स्वामी जी से अनुरोध किया कि वे अपने व्याख्यानों में राजनैतिक चर्चा से दूर रहें, परन्तु स्वामी जी ने न उनके अनुरोध को माना और न वे उनकी धमकियों से डरे।

देश की स्वतन्त्रता के लिये किये जाने वाले आन्दोलनों में स्वामी जी की अत्यधिक रूचि होने के कारण गुरुकुल का कार्य उस गति से आगे नहीं बढ़ा जिस गति से आशा की जा रही थी। जोर्डेन्स के अनुसार सम्भवतः राजनैतिक कार्यो में खुलकर भाग लेने की स्वीकृति सभा की ओर से स्वामी जी को मिली हुई थी[45]। वस्तुतः ऐसी बात नहीं थी। स्वामी जी को जब यह अनुभव हुआ कि उनकी राजनैतिक गतिविधियां सभा के अधिकारियों की दृष्टि में उपेक्षणीय नहीं रही तो उन्होंने सभा प्रधान को निम्नलिखित आशय का एक पत्र लिखा–

गुरुकुल

10 आश्विन, 1977
(25 सितम्बर, 1920)

श्रीमान लाला राम कृष्ण जी

प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

नमस्ते।

इस समय मेरी सम्मति में 'असहयोग' की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृत कार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता नहीं मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न 50 वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन–मृत्यु का प्रश्न हो गया है। इसलिए मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आपकी सम्मति में इस काम में लगने के लिये मुझे गुरुकुल या आर्य समाज के अन्य कामों से अलग होना चाहिये तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे मैं पब्लिक में भेज दूँगा। मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता, मुझे यह काम सर्वोपरि दीखता है।

आपका

श्रद्धानन्द

कलकत्ता अधिवेशन के पश्चात् महात्मा गांधी और स्वामी जी दोनों एक रात एक साथ नागपुर में एक खिलाफत सम्मेलन में गए थे। मौलाना लोग उस अवसर पर कुरान की जो आयतें पढ़ रहे थे उनमें काफिरों को कत्ल करने तथा जिहाद के अनेक सन्दर्भ आए थे। स्वामी जी ने खिलाफत आन्दोलन के इस पहलू पर महात्मा गांधी का ध्यान खींचा। महात्मा जी का उत्तर था – "ये अंग्रेज नौकरशाही की ओर संकेत करते हैं।" उत्तर में स्वामी जी ने कहा – "यह सब अहिंसा के विचार का उच्छेदक हैं और जब इनकी भावनाओं में आकस्मिक प्रतिक्रिया होगी तो वे इन्हीं आयतों को हिन्दुओं के खिलाफ प्रयुक्त करने में संकोच नहीं करेंगे[60]।"

नागपुर में स्वामी जी अस्वस्थ हो गये और स्वास्थ्य लाभ के लिए सीधे गुरुकुल कुरुक्षेत्र चले आए। वहां हालत नहीं सुधरी और बाद में गुरुकुल कांगड़ी आना पड़ा। अप्रैल, 1921 में स्वास्थ्य लाभ होने पर मई के आरम्भ में मोती लाल नेहरू की पुत्री विजय लक्ष्मी के विवाह में सम्मिलित होने के लिये इलाहाबाद पहुँच गये। यहां महात्मा गांधी ने स्वामी जी को एक पत्र और तार दिखाया जो उन्हें मालवीय जी से मिले थे। पत्र एवं तार का विषय यह था कि गांधी जी को राजनैतिक सुधारों के लिये शिमला जाकर लार्ड रीडिंग से मिलना चाहिए। स्वामी जी ने गांधी जी को परामर्श दिया कि वे कांग्रेस कार्यकारिणी की सम्मति लिये बिना न जाएं। स्वामी जी ने लार्ड रीडिंग से भेंट हेतु मना करने के जो कारण बताये थे, वे 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुए थे। स्वामी जी का परामर्श अनसुना कर दिया गया। स्वामी जी ने महात्मा गांधी की इस भूल को 'हिमालय के तुल्य' भूल माना[61]।

गांधी जी की नीतियों की आलोचना

17 अगस्त, 1921 को स्वामी जी दिल्ली पहुँचे और वहां अस्पृश्यता–निवारण के कार्य में आने वाली बाधाओं की समीक्षा की और यह पाया कि कांग्रेसी मुसलमान इस कार्य में बाधक बन रहे हैं। इस संकटावस्था में स्वामी जी ने 9 सितम्बर, 1921 को महात्मा गांधी को निम्न लिखित पत्र लिखा–

दिनांक 9 सितम्बर, 1921

आदरणीय महात्मा जी,

मैंने लाहौर से आपको तार दिया था जिसमें आपको सूचित किया था कि मैं दिल्ली प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के माध्यम से आर्थिक सहायता के लिये प्रार्थना करुँगा। लेकिन दिल्ली पहुँचने पर अनुभव हुआ कि कांग्रेस के माध्यम से दलित जातियों का उत्थान करना दुष्कर है। दिल्ली तथा आगरा के चमार केवल इतना ही चाहते हैं कि हिन्दू एवं मुसलमान दोनों द्वारा प्रयुक्त कुओं से उन्हें भी पानी भरने दिखा जाय और हिन्दुओं की प्याउओं से उन्हें बाँस की नली और पत्तो से पानी न पिलाया जाय। केवल यही करना कांग्रेस के लिए असम्भव हो रहा है। इतना ही नहीं, दिल्ली सदर के एक मुसलमान व्यापारी ने तो यहां तक कहने की जुर्रत की कि यदि हिन्दू इन्हें जनसाधारण के कुओं से पानी भरने दें तो भी मुसलमान उन्हें ऐसा करने से जबरदस्ती रोकेंगे क्योंकि चमार तो मुर्दा मांस खाते हैं।

मैं जानता हूं कि हजारों चमार ऐसे हैं जो न शराब पीते हैं और न किसी प्रकार का मांस खाते हैं। इनमें से कुछ जो मुर्दा मांस खाते हैं, आर्य समाजियों ने उनकी यह गन्दी आदत छुड़वाई है। लेकिन मैं यह पूछता हूं कि क्या मांसाहारी हिन्दू और मुसलमान जीवित प्राणियों का मांस निगलते हैं। क्या वे भीं इन जीवों का मांस मरने के बाद नहीं खाते।

नागपुर में आपने 12 मास में स्वराज्य प्राप्त करने की शर्तो में एक शर्त यह निर्धारित की थी कि दलितों को उनका अधिकार दिलाना है। परन्तु उनके उत्थान की पूर्णता की प्रतीक्षा किये बिना आपने यह घोषणा कर दी कि यदि 30 सितम्बर तक विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार को पूरा कर लिया जाता है तो एक अक्टूबर को स्वराज्य एक उपलब्ध वास्तविकता के समान होगा। स्वदेशी वस्त्रों का प्रसार निश्चित रूप में आवश्यक है किन्तु जब तक हमारे 6–1/2 करोड़ दलित जातियों के भाई ब्रिटिश नौकरशाही की शरण ले रहे हैं तब तक स्वदेशी का प्रसार भी असम्भव होगा।

अब मैं अपनी सीमित शक्ति को दलित जातियों के उत्थान में लगा देना चाहता हूं। मैं नहीं समझता कि इन तथाकथित अपने अछूत भाइयों के हमारे साथ मिले बिना प्राप्त किया स्वराज्य भारत राष्ट्र के लिये हितकारी सिद्ध होगा।

मैं यह पत्र आपको मात्र यह सूचना देने के लिए लिख रहा हूं कि अब मैं वर्किंग कमेटी से आर्थिक सहायता के लिए आवेदन नहीं करुँगा। मैं अपने सीमित साधनों से जो कुछ बन पड़ेगा, करुँगा।

मैं, आपका ध्यान अन्य अत्यावश्यक विषय की ओर दिलाना चाहता हूं। आंपने जलियांवाला बाग की सभी भूमि खरीदने पर बल दिया है। यह किया जा चुका है। इस सौदे में मेरी भी थोड़ी भागीदारी रही है। आपने अपने महान् प्रभाव से इस उद्देश्य के लिये धन–संग्रह किया। वह स्थान खरीद लिया गया है और शहीदों का उपयुक्त स्मारक बनाने के लिये लगभग अढ़ाई लाख रूपया पड़ा है । किन्तु जलियांवाला बाग के आहते की दशा से मैं बहुत दुःखी हुआ। मुझे यह बताया गया कि जब लार्ड रीडिंग इस स्थान को देखने के लिये आये थे तो सरकार के एक उच्च्व यूरोपीयन अधिकारी ने कहा था कि इस स्थान पर हुये रक्तपात को लेकर भारतीयों में कोई बड़ा रोष दिखाई नहीं पड़ता। यह तो कुछ आन्दोलनकारियों द्वारा उठाया गया हुल्लड़ है। क्या आप इस पर थोड़ा ध्यान देंगे।

आपने जलियांवाला स्मारक पर जोर दिया है। आपने उसको अधूरा छोड़कर कलकत्ता मे अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया। देश के अत्यधिक बहुमत ने आपके आदेश के

आगे सिर झुकाया। इस कार्यक्रम द्वारा आप नौकरशाही को अपंग कर देना चाहते है। इस संबंध में पहली बात तो पदवियों को छोड़ने की बात है। इससे सरकार को ठप्प नहीं किया जा सकता। यदि हम सरकारी तथा अर्धसरकारी शिक्षण संस्थाओं से आधे विद्यार्थियों को भी बाहर निकालने में सफल हो सकते तो कुछ प्राप्त कर सकते थे। मेरी विनम्र सम्मति में इस आन्दोलन से हमें कुछ प्राप्त नहीं हुआ। इस संबंध में केवल बचा हुआ कार्य यह है कि हम नव स्थापित राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करें और शिक्षण की एक राष्ट्रीय योजना तैयार करें। इसके लिये भड़काऊ आन्दोलन की आवश्यकता नहीं है। अगली बात यह है कि यदि तीन–चौथाई वकील और वैरिस्टर अपनी वकालत छोड़ देते, तो कुछ हलचल मच जाती। लेकिन इसमें भी कुछ सफलता नहीं मिली। जिन उच्च आत्मा वाले वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ी, उन्होंने राष्ट्र के राजनैतिक दृष्टिकोण को ऊँचा उठाने में मदद की है। किन्तु इससे भी हम सरकार को ठप्प करने में सफल नहीं हुए।

इसके बाद हम नागपुर अधिवेशन में स्वराज्य प्राप्ति के लिये निर्धारित शर्तो को पूरा करने में सफल नहीं हुए। आपकी विजय के जलूस आपको वास्तविक स्थिति से अवगत नहीं होने देते। विगत कुछ दिनों में, मैंने पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त के द्वितीय श्रेणी के हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं से बातचीत की है। इन्हीं नेताओं के हाथ में जनता की बागडोर है। मैं जानता हूं कि दोनों सम्प्रदायों के मध्य आपसी विश्वास में कमी आई है। दक्षिण में ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का विवाद सुलझा नहीं है और दलित जातियों को आत्मसात् करने में एक भी कदम नहीं उठाया है। आपने इस संबंध में जो किया है और बहुत कुछ किया है, यह प्रंशसनीय है। परन्तु उसका प्रभाव शेष असहयोगियों ने मिटा दिया है।

इन सबकी उपेक्षा करके आपने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को ही स्वराज्य–प्राप्ति का एक मात्र उपाय घोषित किया है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने पुनः आपके निर्णय को नतमस्तक होकर स्वीकारा। विगत कुछ सप्ताहों में स्वदेशी वस्त्रों को लोकप्रिय बनाने में बहुत कुछ किया गया है। इससे विदेशी वस्त्रों के आयात पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। परंच आपने पुनः घोषणा कर दी कि यदि 30 सितम्बर, 1921 तक विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार पूरा नहीं होता तो स्वराज्य प्राप्ति की सम्भावना में 12 मास और व्यतीत हो जायेंगे।

उपर्युक्त तथ्यों पर दृष्टिपात यह दर्शाता है कि आपकी सोच है कि सविनय अवज्ञा तथा उसके परिणामस्वरूप करों की अदायगी को रोका जाता है तो हिंसा भड़क उठने की सम्भावना है, और मैं भी इसकी सच्चाई में विश्वास करता हूं। किन्तु हमारे दृष्टिकोणों में अन्तर है। आपकी मान्यता है कि जनसामान्य को इतना अनुशासित नहीं किया है कि वे अहिंसक रह सकें जबकि मैं सोचता हूं कि यदि जन सामान्य अनुशासित भी हो जाये तो भी नौकरशाही के सच्चे आश्रितों द्वारा इतने भड़कायें जायेंगे कि जन साधारण का अहिंसक रहना सम्भव नहीं होगा। शायद कराची के खिलाफत सम्मेलन ने एक गणतन्त्र स्थापित करने का प्रस्ताव पारित किया है, जिसे बम्बई में मौलाना शौकत अली ने इस प्रकार के शब्दों में समर्थित किया है – जब तक सरकार खिलाफत के विषय तथा पंजाब की शिकायतों को नहीं सुलझाती तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आगामी अहमदाबाद अधिवेशन में आजादी का परचम फहरा देंगे। क्या स्वराज्य की समस्या को सुलझाने की यह उचित प्रक्रिया है?

साढ़े छः करोड़ तथाकथित अछूत आपसे अलग हो गए हैं। मद्रास के अब्राह्मण आपके कट्टर विरोधी हैं। प्रतिभा के ठेकेदार लोग, नरम दलीय ये सब सरकार के समर्थक ही नहीं है अपितु उससे

दस कदम आगे जाने वाले हैं। उत्तर भारत के लोग दक्षिण भारत वालों से भिन्न हैं। आप जो भी आदेश दें, उसका बिना ननुनच के 25 दिसम्बर, 1921 (कांग्रेस अधिवेशन के आरम्भ होने से एक दिन पूर्व) तक अवश्य पालन होना चाहिए। यदि उस दिन तक वह स्वराज्य प्राप्त नहीं होता जिसके लिये लोगों ने दीप्तिमान बलिदान किये हैं तो आपको भावी कार्यक्रम की योजना लेकर तैयार रहना चाहिए। किन्तु सम्भव है कि आपकी दिव्यदृष्टि ने यह सब देख लिया है, जो जन साधारण से छिपा है।

आपका शुभचिन्तक

श्रद्धानन्द संन्यासी

उपर्युक्त पत्र के तेवर यह दर्शाते हैं कि नीतियों के सम्बन्ध में स्वामी जी महात्मा गांधी की आलोचना करने से भी नहीं कतराते थे। यही आलोचना आगे चलकर शनैः शनैः मतभेदों के ऐसे बिन्दुओं पर पहुंच गई कि स्वामी जी को कांग्रेस से ही अलविदा कहनी पड़ी। गांधी जी का स्वराज्य प्राप्ति का नया नारा 'विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार' का था। 1902 ई0 में गुरुकुल कांगड़ी का भार सम्भालने से बहुत पहले ही स्वामी जी ने स्वदेशी को अपना लिया था। इसलिये विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार उनके लिये कोई नई वस्तु नहीं थी। किन्तु जब महात्मा गांधी ने सारे विदेशी वस्त्रों को जला डालने का आदेश दिया और जब यह कार्य बम्बई में एक बड़े प्रदर्शन के रूप में किया जाने वाला था तो स्वामी जी ने महात्मा जी को तार भेजकर कहा कि "वे ऐसा करके विदेशियों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न न करें तथा उतारे गये विदेशी वस्त्रों को भारत के भूखे तथा नंगे लोगों में बांटने की आज्ञा दे दें[48]।" महात्मा गांधी के विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के सम्बन्ध में दिये प्रेस वक्तव्य से स्वामी जी सन्तुष्ट हो गए। इधर विदेशी वस्त्रों को जलाना भारतवासियों का धार्मिक कर्तव्य है, यह सोचकर देश के चोटी के नेताओं ने हजारों रुपये के मूल्य के वस्त्रों की होली जलाई तो उधर खिलाफत वाले मुसलमानों ने महात्मा जी से यह आज्ञा ले ली कि वे विदेशी वस्त्रों को अपने तुर्की भाइयों के लिये बाहर भेज सकेंगे।

स्वामी जी के लिये महात्मा गांधी का यह दोहरा आचरण एक भयानक आघात के समान था। स्वामी जी के अनुसार महात्मा जी हिन्दू भावनाओं के प्रति किंचिन्मात्र भी सम्मान न दिखाकर कठोर रुख अपना लेते थे तथा मुसलमानों के द्वारा स्वकर्तव्य के प्रति लापरवाही दिखाने पर भी उनके हृदय में उनके प्रति कोमल भावना रहती थी। तुर्की की राजधानी अंकारा में विदेशी वस्त्र भेजने का मुसलमानों में इतना उत्साह था कि स्वामी जी की अनुपस्थिति में उनके मकान पर जलाने के लिये एकत्र किये गये विदेशी वस्त्रों को भी उठा ले गए। स्वामी जी महात्मा गांधी के इस विचित्र आचार शास्त्र को समझने में असमर्थ रहे कि जिन वस्त्रों से इस देश के लाखों गरीबों के नंगेपन को ढका जा सकता था, उन्हें इससे वंचित करना तथा उन्हीं कपड़ों को दूरस्थ देश में भेजने की क्या तुक है?

हताशा की स्थिति में गुरुकुल से त्याग पत्र

इधर महात्मा जी के साथ स्वामी जी उलझे हुये थे, तो उधर गुरुकुल के सम्बन्ध में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अधिकारों को लेकर स्वामी जी और सभा मन्त्री महाशय कृष्ण के मध्य विवाद अखबारों की सुर्खियों में झांकता दिखाई दे रहा था। स्वामी जी के साथ की गई समझौते की शर्तें प्रायः तोड़ दी गई थीं। महाशय कृष्ण अपनी तूती द्वारा बोल रहे थे कि अभी गुरुकुल के उद्देश्य निश्चित होने को हैं। महाशय कृष्ण की गुरुकुल विरोधी गतिविधियों को देखते हुए आर्य समाजी क्षेत्र में विरोधी प्रतिक्रिया होनी निश्चित थी। सर्वप्रथम इस विषय में गुरुकुल के सहायक मुख्याधिष्ठाता इन्द्र ने 9 माघ, 1977 के श्रद्धा के अंक में लिखा कि "कोई अनजान यदि ऐसी बात

कहता तो दुःख न था, पर दुःख तो यह है कि गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव से तीन मास पूर्व, जबकि आर्य पुरुष गुरुकुल के लिये चन्दा जमा करने की तैयारियों में थे, 'प्रकाश' के सम्पादक महाशय कृष्ण ने आर्य जनता को यह बतलाकर बहकावट में डाल दिया है कि गुरुकुल का उद्‌देश्य अभी निश्चित होने को है। जब महाशय कृष्ण ने इतनी अनभिज्ञता प्रकट की तो क्या आश्चर्य था कि 'आर्य गजट' को गुरुकुल के संबंध में बहुत कुछ लिखने का अवसर मिल गया ('आर्य गजट' के लेख की उपेक्षा हो सकती है पर महाशय कृष्ण की भूल की उपेक्षा नहीं की जा सकती।'' इसी लेख में महाशय कृष्ण से प्रार्थना की गई थी कि गुरुकुल पर समाचार पत्रों में तिरछे वार करना छोड़ कर प्रतिनिधि सभा अथवा अन्तरंग सभा में गुरुकुल के उद्देश्य का प्रश्न उपस्थित करके उसका निबटारा करवा लें। पर 'प्रकाश' के सम्पादक ने तिरछे वार बन्द नहीं किए। महाशय कृष्ण और रामदेव के प्रति आर्य समाजियों ने निन्दा के प्रस्ताव पारित करने आरम्भ कर दिए।) स्वामी जी ने इस प्रवृत्ति को घातक समझ कर रोका और जिन आर्य समाजों ने प्रस्ताव पारित कर दिये थे उन्हें लिखा कि ''यह जानकर दुःख हुआ कि आपके आर्य समाज की अन्तरंग सभा ने महाशय कृष्ण पर मेरे कारण 'मलामत का वोट' पास किया है। ये सज्जन आर्य समाज की दिल से सेवा कर रहे हैं। यदि ये सच्चे दिल से मेरे अमल को आर्य समाज के लिए हानिकारक समझते हैं तो क्यों न मेरे विरुद्ध लेखनी उठावें? यदि मेरा अपराध न होगा तो मुझे कोई जोखम नहीं और यदि सचमुच मेरा अपराध है तो उससे लोगों को सावधान रहना चाहिए .... महाशय! आर्य समाज में पहले ही काम करने वाले कम हैं। आप क्यों श्रेष्ठ काम करने वालों को धर्म–सेवा से उदासीन करने का पाप अपने सिर पर लेते हैं और जिन कठोर वचनों का आपने प्रयोग किया है, उन्हें लौटा लीजिए[40]।''

अन्त में स्वामी जी ने 9 ज्येष्ठ, 1978 वि0 को दिल्ली से सभा प्रधान को लिखा कि ''मेरे विरुद्ध जो– फैलना था, वह फैल चुका है और आगे भी गुप्त रीति से फैलेगा, वह भी फैलता रहे। मैं नोटिस नहीं लूंगा। अब तो लाहौर भी नहीं जाऊँगा। न कुछ सभा को सुनाऊँगा। गुरुकुल से जो त्याग पत्र भेजा था, बल्कि जिस पर अमल कर छोड़ा है, काफी समझता हूँ। आपकी सभा से अब मेरा सम्बन्ध समाप्त हुआ। अब संन्यासी स्वनिर्मित संस्था के मोहपाश से मुक्त थे। इस प्रकार इस बार भी गुरुकुल के अलग होने की कहानी पहली कहानी की ही पुनरावृत्ति है। परन्तु पहली कहानी का नायक महात्मा मुंशीराम संन्यास लेने पर भी हतोत्साह नहीं था। गुरुकुल से विदाई प्रेममय थी, उसमें खिन्नता के स्थान प्रसन्नता, सम्बन्ध तोड़ने की अपेक्षा सम्बन्ध जोड़ने की पुनीत भावना थी। परन्तु दूसरी बार की कहानी का नायक स्वामी श्रद्धानन्द हताश और निराश स्थिति में विदाई ले रहा था। उसके असिद्ध स्वप्नों की माला के दाने बिखर गए थे। इस बार का स्वामी पुराने अनुभवों से कुछ नहीं सीख सका। वह गुरुकुल में आने पर वर्तमान की दीवार पर लिखी इबारत को नहीं पढ़ सका और अपने आपको सर्वेसर्वा समझ कर कार्य सीमाएं पार करने लगा। परिणाम सामने आया और 'अपने ही कूचे से अपमानित होकर' निकलना पड़ा। इसको नियति कहें, या स्वामी जी की प्रकृति कहें या समाज की विकृति कहें, कुछ समझ में नहीं आता। लेकिन जो कुछ भी हुआ, वह आर्य समाज के क्षेत्र के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था।

गुरुकुल से विदाई लेने के पश्चात उड़ाने भरने के लिए स्वामी जी के पास कांग्रेस का विस्तृत आकाश था। इस आकाश का ओर–छोर स्वामी जी द्वारा परखा और पहचाना हुआ था। इस आकाश के ध्रुव तारे महात्मा गाँधी के सप्तर्षियों में से स्वामी जी एक थे। इस ध्रुव तारे के भारतीय आकाश में उदित होने से पूर्व ही पत्राचार के माध्यम से गाँधी जी से 'भाई साहेब' का नाता जुड़ चुका था। कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन की प्रातःकालीन लाली में एक भगवावेशधारी संन्यासी की लाली भी मिल गई थी।

युवराज के बहिष्कार की योजना

3–4 नवम्बर, 1921 को दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलाई गई। इस कमेटी की बैठक में सविनय अवज्ञा आन्दोलन की शर्तें तय कर ली गई और महात्मा गाँधी को बारदोली तालुका में सविनय अवज्ञा के आन्दोलन को जारी करने की तैयार के लिये आज्ञा दे दी गई। इसी समय 7 और 8 नवम्बर को हिन्दुओं के एक विशेष सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में सरकार के विरुद्ध कांग्रेस द्वारा स्वीकृत अहिंसात्मक असहयोग के कार्यक्रम को इसलिए चलाने के लिए कहा गया था क्योंकि सरकार ने हिन्दुओं द्वारा की गई गोरक्षा–विषयक–प्रार्थनाओं को अनसुना कर दिया था। इस सम्मेलन में पारित प्रस्तावों में कहा गया था कि ''चूंकि ब्रिटिश युवराज का आगमन ब्रिटिश सरकार की शक्ति को बढ़ाने का कारण बनेगा। अतः प्रत्येक हिन्दू का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वह युवराज की भारत यात्रा का पूर्ण बहिष्कार करें। उसे विदेशी वस्तुओं का भी बहिष्कार करना चाहिए और शुद्ध स्वदेशी धारण करना चाहिए। फौजी छावनियों में लाखों गायें प्रतिवर्ष काटी जाती हैं, इसलिये भी हिन्दू को पुलिस और सेना में विशेषतया और विभागों में सामान्यतया नौकरी नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त प्रस्तावों के क्रियान्वयन के लिये जो उपसमिति गठित की गई स्वामी जी को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। आर्य समाज के क्षेत्र से तिरस्कृत हुए संन्यासी की कार्यक्षमता, राजनैतिक स्थिति और हिन्दू समुदाय पर प्रभाव को देखते हुए ही हिन्दू महासभा ने अवसर का लाभ उठाया। इससे स्वामी जी को यह लाभ हुआ कि हिन्दू महासभा में प्रविष्ट होने के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। अब स्वामी जी कांग्रेस और हिन्दू महासभा नामक दोनों ही घोड़ियों के सवार थे।

कांग्रेसी मुसलमानों की हिन्दू विरोधी मानसिकता

17 नवम्बर, 1921 को बम्बई में प्रिंस आफ वेल्स (ब्रिटिश युवराज) आ गए और एक भीषण दंगा हो गया। इस अवसर पर स्वामी जी 22 नवम्बर को होने वाली कांग्रेस की कार्यसमिति में भाग लेने बम्बई के लिए चल पड़े। गाँधी जी ने बम्बई के दंगें में कांग्रेस के असहयोगी आन्दोलन के समर्थक व्यक्तियों की संलिप्ता को स्वीकारते हुए अपने साथियों की निन्दा की और अनशन करके सत्याग्रह आरम्भ करने की धमकी दे दी। परिस्थिति की स्पष्टता के लिए स्वामी जी ने 1 दिसम्बर को महात्मा गाँधी जी से यह जानना चाहा कि क्या उन्होंने स्वयं अपनी ऑखों में असहयोग आन्दोलन के समर्थकों को दंगे में सम्मिलित होते देखा था। गॉधी जी का उत्तर स्पष्टतः हां में था। गाँधी जी के उत्तर के प्रत्युत्तर में स्वामी जी ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि ''गांधी टोपी तथा खद्दर के वस्त्र पहने हुये दंगाई कांग्रेसी न होकर सी0आई0डी0 के आदमी थे। स्वामी जी की यह टिप्पणी 'टाइम्स आफ इण्डिया' नामक समाचार की सूचना के आधार पर थी। देश की राजनैतिक परिस्थिति की नौबत यहां तक पहुंच गई थी कि गाँधी जी निराश हो चुके थे और कांग्रेस का विश्वास भी हिल चुका था। लेकिन सरकार ने 'क्रिमिनल एमेण्डमेन्ट एक्ट' लगाकर लोगों को चुनौती दे दी। गाँधी जी के पक्ष में लोगों का एक बार और झुकाव हो गया। स्वामी जी ने उन लोगों का साथ देना उचित समझा जो सरकार को चुनौती दे रहे थे।

इसके पश्चात् स्वामी जी दिसम्बर, 1921 के अन्त में होने वाले अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिए चले गये। इस अधिवेशन के समय राजनैतिक उत्साह अपनी चरम सीमा पर था और हिन्दू–मुस्लिम एकता का बाह्य प्रदर्शन चरम बिन्दु पर पहुंचा हुआ था। इस अधिवेशन में स्वामी जी ने अनुभव किया कि कांग्रेस की हिन्दू–मुस्लिम एकता कितनी खोखली है। कार्य समिति में हिन्दुओं पर मोपलाओं द्वारा किये गये अत्याचारों की निन्दा का प्रस्ताव आया तो यह प्रस्ताव सर्वसम्मति

से पारित नहीं हो सका। कट्टर राष्ट्रवादी मुसलमान सदस्यों तक ने यह कहा कि मोपलाओं के शत्रु हिन्दू लोग अंग्रेजी सरकार से मिले हुए हैं। इसलिए यदि मोपलाओं ने हिन्दुओं को कुरान या तलवार में से एक को चुनने के लिए कहा तो क्या गलत था? और यदि अपने को मौत से बचाने के लिए हिन्दू लोग मुसलमान भी बन गए तो यह तो स्वैच्छिक धर्म–परिवर्तन ही था, इसे बलात् परिवर्तन नहीं कहा जा सकता[50]। उपर्युक्त वक्तव्य से स्वामी जी को निश्चय हो गया कि मुसलमानों का हिन्दुओं के प्रति द्वेषभाव दृढ़ मूल है और कट्टर राष्ट्रवादी मुसलमान भी इससे अछूते नहीं हैं। अहमदाबाद अधिवेशन में महात्मा गाँधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रथम सर्वाधिकारी घोषित कर दिया गया। उन्हें यह अधिकार भी दिया गया कि यदि वे गिरफ्तार हो जायें तो वह अपने उत्तराधिकारी की घोषणा स्वयं कर सकेंगे। स्वामी जी महात्मा जी को सर्वाधिकारी बनाने के पक्ष में तो थे लेकिन उनके द्वारा उत्तराधिकारी की नियुक्ति करने के समर्थक नहीं थे। वे चाहते थे कि यह नियुक्ति कार्यकारिणी द्वारा होनी चाहिए। किन्तु महात्मा जी की इच्छा के आगे स्वामी जी को झुकना पड़ा।

गाँधी जी से मतभेद के कारण

अहमदाबाद के अधिवेशन से पूर्व तक के कांग्रेस के कार्यक्रमों में महात्मा गाँधी से मतभेद होने पर प्रायः स्वामी जी व्यक्तिगत सम्पर्क अथवा पत्र–व्यवहार द्वारा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते रहते थे। अहमदाबाद अधिवेशन के पश्चात् सर्वाधिकारी बनने पर महात्मा गांधी के प्रति स्वामी जी के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। इस परिवर्तन को उन्होंने व्यक्तिगत अथवा पत्राचार द्वारा प्रकट न करके बम्बई के समाचार पत्रों में प्रकाशनार्थ भेज दिया। स्वामी जी की मानसिक परिवर्तन की प्रतिक्रिया कितनी तीव्र थी इसका परिचय प्रकाशनार्थ भेजे गए निम्न वक्तव्य से प्रकट होती है–

"अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति अभी तक निर्माणाधीन है, तथापि महात्मा गांधी ने उन लोगों के दृष्टिकोण के आधार पर अपने मत को प्रकट करना उचित समझा है जो लोग वर्तमान क्षण में ही भारतवासियों की आकांक्षाओं के लक्ष्य के रूप में पूर्ण स्वराज्य पर जोर देते हैं। सम्भवतः महात्मा जी सोचते हैं कि उनके लिए डिक्टेटर की समस्त शक्तियां ग्रहण करने का समय आ गया है। यही आशंका उन्हें तथा कतिपय अन्यों को अहमदाबाद में पीड़ित कर रही थी। यदि महात्मा जी बड़ी चतुराई से उन लोगों को अपने संशोधनों को वापिस ले लेने के लिए मना नहीं लेते, जिन्होंने डिक्टेटरों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अपने संशोधन रखे थे, और यदि उन्होंने इन लोगों को पूर्ण प्रस्ताव पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए न कहा होता तो खुले अधिवेशन में संशोधन रखे जा सकते थे, किन्तु वे जानते थे कि ऐसा होना असम्भव है। महात्मा जी से अहिंसक असहयोग के अनेक पहलुओं पर मेरा मतभेद है क्योंकि मैं यह मानता हूं कि समस्त आन्दोलन का सार तत्व ही मन, वचन और कर्म की अहिंसा है तथा हिन्दू शास्त्रों को मूल रूप में पढ़े बिना ही हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों पर अपने व्यक्तिगत विचारों को ही प्रामाणिक रूप में मनवाने की उनकी धृष्टता की निन्दा करता हूं। फिर भी मैंने उनके साथ काम किया है क्योंकि मेरे विचार में इस समय उनके इस आन्दोलन में ही हमारी मातृभूमि की मुक्ति निहित है। तथापि उनके दैवी चरित्र के प्रति अपना सम्पूर्ण आदर तथा श्रद्धाभाव रखने पर भी मैं 'यंग इण्डिया' के 5 जनवरी, 1922 के अंक में प्रकाशित उनकी विज्ञप्ति के विरोध में अपना प्रतिवाद प्रकाशित किए बिना नहीं रह सकता।"

स्वामी जी का गाँधी जी से मतभेद दो मुख्य बातों को लेकर था। प्रथम बात महात्मा गाँधी द्वारा अपने आन्दोलनों में प्रयुक्त विधियों से सम्बन्धित थी और दूसरी बात महात्मा जी का अपने नेतृत्व में तानाशाही रवैया थी। मतभेद की सर्वप्रथम झलक 14 मई, 1920 को गाँधी जी के नाम लिखे पत्र में दिखाई पड़ती है। विषय की दृष्टि से यह मतभेद अस्पृश्यता और मुसलमानों के रूप में था।

अहमदाबाद में स्वामी जी ने अपने आर्य भाइयों के आग्रह करने पर 20 जनवरी तक आर्य समाज सम्बन्धी उत्सवों तथा अन्य धार्मिक कार्यक्रमों के लिए समय देना स्वीकार कर लिया था। वहां से दिल्ली वापिस आने पर स्वामी जी ने अधूरे पड़े 'शहीद स्मारक फण्ड' के कार्य को अपने हाथों में लिया। स्वामी जी हिन्दुओं से धन संग्रह का काम पहले ही पूरा कर चुके थे, अब मुसलमानों से चन्दा लेना शेष था। लेकिन डा0 एम0 ए0 अंसारी ने कांग्रेस से सहानुभूति रखने वाले मुसलमानों से कह दिया कि जब तक अंकोरा फण्ड (तुर्की के मुसलमानों की सहायता के लिए) के लिए एक लाख रुपया इकट्ठा न हो जाये, तब तक वे स्वामी जी की अपील की उपेक्षा करें।

इसके बाद स्वामी जी ने दिल्ली कांग्रेस के अध्यक्ष डा0 अंसारी से 'क्रिमिनल एमेण्डमैन्ट एक्ट' के विरोध में सत्याग्रह करने की आज्ञा मांगी। लेकिन डा0 अंसारी ने नये स्वयंसेवकों की एक निश्चित संख्या की भर्ती को पुनः उन्हें टुकड़ियों में बांटने की बात और नायकों को नियुक्ति आदि का बहाना बनाकर स्वामी जी को सत्याग्रह करने से रोक दिया। किन्तु दिल्ली की महिला स्वयं सेविकाओं ने नागरिकों को प्रेरणा दी कि प्रिंस आफ वेल्स के दिल्ली आगमन पर नगर में पूर्ण हड़ताल की जानी चाहिए। स्वामी जी ने इस अवसर पर हिन्दू गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष के नाते प्रिंस के आगमन पर हड़ताल करने की प्रेरणा देने वाले पोस्टरों को जन समान्य में वितरित करवाया। इसके अतिरिक्त प्रैस द्वारा गौधातकों के पुशतपनाह, प्रिंस के स्वागत से अलग रहने को हिन्दू मात्र को सलाह दी। हिन्दू विश्वविद्यालय के संचालक पण्डित मदन मोहन मालवीय से भी प्रेस द्वारा प्रश्न किया कि जिस प्रिन्स के साथ मनों गौमांस जहाज के द्वारा कई दिनों के भोजन के लिये आया है, उसको किस मुंह से हिन्दू संस्था की ओर से उपाधि देने के लिये बुला रहे हो। इस अवसर पर दिल्ली कांग्रेस कमेटी कुम्भकर्णी नींद में सोई रही। इस स्थिति में दिल्ली कांग्रेस के नेताओं से खिन्न स्वामी जी ने महात्मा जी को निम्न पत्र लिखा–

दिल्ली, 7 फरवरी, 1922

आदरणीय महात्मा जी,

मैं आज पुनः आपको पत्र लिख रहा हूं। मैंने आप द्वारा वायसराय को लिखा पत्र पढ़ा है। यदि बारदोली में सत्याग्रह की पूरी तैयारी नहीं है तो मैं नहीं समझ पाता कि इसके लिए इतनी शीघ्रता क्यों की जा रही है। इसकी तुलना में दिल्ली सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए न्यूनतम रूप में तैयार नहीं है। मैंने वायसराय का उत्तर भी पढ़ा है। वह भ्रामक तर्कों से परिपूर्ण है। उसे अपनी सैनिक शक्ति पर विश्वास है।

मैं, यहां युवराज के आगमन तक ठहरुंगा। यहां के नेता घरों से बाहर नहीं निकलना चाहते हैं। शराब और नशीली दवाओं के ठेके नीलाम हो चुके हैं। इससे कोई हलचल नहीं हुई। मैंने हिन्दू सभा की ओर से पूर्ण हड़ताल करने के पोस्टर बांटे हैं, किन्तु जब तक प्रदेश और जिला कांग्रेस कमेटियों के अध्यक्ष अपनी स्वीकृति नहीं देते तब तक कुछ भी नहीं हो सकता।

यहां सरकार की दमनात्मक नीतियों का विरोध करने के लिए कोई कार्य नहीं हो रहा है। महिलायें जुलूस बनाकर जाती हैं जबकि पुरुष घरों में मुँह छुपाये बैठे हैं। इसलिए मैं इस कार्य में सफल नहीं हो सकता। सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन का मुख्य विषय करों को न देने के लिए लोगों को तैयार करना है। परन्तु दिल्ली के लोगों को न तो खद्दर पहनने के लिए, और न चरखा कातने और करघों पर बुनने के लिए तैयार किया गया है। अछूतों के प्रति घृणा के भावों को दूर

करने में भी कांग्रेस को सफलता नहीं मिली है। शान्त वातावरण की सम्भावना की चर्चा करना तो निरर्थक ही है। इसके अतिरिक्त असहयोग की शेष बचे विषयों से भी मैं असहमति रखता हूं।

इन्हीं कारणों से मैं 15 या 16 फरवरी, 1922 को दिल्ली से चल पड़ूंगा और आर्य समाज का इतिहास लिखने का काम हाथ में लूंगा। ईश्वर पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने में उसी प्रकार आपके सहायक हो जिस प्रकार आपके द्वारा भारत के लोगों में सत्य, निर्भीकता की भावना भरने में सहायक हुए थे। यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

मैं वायसराय को लिखे आपके पत्र के अन्तिम भाग से सहमत नहीं हूं, जिसमें आपने नवीन मांगे प्रस्तुत की हैं। इसका अभिप्राय यही होगा कि पारस्परिक समझौता नहीं हो सकता है।

आपका शुभचिन्तक

श्रद्धानन्द संन्यासी

'चौरीचौरा काण्ड' महात्मा गाँधी द्वारा चलाए जाने वाले अहिंसक आन्दोलन में एक वज्रपात की भाँति आया। स्वामी श्रद्धानन्द के मन्तव्य के अनुसार इसकी प्रतिक्रिया इतनी भीषण नहीं हुई होती, यदि असहयोग आन्दोलन की घोषणा तुरही नाद के साथ महात्मा गांधी जी द्वारा नहीं की जाती। साबरमती के आश्रम बारदौली के लिए प्रस्थान करने से पूर्व महात्मा जी ने साबरमती नदी के किनारे पर सवा लाख से अधिक लोगों को सम्बोधित किया था। इस सम्बोधन में लंगोटी धारण करने वाला जनता का बेताज बादशाह कह उठा "मैं चाहता हूं कि गुजरात में कई जलियांवाला बाग जैसे काण्ड हों। मैं चाहता हूं कि अंग्रेजों की गोलियों से मेरी मौत हो। मैं चाहता हूं कि अंग्रेज की गोलियों से बहुसंख्यक गुजराती मारे जायें इत्यादि!"

स्वामी श्रद्धानन्द के अनुसार महात्मा गांधी के उपर्युक्त भाषण का सार पांच वाक्यों के तार द्वारा इधर–उधर पहुंचा, तो सारा देश उत्तेजित हो उठा[51]। इस काण्ड के विषय में स्वामी जी ने महात्मा जी को निम्न तार भेजा–

"चौरीचौरा काण्ड अत्यन्त भयानक है। कृपया आकामक प्रचार बन्द करें। दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस की बैठक बुलाये। नवीन कार्यक्रम बनायें[50]।"

श्रद्धानन्द संन्यासी

बारदोली में 11 फरवरी, 1922 को कार्यकारिणी की बैठक बुलाकर एक प्रस्ताव पारित किया गया कि "सार्वजनिक स्तर पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन तब तक स्थगित रखा जाएगा, जब तक कि वातावरण इतना अहिंसक न बन जाये, ताकि गोरखपुर (चौरीचौरा) में घटित अत्याचारपूर्ण घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो तथा 17 नवम्बर, 1971 और 13 जनवरी, 1922 को क्रमशः बम्बई और मद्रास में घटी गुण्डागर्दी की घटनाएं फिर न घटें।"

उपर्युक्त प्रस्तावों की संपुष्टि के लिए दिल्ली में 24 और 25 फरवरी, 1922 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक आमन्त्रित की गई। दिल्ली की बैठक में बारदोली प्रस्ताव के विरुद्ध बुलन्द आवाजों को सुनकर महात्मा गांधी को कुछ संशोधनों के साथ प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। स्वामी जी ने भी एक संशोधन रखा था, जो इस प्रकार था–

(1) आज के परिवर्तित प्रस्ताव के आगे यह अंश बढ़ाया जाये – "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी यह निर्णय लेती है कि कांग्रेस संगठन के बाहर के लोगों द्वारा की गई किसी भी हिंसा के

लिए वह उत्तरदायी नहीं होगी तथा यदि कांग्रेस का कोई सदस्य व्यक्तिगत रूप में दोषी पाया जाता है तो उसे कांग्रेस कमेटियों तथा अन्य सम्बन्धित संस्थाओं से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। यदि उपर्युक्त संशोधन अस्वीकृत कर दिया जाता है तो मैं प्रस्ताव रखता हूं–

(2) सविनय अवज्ञा आन्दोलन चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक, समाप्त कर दिया जाए[63]।"

कांग्रेस के मन्त्री बिट्ठल भाई ने स्वामी जी को अपना संशोधन वापिस लेने के लिए तर्क सहित मनाने का प्रयास किया। अन्त में अपनी असफलता को देखकर वे स्वामी जी को महात्मा गांधी के पास ले गये। महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत युक्तियाँ भी स्वामी जी को संशोधन वापिस लेने में कारगर सिद्ध नहीं हुई। अन्त में महात्मा गांधी ने आत्मीयता का सहारा लेते हुए कहा कि "कमेटी में कोई भी व्यक्ति आपका समर्थन नहीं करेगा और मुझे उस समय बड़ी शर्म महसूस होगी जब मैं देखूँगा कि मेरे भाई साहब का संशोधन समर्थन के अभाव में ठुकरा दिया गया है।" गांधी जी की बात सुनकर स्वामी जी ने उत्तर देते हुए कहा – "महात्मा जी! आत्मा की आवाज पर चलने का एकाधिकार अकेले आपको ही नहीं मिला है। मैं अपने विवेक के अनुसार कार्य करता हूं और ऐसा करते समय यदि मैं केवल एक के अल्पमत से रह जाऊँ, तो भी मैं अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहने में आपका ही अनुसरण करुँगा।" परन्तु इतना सुनने पर भी महात्मा जी चाहते थे कि स्वामी जी अपना संशोधन वापिस ले लें। महात्मा गांधी के मनोभाव को जानकर स्वामी जी ने पूछा – क्या उनका अड़े रहना कमेटी के कार्य में बाधक होगा। गांधी जी का संक्षिप्त सा उत्तर था "हमको मिटिंग में हरकत होगी।" गांधी जी के इस उत्तर से स्वामी परास्त हो गए और उन्होंने खुले अधिवेशन में अपने संशोधन को वापिस लेने का वचन दिया किन्तु साथ में यह भी कहा कि इसके बाद कांग्रेस के कार्य से मेरा कोई वास्ता नहीं रहेगा[64]। इसके बाद अपने साहित्यिक कार्य को पुनः आरम्भ करने के लिए गुरुकुल कुरुक्षेत्र चले गए और 12 मार्च, 1922 को औपचारिक त्याग पत्र भेज दिया। त्याग पत्र का मूल पाठ इस प्रकार था–

"मैं कल दिल्ली से कुरुक्षेत्र के लिए प्रस्थान कर रहा हूं और निकट भविष्य में कांग्रेस के किसी विचार–विमर्श में भाग नहीं ले सकूँगा। मैं मानता हूं कि महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित उच्च आदर्शों के अनुकूल शान्त और अहिंसायुक्त वातावरण भारतीय जनता में उत्पन्न किया जाना फिलहाल असम्भव है, इसलिए इस धारणा से सहमत होना भी कठिन है कि निकट भविष्य में कानूनों की सविनय अवज्ञा का आन्दोलन चलाया जा सकेगा। ऐसा मानना मेरी आत्मा के प्रतिकूल होगा। इसके अतिरिक्त, असहयोग विषयक प्रचार के कुछ बिन्दुओं के सम्बन्ध में कार्य समिति की धारणा से मेरे दृष्टिकोण में भिन्नता है। इसलिए मैं कांग्रेस संगठन के सभी पदों से अपना त्याग पत्र देता हूं। सम्भवतः यह कहा जायेगा कि अब तक की नौकरशाही के हाथों ने महात्मा जी को हमसे छीन लिया है, (महात्मा जी कैद कर लिये गये थे) तो मुझे अपने मतभेदों को भुला देना चाहिए। किन्तु अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में अपने संशोधन को वापिस लेते समय मैंने महात्मा जी से स्पष्टतया कह दिया था कि अपने विश्वासों के अनुरूप मैं अब इस कांग्रेस संगठन के कार्यभारी के रूप में काम नहीं कर सकता। अब मैं यदि कोई काम अपना कर्तव्य समझ कर करुँ और साथ–साथ कांग्रेस में भी रहूँ, तो यह न तो महात्मा जी न स्वयं के प्रति ही सत्याचरण होगा।"

स्वामी जी के त्याग पत्र के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने डा0 अंसारी द्वारा एक सन्देश भेजा कि उन्हें त्याग पत्र स्वीकार किये जाने के लिए जोर नहीं देना चाहिए। इसके पश्चात् स्वामी जी बटाला में दिनांक 28 से 30 अप्रैल तक सम्पन्न होने वाली पंजाब कांग्रेस की कांफ्रेंस में भाग लेने चले गए। इस कांफ्रेंस में बिट्ठल भाई पटेल भी आए हुए थे उन्होंने त्याग पत्र के सम्बन्ध में स्वामी जी को समझाते हुए कहा कि गांधी जी के इस कथन को कि "स्वामी जी जैसे विचार रखने वाले

व्यक्तियों को कांग्रेस के सारे पद त्याग देने चाहिये" के पीछे न तो कार्यसामिति और नैव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सहमति है। इस कांफ्रेंस में उपस्थित अन्य लोगों ने भी स्वामी जी को स्पष्ट कहा कि बहुमत स्वामी जी के इस दृष्टिकोण से सहमत है कि कांग्रेस संगठन के बाहर होने वाली हिंसा के लिए कांग्रेसी उत्तरदायी नहीं ठहराये जा सकते हैं। इन बातों से प्रभावित होकर स्वामी जी कांग्रेस के रचनात्मक कार्यो में सहयोग देने के लिए सहमत हो गए और कांग्रेस को प्रेरणा दी कि वह अस्पृश्यता–निवारण के प्रश्न को हाथ में ले।

अस्पृश्यता-निवारण कार्य में बाधाएं

अस्पृश्यता–निवारण की दृष्टि से ही स्वामी जी ने जून, 1922 के प्रथम सप्ताह में लखनऊ में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में भाग लेने का निश्चय किया। लखनऊ जाते समय स्वामी जी हरिद्वार में साधु–महामण्डल का संगठन करने के लिए ठहरे। इस महामण्डल की नींव अहमदाबाद में कांग्रेस अधिवेशन के समय डाल दी गई थी। दिल्ली निवास के समय 1919 ई0 में स्वामी जी का ध्यान लोगों ने इस ओर दिलाया था कि जो चमार ईसाई धर्म को छोड़कर शुद्धि द्वारा 'आर्य समाज' में आ चुके हैं, दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्र में उन्हें पुलिस परेशान कर रही है। स्वामी जी ने अप्रैल, 1919 में 'जाति के दीनों को मत त्यागो' पुस्तक द्वारा आर्य समाजियों को प्रबोधित करते लिखा कि हमें हरिजनों के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। पुलिस से उनकी सुरक्षा हो यह हमारा दायित्व है और उनके सामाजिक–उत्थान का भार भी हम पर है, क्योंकि पुरातनपन्थी हिन्दू इस दिशा में कुछ नहीं करेंगे। स्वामी जी की मान्यताओं में अस्पृश्यता–निवारण का महत्वपूर्ण स्थान था। स्वामी जी ने अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन के आरम्भ में अछूतोद्धार के विचारों को आर्य समाज द्वारा प्राप्त किया था। वे चाहते थे कि कांग्रेस भी अपनी कुछ शक्ति इस समस्या के समाधान के लिए लगाए। उन्होंने एतद् विषयक विचार अमृतसर के कांग्रेस अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष रूप में दिये गये भाषण में व्यक्त किये थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में विषय निर्वाचन समिति के सम्मुख एक प्रस्ताव भेजा था। नागपुर और बारदोली अधिवेशनों में भी कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्तावों में अस्पृश्यता–निवारण को कार्यक्रमों में रखा गया था। परन्तु कांग्रेस के आकाओं ने अछूतोद्धार को कभी प्राथमिकता नहीं दी। इसी बात का खेद तो सदा स्वामी जी को सालता रहा। स्वामी जी ने जब–जब कांग्रेस के माध्यम से इस कार्य को आगे बढ़ाना चाहा तब–तब कोई न कोई बहाना बनाकर इसको टालने का प्रयास ही किया जाता रहा। इस टाल–मटोल के इतिहास को जानने के लिए हम स्वामी जी के उस पत्र–व्यवहार को यहाँ उपस्थित करते हैं, जो स्वामी जी और कांग्रेस महामन्त्रियों के मध्य हुआ था। स्वामी ने इस विषय में अपना पहला पत्र इस प्रकार लिखा था–

गुरुकुल कुरुक्षेत्र
पोस्ट आफिस थानेसर
मई 22, 1922।

सेवा में,

महामन्त्री,
अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, बम्बई

मेरे प्यारे मिस्टर पटेल,

एक समय था (यंग इण्डिया का 25 मई, 1921 का अंक) जब महात्मा गांधी कांग्रेस के कार्यक्रम

में अस्पृश्यता को सबसे आगे रखते थे। अब, मैं अनुभव करता हूं कि दलित वर्गों की स्थिति को सुधारने का प्रश्न एक अन्धेरे कोने में डाल दिया गया है, जबकि खादी हमारे कुछ सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्ताओं का ध्यान आकृष्ट किये हुए है और इस वर्ष इसके लिये 17 लाख का उदार अनुदान सुनिश्चित कर दिया गया है। जबकि राष्ट्रीय शिक्षा की ओर ध्यान देने के लिए एक प्रभावशाली उपसमिति गठित कर दी गई है और इसके लिये धन संग्रह करने की विशेष अपील भी की गई है। मैं अनुभव करता हूं कि अहमदाबाद, अहमदनगर और मद्रास को अल्प अनुदान देकर अस्पृश्यता–निवारण को ताक पर रख दिया गया है। मेरी धारणा यह है कि जब नौकरशाही ने छः करोड़ दलितों के बहुमत को हमारे विरुद्ध कर दिया है तो ऐसी स्थिति में खादी की योजना भी पूर्ण रूप में सफल नहीं हो सकती। कार्यकारिणी के सदस्यों को सम्भवतः यह नहीं मालूम कि इस तरफ हमारे दलित भाइयों ने खादी छोड़कर सस्ता विदेशी वस्त्र खरीदना आरम्भ कर दिया है। मैं आगामी 7 जून को होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में निम्न प्रस्ताव रखना चाहता हूं–

"कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के तीन सदस्यों की एक समिति तथाकथित दलित जातियों से सम्बन्धित प्रस्तावों को प्रभावी बनाने के लिए गठित की जाये। और इस उपसमिति को प्रचारार्थ पाँच लाख रुपये प्रदान किये जायें। भविष्य में अनुदान के प्रार्थना पत्रों के भुगतान का विषय इस उपसमिति को सौंपा जाये।"

आपका शुभचिन्तक

श्रद्धानन्द संन्यासी

स्वामी जी के इस पत्र की स्याही सूखने भी नहीं पाई थी कि उन्होंने हरिद्वार पहुँच कर इसी समस्या के विषय में कांग्रेस महामन्त्री को दिनांक 3 जून, 1922 को इस प्रकार लिखा–

हरिद्वार

3 जून, 1922

मेरे प्रिय मिस्टर पटेल,

मैं कल हरिद्वार से चल पड़ूँगा और 6 जून को लखनऊ पहुँचूगा। तुम्हें विदित है कि मैं तथाकथित दलित वर्ग के लिए बहुत चिन्तित हूं। पंजाब तक में इस रचनात्मक कार्य के लिए कोई कहने योग्य ध्यान नहीं दिया गया है। उत्तर प्रदेश में निस्सन्देह यह कार्य श्रम साध्य होगा। लेकिन इस विषय में अन्य गम्भीर कठिनाई है।

बारदोली कार्यक्रम में मद संख्या 4 की टिप्पणी में कहा गया है कि जहां अभी तक छुआछूत दृढ़ मूल है, वहां कांग्रेस फण्ड से पृथक् कुएं और पृथक् विद्यालय जारी रखने चाहिए। यह उन कांग्रेस जनों के लिए छिद्र छोड़ देता है जो कि अछूत जातियों के द्वेषी हैं अथवा मन से दुर्बल हैं। ऐसे आदमियों से दूसरे आदमियों को इस बात की प्रेरणा देना कि वे अछूतों को सामान्य कुओं से पानी भरने दें, का कार्य नहीं किया जा सकता। मुझे पता चला है कि बिजनौर जिले में सामान्य कुओं से पानी भरने के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। लेकिन बारदोली प्रस्ताव की टिप्पणी के संरक्षण में कुछ स्थानों पर नया द्वेष उत्पन्न किया जा रहा है। मेरी अम्बाला छावनी, लुधियाना, बटाला, लाहौर, अमृतसर और जन्डियाला स्थानों की वर्तमान यात्राओं में, मैंने देखा कि अस्पृश्यों की कमजोरियों को दूर करने की उपेक्षा की जा रही है। दिल्ली और उसके समीप कांग्रेस नहीं अपितु जिस दलितोद्धार सभा का मैं प्रधान हूं, वह प्रशंसनीय कार्य कर रही है। मैं सोचता हूं कि जब तक बारदोली प्रस्ताव की रचनात्मक

कार्यक्रम की धारा 4 में ठीक रूप से संशोधन नहीं किया जाता तब तक कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में मेरे द्वारा लगाये गये मोर्चे को हानि ही होगी।

कृपया निम्न सुझाव को अध्यक्ष के समक्ष रखें, और यदि वे मान लेते हैं तो यह सुझाव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की आगामी बैठक में रखें। मैं इसे वहां प्रस्तुत करूँगा। बारदोली प्रस्ताव की धारा 4 की टिप्पणी के स्थान पर निम्न नोट रखा जाना चाहिए – दलित जातियों की निम्न मांगों को तुरन्त स्वीकार करना चाहिए। जैसे (1) उन्हें अन्य जातियों के नागरिकों के साथ एक ही दरी पर बैठने की अनुमति होनी चाहिए। (2) सामान्य कुओं से पानी भरने का अधिकार होना चाहिये और (3) उनके बच्चों को राष्ट्रीय विद्यालयों और महाविद्यालयों में प्रवेश मिले और वे तथाकथित उच्च जातियों के छात्रों से निर्बाध रूप में मिलें–जुलें।

मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों के मन में इस बात की महत्ता को बैठाना चाहता हूं। मैं ऐसे मामलों को जानता हूं जहां दलित वर्ग के लोगों ने तथाकथित उच्च जातियों के अत्याचारों के विरूद्ध खुला विद्रोह किया है। जब तक इनकी उपर्युक्त मांगों को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक ये नौकरशाही के षड्यन्त्रों के आगे झुकते रहेंगे।

आपका शुभचिन्तक

श्रद्धानन्द संन्यासी

स्वामी जी के उपर्युक्त दोनों पत्रों पर कांग्रेस कार्यकारिणी ने विचारोपरान्त यह प्रस्ताव पारित किया कि "यह समिति स्वामी श्रद्धानन्द, श्रीमति सरोजिनी नायडू, जी.बी. देशपाण्डे तथा आई.के. याज्ञिक की एक समिति गठित करती है। यह कमेटी एक ऐसी योजना तैयार करेगी जिसके द्वारा सुझाये गये व्यावहारिक उपायों से सारे देश में तथाकथित अछूतों की दशा को सुधारा जा सकेगा, साथ ही यह समिति कार्यसमिति की अगली बैठक में सम्प्रति 2 लाख रुपये इस कार्य हेतु एकत्र करने का प्रस्ताव भी विचारार्थ रखेगी।" स्वामी जी ने उपर्युक्त प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कांग्रेस कमेटी की प्रथम बैठक में 2 लाख के स्थान पर 5 लाख की राशि रखने का आग्रह इस शर्त के साथ किया कि कांग्रेस अपने कोष से 1 लाख रुपया देगी और शेष के लिये अपील प्रकाशित की जायेगी। स्वामी जी के संशोधन पर राजगोपालाचार्य ने प्रस्ताव किया कि कांग्रेस फण्ड से राशि निश्चित किये जाने की अपेक्षा यह होना चाहिये कि जब कार्य समिति यह योजना स्वीकार कर ले, उसी समय उक्त समिति इस उद्देश्य के लिये, जितना उचित समझे उतनी राशि प्रदान करे।

इस बात पर सदस्यों ने जानकारी मांगी कि कांग्रेस कमेटी के पास जो जमा पूंजी है, उसे घोषित किया जाए। स्थिति बिगड़ती देखकर हकीम अजमल खां (अध्यक्ष) स्वामी जी को एक ओर ले गये तथा कहा कि कांग्रेस के पास अभी बहुत थोड़ी जमापूंजी है। यदि इस धनराशि की घोषणा की जाती है, तो हमारे आन्दोलन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि यहां बाहर के लोग ही नहीं, अपितु सी.आई.डी. भी गुप्त वेश में उपस्थित हैं। हकीम साहेब की बातों को सुनकर अपने प्रस्ताव के अनुमोदकों और समर्थकों के प्रतिवादों के बावजूद स्वामी जी ने राजगोपालाचार्य का संशोधन स्वीकार कर लिया। उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकार किये जाने के पश्चात् चार सदस्यों वाली उपसमिति के संयोजक का प्रश्न उठा। इस पर तत्कालीन कांग्रेस के महामन्त्री बिट्ठल भाई पटेल ने कहा – "स्वामी श्रद्धानन्द का नाम उपसमिति में सबसे पहले स्थान पर है, अतः वे ही संयोजक होंगे। इस पर अन्य प्रस्ताव लाने की आवश्यकता नहीं है।"

स्वामी जी ने यह समझ कर कि वे उपसमिति के संयोजक बन गये हैं, वहां उपस्थित सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों से अस्पृश्यता की जानकारी प्राप्त की। कार्य को आरम्भ करने के लिये स्वामी जी ने कांग्रेस अध्यक्ष को प्रारम्भिक कार्यों के लिये 10 हजार रुपये देने के लिए 8 जून, 1922 को एक पत्र लिखा। स्वामी जी के पत्र का उत्तर देते हुए महामन्त्री ने लिखा कि "कार्य सामिति में आपके पत्र को पढ़ा गया, जिसमें दलित जातियों के कार्य की योजना बनाने हेतु अग्रिम राशि देने के लिए कहा गया है। निश्चय हुआ कि इस उद्देश्य के लिये उपसमिति संयोजक गंगाधर राव, बी. देशपाण्डे नियुक्त किये जाएँ और उनसे अनुरोध किया जाय कि वे यथाशीघ्र एक बैठक बुंलायें, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द के पत्र पर विचार किया जा सके।"

स्वामी जी को इस पत्र को पाकर बड़ा आघात लगा। उन्होंने इसे मन ही मन अपना अपमान समझा। जोर्डेन्स ने इसे अपनी पुस्तक में "एक घोटाला" कहा है(55)।

स्वामी जी के हरिद्वार से लिखे पत्र के विषय 'बारदोली प्रस्ताव की धारा 4 में परिवर्तन' के सम्बन्ध में सूचित किया गया कि कार्य समिति इस विषय में उपसमिति से पूछेगी। अतः स्वामी जी को इस पर जोर नहीं देना चाहिये। स्वामी जी इससे सहमत हो गये। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह रही कि स्वामी जी को कार्य समिति के किसी भी प्रस्ताव की कोई ऐसी प्रति नहीं मिली, जिसमें स्वामी का प्रस्ताव उपसमिति के समक्ष रखे जाने की बात कही गई हो। स्वामी जी के लिये यह दूसरा आघात था।

कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं की उपेक्षा से प्रताड़ित होकर तथा अछूतोद्धार को अपने जीवन की प्राथमिकता मानकर स्वामी जी ने उपसमिति से छुटकारा पाने के लिये कांग्रेस कमेटी के महामन्त्री को पत्र लिखते हुए कहा कि "दिल्ली और उसके समीप अछूत–सनस्या अत्यन्त विकट है और मुझे अविलम्ब जूझना है। किन्तु इसके लिये नियुक्त उपसमिति तुरन्त कार्य आरम्भ नहीं कर सकती। कांग्रेस के तत्त्वाधान में अस्पृश्यता को दूर करने के लिए किन्हीं व्यावहारिक उपायों के सम्बन्ध में निर्णय लेने से पूर्व कार्य समिति को देश में उपस्थित अनेक अन्य राजनैतिक परिस्थितियों के बारे में भी सोचना होगा। इन परिस्थितियों में मैं उपसमिति के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता, परिणामस्वरूप इसकी सदस्यता से त्याग–पत्र देता हूं।"

स्वामी जी का त्यागपत्र किसी सामान्यजन का त्यागपत्र नहीं था। इसकी प्रतिक्रिया निश्चित रूप से होनी थी। स्वामी जी के त्यागपत्र के प्रसंग के समय पं. मोतीलाल नेहरु कांग्रेस के महामन्त्री थे। उन्होंने स्वामी जी को लिखा–

प्रिय स्वामी जी,

आपका 30 जून, 1922 का पत्र मेरे कार्यालय में उसी मास की 30 तारीख को प्राप्त हुआ। इसमें 18 तारीख को बम्बई में कार्य समिति द्वारा पारित प्रस्ताव का हवाला दिया गया है। मुझे यह निर्देश मिला है कि मैं इस सम्बन्ध में आपको तथ्यों से अवगत कराऊँ और आपसे प्रार्थना करूँ कि आप दलित वर्ग की उपसमिति से अपने त्याग पत्र के सम्बन्ध में पुनर्विचार करंके साधु स्वभाव का परिचय दें।

जैसा कि आपको विदित है कि मेरे जेल से छूटने से पूर्व की घटनाओं के विषय में मुझे कोई जानकारी नहीं है। किन्तु मैं 10 जून, 1922 की उस बैठक में उपस्थित था, जिसमें प्रस्ताव पारित करके श्री देशपाण्डे को उपसमिति का संयोजक बनाया गया था। उस समय यह उल्लिखित नहीं किया गया था कि ऐसा कोई समझौता हो चुका है कि किसी व्यक्ति विशेष को इसका संयोजक

बनाया गया है। उस समय तो सम्पूर्ण प्रस्ताव मात्र रुपये की अदायगी की आवश्यक औपचारिकताओं को पूर्ण करने के लिये पारित किया गया था। यह अनुभव किया गया कि रुपया खर्च करने से पूर्व स्वीकृति के लिये एक उपसमिति आवश्यक है। इसी के अनुसार श्री देशपाण्डे को संयोजक नियुक्त किया गया और इन आरम्भिक कार्यों के लिये 500 रुपये की राशि स्वीकृत की गई। असावधानी के कारण प्रस्ताव के प्रारूप में 500 रुपये की स्वीकृति का उल्लेख रह गया। इस प्रकार आप मानेंगे कि इसमें कार्य समिति द्वारा 10000 रुपये अछूतोद्धार के लिये न देने की इच्छा की कोई बात नहीं थी, लेक़िन प्रस्ताव को उस रूप में बनाने का वास्तविक कारण वही था, जो मेरे द्वारा ऊपर वर्णित किया गया है। आपकी कार्य समिति द्वारा किये जाने वाले कार्य के अवमूल्यन करने की कोई इच्छा कार्य समिति की थी, ऐसा कहना सच्चाई से दूर है। यह भी सत्य नहीं है कि कार्य समिति आप द्वारा दी गई मूल्यवान् सलाह की उपेक्षा करती है। कार्य समिति की गत बैठक में जब आपका पत्र प्रस्तुत किया गया तो 500 रुपये के भूल की जानकारी दे दी गई और मुझे आदेश हुआ कि यह सूचना आप तक पहुँचा दूँ। यह वस्तुतः एक चिन्तनीय बात होगी कि अस्पृश्यता–उपसमिति अस्पृश्यता के सम्बन्ध में आपके अनुभव और इस समस्या से सम्बन्धित विशेष ज्ञान से वंचित रहे। अतः मैं आपसे निवेदन करता हूं कि जनता के हित की दृष्टि से अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें और अपने त्यागपत्र को वापिस लेने की सूचना तार द्वारा मेरे इलाहाबाद स्थित कार्यालय को दें। मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आपकी उपसमिति द्वारा स्वीकृत सभी प्रस्तावों पर कार्य समिति समुचित ध्यान देगी।

कार्य समिति के पृथक् विद्यालयों तथा पृथक् कुओं के निर्णय के विषय में परिवर्तन के लिए यही कहना है कि आपकी उपसमिति परिवर्तनों के सम्बन्ध में अपनी सिफारिश करे और कार्य समिति उसे स्वीकार करे।

मैं इस बात से स्तम्भित हूं कि इलाहाबाद के 'दि इण्डिपेन्डेण्ट' तथा दिल्ली के 'दि कांग्रेस' समाचार पत्रों को दिये जाने वाले अनुदान के विषय में आपको कुछ भ्रान्ति हुई है। प्रथम के सन्दर्भ में जो कुछ हुआ वह इतना ही था कि संयुक्त प्रान्त की प्रदेशीय कमेटी ने 'नेशलिस्ट जर्नल्स लिमिटिड' को 25 हजार रुपये दिये जाने के प्रार्थना पत्र को स्वीकृति दी है। जबकि दूसरे मामले में कर्ज देने के बारे में प्रस्तुत की गई अर्जी को पूर्णतया ठुकरा दिया गया है।

बम्बई — आपका विश्वासपात्र

23 जौलाई, 1922. — मोतीलाल नेहरु, महामन्त्री

परन्तु मोतीलाल नेहरु के पत्र की मर्यादापूर्ण भाषा और उपसमिति इत्यादि विषयों में दिये गये तर्कों का स्वामी जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। और उन्होंने 29 जौलाई के निम्न पत्र के माध्यम से त्यागपत्र के पुनर्विचार के निवेदन को ठुकरा दिया–

प्रिय पंडित मोतीलाल जी,

बम्बई से आप द्वारा लिखा गया पत्र दिनांक 23 जौलाई, 1922 को मिला। जिसमें अस्पृश्यता–विषयक उपसमिति से मेरे त्यागपत्र की चर्चा है। मुझे खेद है कि मैं त्यागपत्र पर पुनर्विचार करने में असमर्थ हूं क्योंकि मेरे पहले पत्र में प्रदर्शित कुछ तथ्य पूर्णतया उपेक्षित कर दिये गये हैं।

(1) कृपया श्री राजगोपालाचार्य से पूछें कि क्या मैंने प्रथम यह प्रस्तावित नहीं किया था कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास जो राशि है, उसमें से एक लाख रुपया नगद अस्पृश्यता निवारण के लिये दिया जाय! उनसे यह भी पूछा जाय, क्या उपर्युक्त प्रस्ताव के स्थान पर

जो संशोधन रखा था, उसका यही भाव था कि कार्य समिति जब उपसमिति द्वारा बनाई गई कार्य योजना को स्वीकार कर लेगी तब ही कार्य समिति अस्पृश्यता–निवारण विभाग को उतना धन प्रदान करेगी, जितना उसके लिये सम्भव हो? उनसे यह भी पता करें कि अध्यक्ष द्वारा अलग ले जाकर आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में समझाये जाने पर मैंने उनके संशोधन को उस समय स्वीकार नहीं कर लिया था। अगर तथ्य यही है तो प्रस्ताव के साथ संशोधन क्यों नहीं प्रकाशित किया गया?

(2) क्या आप बिट्ठल भाई जे, पटेल से यह पता करेंगे कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों ने मेरा नाम उपसमिति के संयोजक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया था? क्या उन्होंने उस समय यह नहीं कहा था कि स्वामी जी का नाम सदस्यों में प्रथम है, स्वभावतः वे ही संयोजक रहेंगे। इसलिए किसी अन्य प्रस्ताव रखने की आवश्यकता नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में डा0 अंसारी से भी पूछा तो उन्होंने 17 जून, 1922 को मुझे लिखा कि मुझे ही संयोजक बनाया गया था। डा0 अंसारी आपके पास है और आप पूछ सकते हैं। मुझे आशा है कि श्री पटेल इस बात को भूले नहीं होंगे।

आपका विश्वासपात्र

श्रद्धानन्द संन्यासी

इसके बाद यहाँ भी अस्पृश्यों के मध्य काम करना अत्यावश्यक है। मैं किसी अन्य कारण से इसमें विलम्ब नहीं कर सकता। कृपया कार्यसमिति की आगामी बैठक में मेरा त्यागपत्र स्वीकार कर लें, जिससे की मैं अपनी योजना के अनुसार अस्पृश्यता निवारण के लिए स्वतंत्र हो सकूं।

अस्पृश्यता–निवारण के लिये अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा गठित उपसमिति ने कोई कार्य नहीं किया। गया के कांग्रेस अधिवेशन में इसका कारण बताते हुये कहा गया कि स्वामी श्रद्धानन्द का कोई स्थानापत्र व्यक्ति नहीं मिल सका[56]।

कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सन्दर्भ में हुई हिंसात्मक घटनाओं की जांच–पडताल के लिये एक समिति का गठन किया। इस समिति के समक्ष स्वामी जी ने अपना बयान दिया। यह बयान दिनांक 14 अगस्त, 1922 को कलकत्ता के एक समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ था। इस बयान का वह अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है–

"कांग्रेस के द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने के लिये ही रचनात्मक कार्यक्रम को संचालित करने में उसका विश्वास नहीं है। वे रचनात्मक कार्यक्रम को स्वयं एक लक्ष्य के रूप में चलाने में विश्वास करते हैं और उनकी दृढ़ धारणा है कि कानूनों की अवज्ञा को यदि छोड़ भी दिया जाता है और पूर्ण निष्ठा तथा उत्साह के साथ रचनात्मक कार्यक्रम को चलाया जाता है तो उससे देश को स्वराज्य प्राप्त हो सकता है। कौंसिलों में प्रवेश करके असहयोगी अधिक प्रभावशाली ढंग से रचनात्मक कार्य कर सकते हैं। किन्तु यह अधिक उपयोगी ढंग से तब किया जा सकता है यदि सविनय अवज्ञा के विचार को भविष्य में पूर्णतया त्याग दिया जाये। देश को सविनय अवज्ञा तथा करों को न देने के लिये शीघ्र तैयार करने के लिये कौंसिलों में प्रवेश एक विडम्बना ही है।

हिन्दू–मुस्लिम एकता की चर्चा करते हुए स्वामी जी ने कहा कि बाहरी रूप में तो इसमें कोई विरोध दिखाई नहीं देता, किन्तु हिन्दू–मुसलमान दोनों के हृदय एक–दूसरे के प्रति सन्देहास्पद हो चुके हैं। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि एक ओर जहाँ मुसलमान और सिख परस्पर संगठित है, एक घटक के रूप में हिन्दू असंगठित हैं। इसका एक उपाय उनके मस्तिष्क में यही दिखाई पड़ता

है कि हिन्दू नेता अपने समाज को संगठित करें तथा मुसलमान नेता खिलाफत की अपेक्षा स्वराज्य प्राप्ति पर अधिक बल दें।

अहिंसा के सम्बन्ध में अपने बयान देते हुए स्वामी जी ने कहा कि अहिंसा की भावना को बाहरी तौर से तो प्रतिपादित किया जाता है, किन्तु लोग अपने हृदय में उसके प्रति विश्वास नहीं करते तथा उनकी वाणी और मन हिंसापूर्ण विचारों से भरे पड़े हैं।''

उपर्युक्त बयान स्वामी जी के राजनैतिक विचारों का दस्तावेज होने के साथ–साथ उन द्वारा प्रतिपादित 'हिन्दू संगठन' की भावी योजना की ओर भी संकेत करता है। स्वामी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों में दलितोद्धार प्रमुख था। अपने त्यागपत्र के पश्चात् इस कार्य में हृदय और आत्मा से लग गये। किन्तु थोड़े समय बाद ही ऐसा अवसर आया कि स्वामी जी ने कांग्रेस नेताओं के साथ काम करने का विचार किया। यह उस समय हुआ कि जब देवदास गांधी एवं जवाहर लाल नेहरु को अपराधी घोषित किया गया। परिस्थितियाँ तुरन्त बदलीं। हकीम अजमल खां के यह कहने पर कि कांग्रेस के पदाधिकरियों को कांग्रेस के दृष्टिकोण से असहमत होने पर भी अपने विचार प्रकट नहीं करने चाहिये। ऐसी स्थिति में वे या तो पदों को छोड़ दें या चुप रहें। पुनः उनके अनुसार पदाधिकारी ऐसे होने चाहिये जो कांग्रेस कार्यक्रम को उसके अन्तिम विवरण सहित पूरा करें, चिन्तामणि केलकर ने त्यागपत्र दे दिया। इस त्यागपत्र ने स्वामी जी की आंखें खोल दीं। स्वतन्त्रचेता स्वामी श्रद्धानन्द ने कांग्रेस के नेताओं की विचार स्वतन्त्रता अपहरण की नीति को घातक समझकर – हकीम अजमल खां को लिखा कि वे ईमानदारी से अनुभव करते हैं कि वे कांग्रेस कार्यसमिति में नहीं रह सकते। स्वामी जी ने साधु महामण्डल की अस्पृश्यता निवारण में निष्क्रियता देखकर इससे भी त्याग पत्र दे दिया।

मुस्लिम प्रश्न को लेकर भी स्वामी जी का कांग्रेसी नेताओं से मतभेद हो गया था। 1893 में हुए कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन से ही स्वामी जी ने यह अनुभव कर लिया था कि कांग्रेस मुसलमानों के प्रति कितनी अनुरक्ति के साथ झुकी हुई थी। मुसलमान प्रतिनिधियों को प्रवेश शुल्क और शुल्क में छूट देना इसका प्रमाण था। यही छूट लखनऊ अधिवेशन 1899 में भी दी गई थी। इतना सब कुछ होने पर भी 1916 में हुये लखनऊ अधिवेशन में हिन्दू–मुस्लिम समझौते की गुप्तवार्ता में सम्मिलित हुये। मदन मोहन मालवीय साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व दिये जाने के समझौते के विरुद्ध थे। 1920 के आरम्भ में स्वामी जी 'खिलाफत आन्दोलन' के समर्थक बनकर मुसलमानों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रहे थे। वह उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य भी थे जो 'खिलाफत आन्दोलन' के सम्बन्ध में वायसराय से भी मिला था। हिन्दू–मुस्लिम एकता के स्वामी जी यहां तक पक्षपाती बन गये कि उन्होंने आर्य समाज के उपदेशकों को यह कहना आरम्भ कर दिया था कि मुस्लिम धर्म के खण्डन का समय लद गया है और अब नया दौर आरम्भ हो गया है।

लेकिन 1920 का अन्त आते–आते स्वामी जी को मुसलमानों की हिन्दू विरोधी भावनाओं का संकेत मिलने लगा। कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन ने जबकि अहिंसा के महत्व की चर्चा चल रही थी, मंच पर बैठे लगभग 50 लोगों को सुनाते हुए मौलाना शौकत अली ने कहा ''महात्मा गाँधी एक चालाक बनिया है। तुम लोग उसके वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझते। तुम्हें– अनुशासन में रखकर वह छापामार युद्ध की तैयारी कर रहा है। जैसा तुम लोग सोचते हो, वैसा वह कट्टर अहिंसावादी नहीं है[67]। अली भाई के मुख से यह सुनकर स्वामी जी को धक्का लगा। इस बात की सूचना स्वामी ने महादेव देसाई द्वारा गाँधी जी के पास पहुंचवाई। नागपुर के सामान्य कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर एक सभा में मौलवियों द्वारा काफिरों को कत्ल करने की आयतों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका हैं। 1921 में स्वामी जी विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की दोहरी नीति से भी क्षुब्ध थे,

इसे पाठक पढ़ चुके हैं। अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में मोपलाओं की निन्दा के प्रस्ताव पर भी स्वामी जी खिन्न थे। स्वामी जी के डा0 अंसारी से भी उस समय सम्बन्ध कटु हो गये थे जब उन्होंने मुसलमानों को यह कह दिया था कि पहले 'अंकारा फण्ड' के लिए चन्दा देना है। स्वामी जी ने उपयुक्त परिस्थितियों के दोहन के बाद ही समाचार पत्रों में यह बयान दिया था कि "हिन्दू मुस्लिम एकता में बाहरी तौर पर तो कोई भेद दिखाई नहीं देता, किन्तु उन्होंने सभी प्रान्तों में देखा है कि हिन्दू और मुसलमान कौमों के हृदय एक–दूसरे के प्रति सन्देहास्पद हो चुके हैं।

इस प्रकार स्वामी जी महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन की नीतियों, प्रक्रियाओं और अछूतोद्धार एवं मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति से खिन्न होकर महात्मा गाँधी और कांग्रेस से बहुत दूर चले गये।

स्वामी जी को बन्दी बनाया जाना

1919 से 1922 के सितम्बर महीने के प्रथम सप्ताह तक स्वामी श्रद्धानन्द जी अनाथित बैल की तरह अंग्रेजी सरकार के लिए जहां चाहे वहां भी सींगों से मिट्टी उछालते रहे। सरकार ने इस शक्तिशाली और विशालकाय व्यक्ति को अनेक बार बन्दी बनाने की सोची। स्वामी जी को पहली बार 10 अप्रैल, 1919 को गिरफ्तार करने की बात चली। स्वामी जी लिखते हैं कि "मैंने ऊपर का और नीचे सीढ़ी का, दोनों किवाड़ रात को भी खुले रखने शुरु कर दिये। मैं उन दिनों इतना तंग था कि यदि जेल ले जाते तो मुझे आराम मिलता। डेढ़–दो लाख प्रजा को अहिंसा धर्म का क्रियात्मक पालक बनाना कोई छोटी बात न थी। परन्तु कोई भी यमदूत मुझे विश्रामगृह में ले जाने को न पहुंचा[५७]।"

दूसरी बार चीफ कनिश्नर, दिल्ली को शिमले में बुलाकर पंजाब के छोटे लाट ओडवायर ने कहा कि पंजाब में सारी आफत दिल्ली से आती है और इस आफत की जड़ स्वामी श्रद्धानन्द है। ओडवायर को वह पत्र हाथ लग गया था जो स्वामी जी ने दुनीचन्द को लिखा था, जिसमें यह लिखा कि यदि आवश्यकता हो तो वे लाहौर पहुंचे। ओडवायर स्वामी जी से खार खाये बैठा था। उसने आदेश दे रखा था कि स्वामी जी को सीधा लाहौर आने दो। वहॉं स्वामी जी के हाथ–पैरों में कड़ियॉं डालकर बाजारों में घुमाया जाय। परन्तु स्वामी जी किन्हीं कारणों से लाहौर नहीं जा सके।

तीसरी बार– शिमला में गर्मी बिताने के लिये गये दिल्ली के एक राय बहादुर और वकील से सी0आई0डी0 के निदेशक सर चार्ल्स क्लीवलैंड ने पूछा कि यदि शान्ति स्थिर रखने के लिये स्वामी श्रद्धानन्द को गिरफ्तार किया जाये तो उनका क्या विचार है? दोनों ने गिरफ्तारी के पक्ष में अपनी सम्मति दी। लेकिन यह जरूर कहा कि गिरफ्तारी दिल्ली न होकर अन्यत्र करनी चाहिए, क्योंकि दिल्ली में फिसाद होने का डर है। गिरफ्तारी का यह अवसर भी जाता रहा।

चौथी बार– पुलिस ने प्रसिद्ध किया कि स्वामी जी को दिल्ली से बाहर जाने की आज्ञा नहीं है। परन्तु पं0 मोती लाल के निमन्त्रण पर दिल्ली से चलकर 4 जून, 1919 को प्रयाग पहुंच गए। सी0आई0डी. द्वारा पीछा किये जाने से ऐसा प्रतीत होता था कि गिरफ्तारी होगी। परन्तु परिणाम शून्य ही निकला।

पांचवी बार– अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन के समय स्वागताध्यक्ष बनने की सहमति के पश्चात् यह प्रचारित हुआ कि कांग्रेस अधिवेशन को रोकने के लिये स्वामी जी को देश निकाला दिया जायेगा। परन्तु हुआ कुछ नहीं।

छटी बार– आर्य समाज के एक लेखक ने स्वामी जी को गिरफ्तार करवाने का प्रयास और सरकार को युक्तियां भी बताई। परन्तु उस आर्य समाजी लेखक की इच्छा फलीभूत नहीं हुई।

सातवीं बार– स्वामी जी जब बर्मा में गये थे तो प्रान्त के छोटे लाट सर रेजिनल्ड क्रैडक ने लार्ड चैम्सफोर्ड से स्वामी जी को गिरफ्तार करने की आज्ञा मांगी थी। परन्तु परिणाम में वही ढाक के तीन पात निकले।

आठवीं बार– यह जनश्रुति फैली कि दलितोद्धार सभा के प्रधान के नाते धार्मिक विद्वेष फैलाने के कारण स्वामी जी की गिरफ्तारी शीघ्र ही सम्भावित है। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ।

सरकार ने 1919–22 के सितम्बर के प्रथम सप्ताह के अन्त तक स्वामी जी की गिरफ्तारी की बार–बार उपेक्षा क्यों की, इसका उत्तर जोर्डेन्स के शब्दों में यह है कि ''स्वामी जी की लोकप्रियता ही सरकार को ऐसा करने से रोकती रही'' थी(69)। परन्तु सरकार ने स्वामी जी को गिरफ्तार करने का विचार त्यागा नहीं था। वह प्रशासन की दृष्टि से ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थी कि साँप भी मर जाये और लाठी भी नहीं टूटे। स्वामी जी गिरफ्तार भी कर लिये जायें और इस सम्बन्ध में कोई आन्दोलन भी न हो। वह अवसर सरकार के हाथ 'गुरू का बाग' सत्याग्रह के प्रसंग में आ गया।

अगस्त, 1922 में जिला अमृतसर में अजनाला के समीप एक गुरूद्वारा के कब्जे में होने वाले 'गुरू के बाग' नामक भूखण्ड के स्वामित्व के सम्बन्ध में झगड़ा हो गया(70)। सिक्ख इस भूखण्ड को गुरुद्वारा की सम्पत्ति मानते थे और वहाँ से गुरुद्वारा के लंगर के लिये लकड़ियां काट कर लाते थे। स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए पुलिस हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया। पुलिस ने सिक्खों को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया। इस समस्या को अकाली दल ने गम्भीरता से लिया और उन्होंने अहिंसक आन्दोलन आरम्भ करके गिरफ्तारियां देनी आरम्भ कर दीं। पुलिस ने शान्त सत्याग्रहियों को निर्दयता से पीटना आरम्भ कर दिया। पुलिस के अत्याचार को देखने के लिए अकाली नेताओं ने बिना धार्मिक भेदभाव के देश के नेताओं को आमन्त्रित किया। स्वामी जी ने तुरन्त प्रतिक्रिया दिखाई और अजमल खां और प्यारे लाल के साथ 10 सितम्बर को अमृतसर पहुंच गये। मालवीय जी वहां पहिले ही उपस्थित थे। स्वामी जी अमृतसर में सर्वप्रथम अकाल तख्त पहुंचे और वहां अहिंसक अकाली सत्याग्रहियों को सम्बोधित करते हुए दिल्ली निवासियों का सन्देश सुनाया कि दिल्ली से 'शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी' का सन्देश पाते ही सौ आदमी सत्याग्रह के लिये तुरन्त आने को तैयार हैं और पांच हजार रूपये तक की सहायता दिल्ली करेगी। इसके उपरान्त स्वामी जी जब गुरु का बाग में सत्याग्रहियों को 'धर्मयुद्ध' में विजय प्राप्ति का आशीर्वाद देकर वापिस आने की तैयारी ही में थे कि उनको गिरफ्तार करके अमृतसर जेल में बन्द कर दिया गया। अमृतसर की पवित्र नगरी में कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर प्रतिनिधियों का स्वागत करने वाले स्वामी का अमृतसर की जेल के फाटक ने स्वागत किया। अमृतसर की प्रथम घटना ने राजनैतिक दृष्टि से भारत के उच्च से उच्च कांग्रेसी नेताओं के परिचय बढ़ाकर स्वामी जी के लिये मार्ग प्रशस्त किया था तो दूसरी घटना ने मायावी राजनीति में उनकी असम्प्रदायिक भूमिका का पटाक्षेप कर दिया।

स्वामी जी को धारा 117 के अन्तर्गत एक वर्ष और धारा 143 के अन्तर्गत 4 मास की सादी कैद की सजा मिली। कैद की सजा सुनाने के पश्चात् स्वामी जी को 'मियांवाली' जेल पहुंचा दिया गया। जेल का जीवन स्वामी जी के लिये बच्चों के खेल के समान था। गुरुकुल के आवासकाल में स्वामी जी संयमित और अनुशासित जीवन के अभ्यस्त हो चुके थे। जेल तो उनके गुरुकुलीय जीवन के व्रताभ्यास का पुनरभ्यास मात्र था। जेल में स्वामी जी ने गुरुकुलीय जीवन के समान प्रातःकाल उठना, नित्यकर्मो से निवृत्त होकर ईश्वरोपासना करके स्वाध्याय और प्रवचन में लगा दिया। जेल

में ही स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा लिखने का श्रीगणेश किया। 'मियांवाली' जेल में स्वामी जी गीता, रामायण या दर्शनों पर उपदेश दिया करते। मौलाना आशफ अली ने स्वामी जी से 'गीता रहस्य' मांग कर पढ़ा। कहीं शंका होने पर स्वामी जी उसका समाधान कर देते थे। स्वामी जी को जेल में शारीरिक दृष्टि से बड़ा कष्ट रहा। उन्हें अतिसार (पेचिश) की बीमारी परेशान करती रही। इस परेशानी से बढ़कर एक अन्य परेशानी स्वामी जी की आत्मा को कचोट रही थी। वह परेशानी थी जेल प्रबन्ध में शासन की ओर से उपेक्षा का भाव। इस परेशानी की व्यथा कथा 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नामक पुस्तक में स्वामी जी ने उडेल दी है। स्वामी जी की सजा तो लम्बी थी किन्तु उन्हें 26 दिसम्बर को अचानक जेल से रिहा कर दिया गया।

स्वामी जी के 'गुरु का बाग' सत्याग्रह के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह कहनी है कि महाशय कृष्ण ने स्वामी जी के अकाल तख्त वाले व्याख्यान के विषय में एक अंश पर आपत्ति प्रकट करते हुए अपने समाचार में लिखा कि स्वामी जी को गृहस्थ पुरुषों का सन्देश शिरोमणि प्रबन्धक कमेटी तक पहुंचाना नहीं चाहिए था, क्योंकि यह संन्यास धर्म से बाहर है। स्वामी जी ने इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा कि उन्होंने संन्यास का अर्थ कर्म का न्यास (त्याग) नहीं समझा है। प्रत्युत् गुरुवर आचार्य दयानन्द के चरणचिन्हों पर चलने का यत्न करते हुए कर्मफल में अनासक्ति अर्थात् त्याग को ही संन्यास समझा है। इसलिये ये उन सर्वसाधारण लोगों से सहमत नहीं हैं जो कहते हैं कि "सर्व कर्मनासी– संन्यासी" होता है। यदि दिल्लीवालों का सन्देश धर्मानुकूल था तो संन्यासी से बढ़कर सन्देश पहुंचाने वाला उन्हें कहां से मिल सकता था। स्वामी जी ने आगे कहा कि यदि 'गुरु का बाग' का आन्दोलन धर्म विरुद्ध था तो उनकी सारी वक्तृता ही निन्दनीय समझनी चाहिये। ऋषि दयानन्द लिखते हैं "जिससे दुष्ट कर्मो का त्याग किया जाये, वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो, वह सन्यासी होता है[80]।

जेल से छूटने के पश्चात् अमृतसर और जालन्धर में अकालियों और आर्य समाजियों के अभिनन्दनों को स्वीकार करते हुए स्वामी जी 29 दिसम्बर को दिल्ली पहुंच गये। यदि हम 1917 से 1922 की अवधि में स्वामी जी का मूल्यांकन करना चाहें तो कह सकते हैं कि इस अवधि में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को हिलाने वाले प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन में निस्स्वार्थ नेतृत्व प्रदान किया और उनका यथाशक्ति प्रयास रहा कि– महात्मा गाँधी के साथ कन्धा मिलाकर चला जाये। किन्तु सत्य और धर्म के दोनों शोधार्थियों के चिन्तन के मार्ग भिन्न–भिन्न रहे। इस भिन्नता में कहीं न कहीं समता का सूत्र पकड़कर स्वामी श्रद्धानन्द कभी तन से और कभी मन से कांग्रेस के साथ जुड़े रहे। इस अवधि में स्वामी जी का यह चिन्तन रहा कि अछूतोद्धार स्वराज्य प्राप्ति का साधन न होकर साध्य है। जबकि कांग्रेसी विचारधारा में अछूतोद्धार साध्य न होकर स्वराज्य प्राप्ति का अन्य साधनों के समान एक साधन था। स्वामी जी के जेल से छूटने के बाद 'खिलाफत आन्दोलन' के कारण बनी हिन्दू–मुस्लिम एकता की भावना इत्यलम् हो चुकी थी। ऐसी परिस्थितियों में 67 वर्ष के वृद्ध स्वामी की आत्मा से एक नवीन श्रद्धानन्द का जन्म हुआ, जिसने धर्माचार्य का रूप लेकर हिन्दूवाद के आधार पर अपने ही ढंग से अछूतोद्धार समस्या को सुलझाना चाहा। अगले वर्षो की कहानी इसी ताने–बाने की उधेड–बुन की कहानी है।

सन्दर्भ (चौथा अध्याय)

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश पृ0 86
2. इन्द्र, मेरे पिताः संस्मरण पृ0 194
3. सत्यदेव, स्वामी श्रद्धानन्द पृ0 380
4. सत्यदेव, स्वामी श्रद्धानन्द पृ0 380–81
5. इन्द्र वही पृ0 188
6. इन्द्र वही पृ0 188
7. निरुपण एवं विनोद चन्द्र वही पृ0 327–28
8. निरुपण एवं विनोद चन्द्र वही पृ0 92
9. इन्द्र वही पृ0 195–96
10. निरुपण एवं विनोद चन्द्र, वही पृ0 59
11. संन्यासी बनने के पश्चात् भी स्वामी जी रिश्तेदारों से व्यक्तिगत पत्र–व्यहवार करते समय मुंशीराम के नाम का प्रयोग करते थे।
12. सत्यदेव वही पृ0 463
13. जोर्डेन्स वही पृ0 104
14. इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाला अंग्रेजी दैनिक पत्र। सर.सी.वाई. चिन्तामणि इसके सम्पादक थे।
15. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड चार पृ0 120
16. सत्यदेव, वही पृ0 475
17. इन्द्र वही पृ0 199
18. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड पाँच पृ0 46
19. इन्द्र वही पृ0 201
20. हरिश्चन्द्र स्वामी श्रद्धानन्द का बड़ा लड़का था। सन् 1914 ई0 में वह राजा महेन्द्र प्रताप के सचिव के रूप में विदेश गया था। वह वहाँ से वापिस नहीं आया और अज्ञात रूप में मर गया।
21. श्रद्धानन्द जी के संरक्षण में दिल्ली से निकलने वाला हिन्दी दैनिक 'विजय'।
22. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड चार पृ0 120–21
23. (क) भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 50–53
    (ख) इन्द्र वही पृ0 210–11
24. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 65
25. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 69

26. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड चार पृ0 121
27. इन्द्र वही पृ0 219
28. सत्यदेव वही पृ0 501
29. सत्यदेव वही पृ0 492
30. इसी वेदमन्त्र से स्वामी जी ने दिल्ली की जामा मजिस्द में अपना उपदेश आरम्भ किया था।
31. विष्णु प्रभाकर तथा विष्णु दत्त, स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती पृ0 82–97
32. इन्द्र, वही पृ0 97
33. निरुपण एवं विनोद चन्द्र वही पृ0 95
34. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड पाँच पृ0 93
35. सत्यदेव वही पृ0 538–39
36. सत्यदेव वही पृ0 539
37. सत्यदेव वही पृ0 540
38. सत्यदेव वही पृ0 549–50
39. श्रद्धा (साप्ताहिक), 14 मई, 1920 पृ0 4
40. श्रद्धा (साप्ताहिक), 14 मई, 1920 पृ0 3–4
41. श्रद्धा (साप्ताहिक), 14 मई, 1920 पृ0 4
42. श्रद्धा (साप्ताहिक), 14 मई, 1920 पृ0 4
43. सत्यदेव, वही पृ0 542
44. सत्यदेव, वही पृ0 553
45. जोर्डेन्स वही पृ0 117–18
46. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 100
47. भवानी लाल भारतीय वही पृ0 104
48. सत्यदेव वही खण्ड तीन पृ0 112
49. सत्यदेव वही पृ0 555
50. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 121
51. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 130
52. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 130
53. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 133
54. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 134
55. जोर्डेन्स वही पृ0 124
56. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 148

57. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड पाँच पृ0 99
58. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड चार पृ0 121
59. जोर्डेन्स वही पृ0 127
60. भवानी लाल भारतीय वही खण्ड चार पृ0 133

पंचम अध्याय

श्रद्धानन्द का शुद्धि के लिए बलिदान

अस्पृश्यता निर्वाण और शुद्धि का शंखनाद

जेल जीवन में जहां स्वामी जी ने लेखन कार्य, स्वाध्याय और प्रवचन का कार्य आरम्भ किया था, वहां वे आत्म चिन्तन की प्रक्रिया में भी लगे रहते थे। इस आत्म चिन्तन की प्रक्रिया में अपने जीवन की अतीत घटनाओं की समीक्षा करके भावी जीवन की योजनाओं का निर्माण करना था। इन्द्र के अनुसार स्वामी जी जेल से मुक्त होकर जिस परिणाम पर पहुँचे, उसे उन्होंने अपने संस्मरणों में इस प्रकार लिखा है–

"मुझे निश्चय हुआ है कि अभी चरित्र गठन में बड़ी कमी है। कम से कम मैं तो ऐसे साँचे में ढला हूं कि कई अंशों में स्वयं सदाचार की कमी अपने अन्दर अनुभव करते हुये भी चरित्रहीन पुरुषों के साथ काम नहीं कर सकता। कांग्रेस, हिन्दू–महासभा, खिलाफत और अन्य अखिल भारतवर्षीय संस्थाओं को चलाने के लिये बड़े–बड़े व्यक्ति विद्यमान हैं। मुझ जैसे अल्पशक्ति वाले मनुष्य के लिये यही बड़ा काम है कि ब्रह्मचर्य के उद्धार और दलित जातियों के उत्थान का मार्ग जो अपने को सूझा है, उसका सन्देश आर्य जाति के आगे रखने का यत्न करूँ[1]।"

उपर्युक्त भावना से स्पष्ट है कि स्वामी जी राजनीतिज्ञों के चक्कर से बचकर स्वयं अपने ही बलबूते पर अस्पृश्यता निवारण के उपायों को सोच चुके थे। स्वामी जी की दृष्टि में वर्तमान में अस्पृश्यता ही भारत में अंग्रेजी राज का लंगर है और समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या अस्पृश्यता निवारण की है[2]। स्वामी जी ने धर्माचार्य के रूप में हिन्दूवाद को सुदृढ़ आधार देने के लिये शुद्धि और अछूतोद्धार की दुधारी तलवार हाथ में ले रखी थी।

जम्मू के क्षेत्र में शुद्धि का कार्य करने वाले आर्योपदेशक रामचन्द्र की जब वहां के राजपूतों की पिटाई से 20 जनवरी, 1923 में मृत्यु हो गई तो आर्य समाजी लोग बड़े चिन्तित हुए[3]। फरवरी 1923 के प्रथम सप्ताह में स्वामी दयानन्द की जन्म शताब्दी मनाने के सन्दर्भ में बुलाई गई सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में रामचन्द्र की मृत्यु के प्रसंग में शुद्धि का विषय भी चर्चित हुआ। सभा की इस बैठक में एक निर्णय लिया गया कि दयानन्द जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अधीन 'दयानन्द दलितोद्धार मिशन' स्थापित किया जाये और उसके लिये जनता से एक लाख रूपये की अपील की जाये। बैठक में सर्वसम्मति से यह निश्चय भी हुआ कि उक्त मिशन का प्रबन्ध और कार्य का भार प्रधान स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुर्द किया जावे[4]। उपर्युक्त प्रस्ताव के अनन्तर स्वामी जी ने निम्न वक्तव्य समाचार पत्रों के लिये दिया–

"कांग्रेस भी तथाकथित अस्पृश्यों को आत्मसात् करने में असमर्थ है। मैंने इस कार्य को अपने शेष जीवन का एक मात्र उद्देश्य बना लिया है। मैं उन हिन्दुओं से जो यह नहीं चाहते कि छः करोड़ भाई उनसे अलग हो जायँ, धर्म और राजनीति से ऊपर उठकर अपील करता हूं कि वे इस कार्य में धन और जन से मेरी सहायता करें[5]।"

स्वामी जी के मन में शुद्धि के विचार आर्य समाज में प्रवेश के समय से ही घर कर चुके थे। जालन्धर आर्य समाज के प्रधान के नाते उन्होंने रहतियों, मेघों और ओड़ों जाति के लोगों को

वैदिक वर्ण व्यवस्था में लाकर शुद्ध किया था। अतः शुद्धि का कार्य उनके लिये नया नहीं था। हाँ परिस्थितियाँ अवश्य नई थीं। बीसवीं शती के प्रथम दशक की शुद्धि के समय और इसी शती के तीसरे दशक के समय की राजनैतिक परिस्थितियों में नितान्त असमानता थी। इस समय शुद्धि को सामाजिक और धार्मिक परिधि की संकीर्णता से निकाल कर इसे राजनैतिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण विषय बना दिया गया था। इस काल में शुद्धि का अभिप्राय प्रायः हिन्दू–मुस्लिम एकता को भंग करके स्वराज्य प्राप्ति में बाधक से लिया जाता था, परन्तु स्वामी जी शुद्धि के विषय में इतने समर्पित थे कि उनकी भावना को राजनैतिक झंझावत भी रोकने में असमर्थ रहा।

भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के प्रधान

समय ने स्वामी जी का साथ दिया और मलकाना राजपूतों के शुद्धि आन्दोलन ने उनको नया नेतृत्व प्रदान किया। कुछ शिक्षित मलकाना राजपूत सन् 1905 से ही इस प्रयास में लगे हुये थे कि उनकी बिरादरी को हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित किया जाये। परन्तु सन्तोषजनक परिणाम न निकलने से उनका प्रयास ठन्ड़ा पड़ गया था। फिर सन 1910 में 'राजपूत शुद्धि सभा' की स्थापना हुई और शुद्धि की गाड़ी चल पड़ी। सन् 1922 के दिसम्बर मास में शाहपुराधीश की अध्यक्षता में राजपूतों के संगठन "क्षत्रिय उपकारिणी सभा" ने प्रस्ताव पारित करते हुए कहा कि मलकाना राजपूत शुद्धि संस्कार के द्वारा हिन्दू राजपूतों में पुनः सम्मिलित हो सकते हैं। इस प्रस्ताव के पश्चात् 13 फरवरी, 1923 को आगरा में बाबू शलिग्राम वकील के घर एक बैठक हुई। इसमें आर्य समाजी, सनातनी, जैन और सिख समुदाय के चुने हुए लोगों के अतिरिक्त स्वामी श्रद्धानन्द को भी बुलाया गया था। स्वामी जी इस बैठक में भाग लेने आगरा पहुंच गये। वहाँ 'भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' नाम से एक संगठन का निर्माण किया गया। उपस्थित लोगों ने सर्वसम्मति से स्वामी जी को इसका प्रधान बना दिया[6]। इसी दिन रात्रि को स्वामी जी ने आर्य समाज आगरा में शुद्धि के सम्बन्ध में प्रभावशाली व्याख्यान दिया।

अगले दिन स्वामी जी को शुद्धि के लिये साँधन नामक ग्राम में जाना था। स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक ब्रह्मानन्द दीक्षित को आदेश दिया कि वे उनके साथ साँधन चलेंगे। आगरा से अछनेरा तक रेल द्वारा यात्रा की। आगे की यात्रा के लिये तांगे की तलाश की गई। इसे दैवयोग ही समझिये कि स्वामी जी को साँधन गांव ले जाने और वापिस लाने के लिये जो तांगा किराये पर लिया गया था, उनका कोचवान मुसलमान था। वह आगरा में सम्पन्न हुई शुद्धि सभा की गतिविधियों से पूर्ण परिचित था। स्वामी जी को अपने तांगे में सवार देखकर उसके मन में पाप जाग गया। उसने ऊबड–खाबड़ कच्चे रास्ते पर तांगे को इस नीयत से दौड़ाया कि वह उलट जाये औरे तांगे में बैठी सारी सवारियाँ चोट खा जायें। ब्रह्मानन्द दीक्षित ने कोचवान की भावना को ताड़ लिया और तांगे से उतर कर उसकी पिटाई कर दी। स्वामी जी ने दीक्षित को धमकाया। पिटाई से कोचवान और भी बौखला गया औरे तांगे को बहुत ही धीमी गति से चलाने लगा। किन्तु वह जानबूझकर एक पहिये को ऊंची जगह चढ़ा देता था, ताकि तांगा उलट जाये। एक बार जब तांगा उलटने को हुओ तो दीक्षित तांगे से कूद पड़ा और तीन मील तक तांगे को हाथों का सहारा देते हुए चला। अन्त में स्वामी जी सहित सभी सवारी सकुशल साँधन गाँव में पहुंच गई। वहाँ के शुद्धि संस्कार को देखकर कोचवान जल–भुन गया। दीक्षित ने परिस्थितियों की नजाकत को समझते हुए साँधन से अछनेरा तक का साढ़े चार मील का वापिसी मार्ग तांगे को सहारा देते हुए पैदल ही पार किया[7]। इस प्रकार एक दुर्घटना होने से बच गई।

स्वामी जी की अध्यक्षता में बनी शुद्धि सभा की कार्यकारिणी का बहुमत इस पक्ष में था कि इस विषय में सावधानी पूर्वक शनैः शनैः कार्य आरम्भ करना चाहिए। परन्तु स्वामी जी का विचार

था कि हमें इस कार्य में शीघ्रता करनी चाहिये, क्योंकि मुसलमान तबलीग (धर्म परिवर्तन) के माध्यम से पहले ही हिन्दुओं से आगे जा चुके हैं। अतः उनकी दृष्टि में धन और जन की अपील शीघ्रता से ही प्रकाशित होनी चाहिये। बहुत विचार विमर्श के उपरान्त शुद्धि सभा के गठन के दस दिन बाद 'मरती हुई जाति को बचाओं' शीर्षक से स्वामी जी ने एक अपील इस प्रकार प्रसारित की–

"वर्तमान समय में महान् आर्य जाति को मरती हुई जाति कहा जाता है। इसका कारण इसकी छीजती संख्या नहीं अपितु इसका असंगठित होना है। व्यक्तिगत रूप में प्रतिभा और शरीर तथा अन्य जातियों द्वारा अप्राप्य नैतिकता के नियमों को धारण करने से भूमण्डल पर अद्वितीय समझी जाने वाली आर्य जाति अपनी फूट और स्वार्थ के कारण असहाय है। इस जाति के लाखों श्रेष्ठ पुरुषों ने मुस्लिम धर्म को स्वीकार कर लिया है और हजारों को ईसायइत ने ललचाया है। हमने उन्हें रोकने और उद्धार का कोई प्रयास नहीं किया है। नये मुसलमान बने कुछ ब्राह्मण, वैश्य, राजपूत और जाट दो सौ वर्षो के अधिक समय से हिन्दू धर्म के विश्वासों को संजोये हुये इस आशा में बैठे हैं कि उन्हें पुनः हिन्दू धर्म अपनाने का अवसर मिलेगा। मलकाना राजपूतों के कारण यह सुयोग हमें अब प्राप्त हुआ है। राजपूत महासभा ने ढोल, पीट कर यह घोषणा की कि साढ़े चार लाख मुसलमान राजपूत हिन्दू बनने के लिए तैयार हैं। इस भ्रामक घोषणा के पश्चात् राजपूत सभा चद्दर तानकर सो गई। मैं इस घोषणा को भ्रामक इसलिये कहता हूं कि इनमें से अत्यधिक बहुमत ने विश्वास और व्यवहार में कभी मुस्लिम धर्म को स्वीकार नहीं किया। हिन्दू समाज सो गया लेकिन मुसलमान एक जागृत शक्ति के समान कार्य में लग गये। उनके दर्जनों प्रचारक इस कार्य में लगे हुए हैं। जिनके रख–रखाव और प्रचार के लिये रुपया पानी की तरह आ रहा है। इसने आखिरकार हिन्दू जाति को भी जागृत किया और अब चारों तरफ से यह आवाज आ रही है कि इन बिछड़े भाइयों को वैदिक धर्म की छाती से लगाया जाये। इस उद्देश्य से उन हिन्दुओं का पुनरुद्धार करने के लिये जो मुस्लिम धर्म त्याग कर पुनः हिन्दू धर्म में आना चाहते हैं, एक नई सभा का गठन किया गया है[७]।

इस अपील के पश्चात् स्वामी ज़ी सर्वात्मना शुद्धि कार्य में लग गये। शुद्धि ही उनका धर्म और शुद्धि ही उनका कर्म बन गया। 25 फरवरी, 1923 को आगरा के समीपवर्ती गाँव 'रैबना' में हुये विशाल शुद्धि संस्कार में भी सम्मिलित हुए। स्वामी जी ने अगले दो महीनों में ग्राम–ग्राम घूम कर शुद्धि को सामान्य लोगों तक पहुंचाने का प्रशंसनीय कार्य किया। इन दो महीनों में लगभग 200 ग्रामों का दौरा किया और शुद्धि आन्दोलन को राष्ट्रीय महत्व का प्रश्न बना दिया। शुद्धि सभा की ओर से 'शुद्धि समाचार' मासिक पत्र भी निकलने लगा। शुद्धि आन्दोलन के प्रथम मास में 5000 मलकानों को शुद्ध किया गया और वर्ष के अन्त तक यह संख्या 30000 तक पहुंच गई[७]। शुद्धि आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में आर्य समाज तथा इसके सहयोगी व्यक्ति ही अगुआ थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि मुसलमान शुद्धि आन्दोलन के विरुद्ध हो गये और आर्य समाजी संन्यासी उनकी आंखों में कांटा बन कर चुभने लगा। संन्यासी के भगवे वस्त्रों से मुसलमानों को साक्षात् शुद्धि की ज्वालायें निकलती दिखाई पड़ने लगीं। अतः स्वामी श्रद्धानन्द का सामूहिक और व्यक्तिगत विरोध करने की तैयारियाँ होने लगी।

23 मार्च, 1923 में 'जमायत–उल–उलमा' नामक संस्था के तत्त्वाधान में हुई बम्बई की एक सभा में स्वामी जी के शुद्धि कार्य की निन्दा की गई। स्वामी जी की शुद्धि सम्बन्धी सरगर्मियों को देखते हुए अफवाह यह फैली कि मुसलमान मौलवी हिन्दू साधुओं के वेश में मलकाने राजपूतों में जाकर यह प्रचार कर रहे हैं कि शुद्धि हिन्दू शास्त्रों के विपरीत है। वे मलकानों को यह कह कर भी भयभीत कर रहे थे कि तुम्हारी रोटी–बेटी की समस्या उत्पन्न हो जायगी। सवर्ण हिन्दू तुम्हारे साथ विवाह सूत्र में बंधना पसन्द नहीं करेंगे। अतः तुम हमारे धर्म को मत बिगाड़ो और अपने पुराने ढाँचे

में ही बने रहे। उन्होंने यहाँ तक भी कहना आरम्भ कर दिया कि हम संन्यासी श्रद्धानन्द को देख लेंगे कि वह हिन्दू धर्म को कैसे बिगाड़ता है। इससे स्वामी जी के शुभचिन्तकों में चिन्ता व्याप गई और वे स्वामी जी की सुरक्षा के विषय में सोचने लगे। स्वामी जी का स्पष्ट उत्तर मिला "परम पिता मेरा रक्षक है।"

'जमायत–उल–उलमा' के पहल करने पर अनेक स्थानों पर स्वामी जी की सभाओं के प्रत्युत्तर में मुसलमानों ने भी सभायें की। प्रशासन ने भी मुसलमानों का साथ दिया और स्वामी जी को मुरादाबाद में भाषण देने से रोका गया। मुसलमानों द्वारा सभी प्रयास करने पर भी जब शुद्धि का आन्दोलन ठंडा नहीं पड़ा तो उन्होंने एक मात्र बचे ब्रह्मास्त्र को चलाया और कहना आरम्भ कर दिया कि इससे 'हिन्दू–मुस्लिम' एकता को खतरा है। इस बात से राजनीतिज्ञों के कान खड़े हो गये। राजनीतिज्ञ मानवाधिकार के नाते यह तो स्वीकार करते थे कि धर्म परिवर्तन प्रत्येक व्यक्ति का निर्बाध अधिकार है। अतः वे इस कारण शुद्धि आन्दोलन को रोक तो नहीं सकते थे परन्तु यह कहकर कि यह सामयिक नहीं है, इससे लोगों को विरत अवश्य कर रहे थे। राजगोपालाचार्य ने 'यंग इण्डिया' में लिखा "यदि स्वामी श्रद्धानन्द का मलकाना राजपूतों के सम्बन्ध में दावा सत्य है, पर अधिक सम्भावना है कि यह सत्य है तो यह धर्म परिवर्तन नहीं है, लेकिन यह तो मात्र उन लोगों का पुनरुद्धार है जो पहले ही हिन्दुत्व की प्रथाओं के अनुयायी थे। इस विषय में राष्ट्रीय औचित्य के सिद्धान्त का तर्क भी है।" पं0 मोती लाल नेहरु ने 8 अप्रैल, 1923 को इसी प्रकार का वक्तव्य दिया था। इसमें कहा गया था कि जब पंजाब में हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्ध कटु हैं, यदि इस समय यह आन्दोलन आरम्भ नहीं कियां जाता तो उन्हें प्रसन्नता होती। पं0 जवाहर लाल नेहरु ने भी यही बोली अपनाई और कहा कि मलकाना के क्षेत्रों से सभी बाह्य प्रचारकों को चला जाना चाहिये और उन्हें स्वयं अपनी ही सोच के अनुसार कार्य करने देना चाहिये।

स्वामी श्रद्धानन्द के शुद्धि आन्दोलन की लोक प्रियता और कांग्रेसी नेताओं द्वारा उसकी वैधता को स्वीकार किये जाने पर पुरातनपंथी हिन्दुओं में भी हलचल हुई। इस हलचल के अनेक कारणों में से एक कारण यह था कि इस आन्दोलन से उनकी हिन्दू हितों की ठेकेदारी हाथ से निकलती दिखाई देने लगी थी। अपनी पकड़ को उसी तेवर में रखने के लिए 'भारत धर्म महामण्डल' के प्रतिनिधि के रूप में महाराजा दरभंगा रियासत एवं बनारस के पंड़ितों ने 31 मार्च, 1923 को मलकाना राजपूतों की शुद्धि को अपनी स्वीकृति दे दी(10)। 4 और 5 अप्रैल को बनारस में मलकानों से सम्बन्धित बैठकें हुई और 5 पुरातनपंथी पंडितों ने मलकाना क्षेत्रों में शुद्धि हेतु अपनी सेवायें अर्पित कर दीं। परन्तु सनातनियों (पुरातन पंथियों) के शुद्धि कार्य में सम्मिलित होने का कदापि यह अर्थ नहीं था कि वे आर्य समाज के झंड़े के नीचे कार्य करने के लिये तैयार है। मई, 1923 में उन्होंने 'हिन्दू पुनः संस्कार समिति' नामक संस्था का गठन कर के स्वतन्त्र रूप से कार्य करना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू संगठन और बनारस अधिवेशन

शुद्धि के माध्यम से स्वामी जी हिन्दू समाज को एक मंच पर लाकर संगठित रूप देना चाहते थे। अतः हिन्दू संगठन उनके अपने दिमाग की सूझ थी(11)। स्वामी जी का हिन्दू संगठन का विचार 'हिन्दू महासभा' के राजनैतिक विचारों से अछूता, चारित्रिक बल पर जोर देने वाला और हिन्दू समाज की अन्यायपूर्ण और अवैचारिक कुरीतियों के उन्मूलन की दिशा में किया जाने वाला प्रयास था। अतः आपके संगठन में प्रत्येक व्यक्ति के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन पहली अनिवार्य शर्त थी। आपके विचारों में चौके–चूल्हे के झंझट में और अपने ही दलित भाइयों की छाया की छूवन से अपने को अपवित्र समझने वाला हिन्दू समाज कभी संगठित नहीं हो सकता। अतः दलितोद्धार आपके संगठन

रूपी देह की आत्मा था। स्वामी जी की मान्यता के अनुसार विधवाओं के प्रति किये गये अत्याचारों का प्रायश्चित्त हिन्दू समाज को उनके पुनरुत्थान द्वारा करना चाहिये। यह स्वामी जी के संगठन का तीसरा मूल मन्त्र था। उपर्युक्त मान्यताओं को समर्थन मिलने की आशा से स्वामी जी ने 'हिन्दू महासभा' द्वारा 19 और 20 अगस्त को बुलाये गये बनारस अधिवेशन में सहयोग देने की सोची। इस सहयोग के पीछे हिन्दू धर्म के सभी वर्गों को एकता के सूत्र में बांध कर दृढ़ संगठन बनाना भी था। स्वामी जी ने बनारस सम्मेलन की सफलता के लिये स्वामी स्वतन्त्रतानन्द पर शुद्धि कार्य का भार डाल दिया और स्वयं मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर इसके प्रचार कार्य में लग गये। इसके साथ ही स्वामी जी ने बनारस सम्मेलन के विचारार्थ निम्न तीन प्रस्ताव भी प्रेषित कर दिये–

(1) हिन्दू समाज में तथाकथित दलित वर्ग के साथ न्याय करने की दृष्टि से और उन्हें सम्पूर्ण आर्य भाईचारे का अंग मानकर आत्मसात् करने के सम्बन्ध में यह सम्मेलन प्रस्तावित करता है–

(अ) कि दलितों में से भी अत्यन्त दलितों को जन सामान्य के कुओं से पानी भरने की स्वीकृति होनी चाहिये।

(आ) कि दलितों को 'प्याऊ' पर पानी पीने की वही सुविधा होनी चाहिये जो उच्च वर्ण के लोगों को मिलती है।

(इ) कि जन सभाओं एवं अन्य उत्सवों पर दलितों को उसी दरी पर बैठने की स्वीकृति होनी चाहिये जिस पर उच्च वर्ण के व्यक्ति बैठते हैं।

(ई) कि दलित वर्ग के बच्चों को सरकारी और गैर सरकारी विद्यालयों में उसी प्रकार प्रवेश और कक्षा में बैठने की सुविधा प्राप्त हो जिस प्रकार की सुविधा अन्य हिन्दू एवं अहिन्दू विद्यार्थियों को मिलती है।

स्वामी जी का उपर्युक्त प्रथम प्रस्ताव वस्तुतः उनके अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन में अस्पृश्यता निवारण के संकल्प का ही खुलासा था। इस खुलासे की स्पष्ट व्याख्या इस प्रस्ताव से पूर्व भी स्वामी जी ने 3 जून, 1922 को हरिद्वार से कांग्रेस के महामन्त्री को लिखे अपने पत्र में की थी। राजनीति के आँचल में स्वामी जी का प्रस्ताव सौतले बेटे के समान ही समझा गया। वहाँ से निराश होकर हिन्दू महासभा की गोद में इसका पोषण हो सकेगा, यह सोचकर स्वामी जी ने निम्न प्रस्ताव प्रेषित किया था।

(1) यह सम्मेलन प्रस्तावित करता है कि नये मुसलमान हिन्दू धर्म में लिये जाने चाहिये और उन्हें हिन्दुओं के समान ही समझना चाहिये।

(2) इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि धर्मान्तरण के कारण बने मुसलमानों और ईसाइयों की बहुत बड़ी संख्या हिन्दुओं की वंशज है और अनार्यों को आत्मसात् करने की वैदिक धर्म की उदारता को देखते हुए यह सम्मेलन प्रस्तावित करता है कि हिन्दुओं के किसी भी वर्ग द्वारा प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध किया गया अहिन्दू सम्पूर्ण हिन्दू जाति की दृष्टि में प्रत्येक प्रकार के कार्य के लिये हिन्दू ही माना जाना चाहिए।

उपुर्यक्त प्रस्ताव एकता की आशा में किये जाने वाले प्रथम अधिवेशन में प्रथम दृष्ट्या चौंकाने वाले थे। अपने पुराने घरौंदे से निकल कर शुद्धि की ओर हाथ बढ़ाने वाले पुरातनपंथी हिन्दुओं का तुरन्त इसके लिये तैयार हो जाना अकल्पित था। इस बात को स्वामी जी और मालवीय जी दोनों

ही समझते थे। स्वामी जी के ये प्रस्ताव विषय समिति के समक्ष प्रस्तुत हुए। पक्ष और विपक्ष के तर्कों को सुनने के बाद आर्य और सनातनी सदस्य निम्न समझौते पर पहुँचे कि स्वामी जी का दूसरा प्रस्ताव इस संशोधन के साथ स्वीकार किया जाये कि नव मुस्लिम कहलाने वाले जिन मलकाना राजपूतों ने हिन्दू धर्म के मुख्य सिद्धान्तों को नहीं त्यागा है और वैवाहिक सम्बन्धों में मुसलमानों में नहीं मिले हैं, उन्हें शुद्धि द्वारा हिन्दू धर्म की उन्हीं जातियों में सम्मिलित किया जाये, जिसमें वे धर्मान्तरण से पूर्व थे। इसके साथ ही पूर्वकृत शुद्धियों के लिये प्रसन्नता प्रकट की गई।

स्वामी जी के पहले और तीसरे प्रस्ताव के सम्बन्ध में यह समझौता हुआ कि इनके सम्बन्ध में हिन्दू शास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों की एक समिति गठित की जाये जो अपनी खोजों और निर्णयों को कार्य समिति के समक्ष रखे। अधिवेशन में स्वामी जी ने उपर्युक्त संशोधनों के पक्ष में अपनी सहमति प्रदर्शित की। सम्मेलन के अन्तिम सत्र में स्वामी जी को हिन्दू महासभा का प्रधान निर्वाचित किया गया। सम्मेलन की समाप्ति पर लोगों द्वारा सफलता का श्रेय देने पर बनारस से लौटने के पश्चात् स्वामी जी ने अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करते हुए लिखा–

"मेरी इच्छा थी कि हिन्दू महासभा को गत अधिवेशन में और अधिक पूर्ण सफलता प्राप्त हुई होती। यदि अस्पृश्यता का पाप धुल जाता और विधवाओं के पुनर्विवाह की रुकावट एकदम उठा दी जाती, तो मुझको अधिक सन्तोष होता। यदि आग्रह किया जाता तो दोनों प्रस्ताव बहुत अधिक सम्मति से अवश्य स्वीकृत हो जाते। परन्तु आदरणीय सभापति पंडित मालवीय जी की सम्मति को मानते हुए मैंने काशी के ब्राह्मण पंडितों को एक और अवसर देना उचित समझा, जिससे वे स्वयं जनता का हित करते हुये हिन्दू जाति का सम्मान प्राप्त कर सकें। मुझको यह जानकर बड़ा दुःख और निराशा हुई कि दलित भाइयों को महासभा के मंच पर से भाषण नहीं करने दिया गया।........ हिन्दू महासभा ने न केवल मलकाना राजपूतों को किन्तु ब्राह्मण, वैश्य, गूजर, जाट आदि सभी को जो रीति–रिवाज तथा संस्कारों से हिन्दू हैं, पर नाममात्र के परधर्मी है, अपनी–अपनी बिरादरियों में फिर से सम्मिलित करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया है। .... अकेले मुझ को श्रेय देना उन कार्यकर्ताओं की उपेक्षा करना है, जिन्होंने अपना सब समय इस काम में लगाया हुआ है। .... फिर भी मुझको प्रसन्नता है कि पुरातन आर्य सभ्यता की सेवा के लिये बलिदान का मुकुट धारण करने के लिये एकमात्र मुझको ही योग्य समझा जा रहा है[12]।"

स्वामी जी के वक्तव्य का अन्तिम अंश विनीतता और कार्यकर्ताओं के सम्मान की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुये भी भावी घटना का संकेत दे रहा था कि स्वामी श्रद्धानन्द का हिन्दू जाति के उत्थान के लिये बलिदान अवश्य होना है।

स्वामी जी की हिन्दू सभा और हिन्दू संगठन के प्रति समर्पण भावना का आकलन करते समय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि स्वामी जी पिछले अनेक वर्षों तक इसके प्रति उदासीन क्यों रहे? जबकि 1912 में कर्नल यू. मुकर्जी ने हिन्दू धर्म की घटती हुई संख्या के प्रति उनका ध्यान आकर्षित करते हुए आंकड़ों के आधार पर यह बताने का प्रयास किया था कि 420 वर्षों में भूमण्डल से आर्य जाति का समूल नाश हो जायेगा[13]। इसके अतिरिक्त 1915 में पंजाब हिन्दू महासभा ने अखिल भारतीय हिन्दू महासभा स्थापित करने के लिये स्वामी जी को आमन्त्रित किया था किन्तु स्वामी जी ने इसमें भाग लेने के लिये इन्कार कर दिया था। स्वामी जी ने अपनी उदासीनता का स्पष्टीकरण देते हुए 'हिन्दू संगठन' नामक पुस्तक में लिखा है कि "कर्नल मुकर्जी द्वारा मेरे सम्मुख उपस्थित किये गये तथ्यों का मेरे ऊपर असर पड़ा। मैं पहले से ही ईसाइयों और मुसलमानों की शुद्धि के कार्य में रुचि रखता था। अब मैंने इस विषय का विशेष अध्ययन आरम्भ कर दिया। इसके बाद 13 वर्ष तक मैं अध्ययन की दृष्टि से सांख्यकीय शास्त्र का विद्यार्थी रहा। परन्तु 1923 के आरम्भ में अपना दिल और दिमाग जनता के बचाव तथा उन्नति की लड़ाई

में लगा दिया और अब वह समय आ गया है जब मैं अपनी विचार धाराओं और अनुभवों को जनता के विचारशील हिस्से के सम्मुख उपस्थित करूँ[14]।"

कुछ लेखकों के अनुसार इस उदासीनता के पीछे यह भावना थी कि हिन्दू सभा का नेतृत्व द्वितीय श्रेणी के उन नेताओं के हाथ में था जो कि डी.ए.वी. संस्थाओं से सम्बन्धित थे[15]। हमारे विचार में डी.ए.वी. के नेतृत्व वाली बात उदासीनता के मूल्यांकन में कोई कारण नहीं थी। हाँ इतना सत्य है कि स्वामी जी इन हिन्दू नेताओं को हेय दृष्टि से देखते थे जो हिन्दुत्व का दावा ठोककर ब्रिटिश भक्ति के पुजारी थे। स्वामी जी की उदासीनता का प्रमुख कारण उनका कांग्रेसोन्मुख राजनैतिक दर्शन था। उनकी दृष्टि में हिन्दू सभा उतने सबल हाथों में नहीं थी जितने सबल हाथों में कांग्रेस की बागडोर थी। इसके अतिरिक्त स्वामी जी यह भी समझते थे कि हिन्दू महासभा के नाम पर परस्पर धार्मिक मतभेदों के कारण एकता का प्रयास स्थायी नहीं रह सकेगा।

हिन्दू संगठन के माध्यम से हिन्दू महासभा में प्रविष्ट होने पर न तो स्वामी जी का राजनैतिक कद ही बढ़ा और नैव धार्मिक क्षेत्र में उनके आचार्यत्व में कोई वृद्धि हुई। हाँ इसके विपरीत यह अवश्य हुआ कि आर्य समाज के गहरे रंग में रंगे हुये स्वामी जी जो कभी आर्य शब्द के प्रयोग के लिये आग्रह किया करते थे अब 'हिन्दू आर्य' शब्द का प्रयोग करने लगे थे। मित्रों के कथनानुसारउनकी मन की मुराद भी पूरी नहीं हुई और प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। विष्णु प्रभाकर एवं विष्णुदत्त राकेश ने स्वामी जी के हिन्दू संगठन का मूल्यांकन करते हुए कहा है "हिन्दू संगठन का मतलब उनके लिये मुस्लिम विरोधी नहीं था बल्कि हिन्दुओं के अपने अन्दर के कलुष को धोना था[16]।" परन्तु खेद है कि धार्मिक संकीर्णता ने कलुष को धोने नहीं दिया।

शुद्धि संस्कार में पूर्ण वैदिक प्रक्रिया न अपनाने के कारण स्वामी जी को कटूक्तियाँ सहनी पड़ीं। स्वामी जी ने शुद्धि प्रचारकों को यह कह दिया था कि शुद्धि के लिये अनावश्यक वैदिक विधि–विधानों को काटकर संक्षिप्त विधि से संस्कार कर देना उचित है। इस कारण कट्टर आर्य समाजी असन्तुष्ट हो गए। स्वामी जी अपनी आलोचना से विचलित नहीं हुए। प्रक्रिया में चमत्कारी परिवर्तन करना उनके स्वभाव का अंग था। इस स्वभाव का सबसे प्रमुख प्रमाण वे संन्यास लेते समय दे चुके थे।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयास

हिन्दू महासभा और हिन्दू संगठन के समय (1923) देश में अनेक स्थानों पर हिन्दू–मुस्लिम झगड़े भड़क उठे थे। 1923 ई0 के प्रारम्भ में मुलतान और अमृतसर के झगड़ों के बाद कलकत्ता में आर्यों द्वारा एक मस्जिद के सामने बाजा बजाने के कारण झगड़ा हो गया। अगस्त के अन्तिम दिनों में सहारनपुर का हिन्दू–मुस्लिम फिसाद महीनों तक शान्ति स्थापित न होने के कारण बना रहा। दिल्ली में सितम्बर मास को सम्पन्न हुई कांग्रेस की बैठक में शुद्धि और संगठन को शान्ति भंग का कारण मानकर नेताओं ने भरपूर कोसा। इस बैठक से कुछ दिन पूर्व दिल्ली के हिन्दू तथा मुसलमान नेता शहीद हाल (1919 के शहीदों की स्मृति में निर्मित भवन) में हिन्दू–मुस्लिम समस्या के समाधान के लिये इकट्ठे हुये। हकीम अजमल खाँ के प्रस्ताव पर स्वामी श्रद्धानन्द को इस बैठक का अध्यक्ष बनाया गया।

इस बैठक में मौलाना अहमद सौद ने हिन्दू–मुस्लिम विवाद को शुद्धि द्वारा भड़काने के लिये स्वामी जी पर दोषारोपण किए। उसने यहां तक कह डाला कि स्वामी जी ने दोनों जातियों में झगड़े करवाने के लिये अंग्रेजी सरकार से पैसे लिये हैं। स्वामी जी ने शुद्धि और संगठन के सन्दर्भ में अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का उत्तर देते हुये कहा कि हिन्दू–मुस्लिम एकता को आघात मियाँ फजल हुसैन और मुलतान

के मुसलमानों के सीमातीत भड़काऊ भाषणों से लगा है। कांग्रेस भी बारदौली प्रस्ताव के उपरान्त शिथिल हो गई। मौलवी तथा हिन्दू नेता व्यर्थ में ही शुद्धि और संगठन को एकता के भंग का बहाना बना रहे हैं। इस बैठक में मलकाना राजपूतों के क्षेत्रों में बाह्य हस्तक्षेप विषय पर भी खुलकर चर्चा–परिचर्चा हुई। स्वामी जी ने अपने विचार प्रकट करते हुये निश्चयात्मक रूप में घोषणा की कि आगरा के समीपवर्ती क्षेत्र में शान्ति भंग करने का उत्तरदायित्व मुसलमान मौलवियों पर है।

हिन्दु–मुस्लिम एकता की बैठकों के समय में ही ख्वाजा हसन निजामी द्वारा लिखित 'दाइये इस्लाम' नामक एक छोटी सी पुस्तक स्वामी जी के हाथ लग गई थी। इस पुस्तक में उन उचित–अनुचित साधनों का प्रयोग लिखा गया था जिनसे हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जा सकता है। इस पुस्तक में यह भी लिखा गया था कि इस विषय में सर्वप्रथम अछूतों को आकर्षित किया जाये जिससे वे सब मुसलमान बन जायें और मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं के बराबर हो जाये। इसके साथ ही इस पुस्तक में बार–बार आर्य समाज और स्वामी जी पर आक्रमण किया गया था। स्वामी जी को मुसलमानों के प्रचार में सबसे बड़ा बाधक मानते हुए लिखा गया था कि स्वामी जी को जेल में कुछ ऐसा हो गया कि पूर्व में हिन्दू–मुस्लिम एकता का स्वर देने की अपेक्षा अब वे हिन्दू–मुस्लिम एकता में खाई पैदा कर रहे हैं। अब वे पुरातनपंथी हिन्दुओं को अपने साथ मिलाकर आर्य समाज की संख्या बढ़ाना चाहते हैं।

एकता की बैठक में उपर्युक्त पुस्तक का हवाला देते हुये स्वामीजी जी ने कहा कि यह पुस्तक 'फातमाई दावत–ए–इस्लाम' नामक पुस्तक की अनुभूमिका है। 'फातमाई दावत–ए–इस्लाम' 1920 में लिखी गई थी। अतः मुसलमानों ने शुद्धि और संगठन नामक संस्थाओं की स्थापना से पूर्व ही हिन्दुओं की संख्या को कम करने की योजनाएं बना रखी थी। इसके साथ ही स्वामी जी ने हिन्दू जनता को सावधान करने के लिये तुरन्त ही 'दाइये इस्लाम' नामक पुस्तक का प्रत्युत्तर देने के लिये 'हिन्दुओं सावधान, तुम्हारे धर्म दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया' नामक एक छोटी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में हिन्दुओं को सावधान करते हुये स्वामी जी ने सुझाव दिये कि हिन्दुओं को चाहिये कि वे अपने धर्म की पूर्ण शिक्षा का प्रबन्ध करें। इस कार्य को आर्य समाज ने आरम्भ किया था, लेकिन अकेले उनके बस की बात नहीं है। देशी–रियासतों के हिन्दू राजाओं को मुस्लिम रहन–सहन का त्याग करना चाहिये, क्योंकि राजाओं के रहन–सहन का अनुसरण प्रजा करती है और इससे लोग मुस्लिम संस्कृति की ओर आकर्षित होते हैं। हिन्दुओं को चाहिये कि वे मुसलमानों के धार्मिक त्यौहारों में जाना, उनके पीर पैगम्बरों को पूजना और उनके तीर्थ स्थलों पर जाना छोड़ दें। हिन्दुओं को असहाय बच्चों और विधवाओं की सुरक्षा करनी चाहिये। क्योंकि ये निराशा की स्थिति में मुस्लिम धर्म की ओर खिंचे चले जाते हैं। सभी हिन्दुओं को अस्पृश्यता के भेद को भगाना चाहिये। पुस्तक के अन्त में स्वामी जी ने मुसलमानों से अपील की कि वे निजामी की योजनाओं से दूर रहें और उनकी निन्दा करें जिन्होंने इन योजनाओं में भाग लिया है।

इस्लाम के विकास के सम्बन्ध में निजामी की पुस्तक में दी गई अनैतिक योजनाओं की तुलना में स्वामी जी की पुस्तक की योजनायें नैतिकता से युक्त थीं। निजामी की पुस्तक में घृणा के भाव थे और हिन्दुओं को मुस्लिम धर्म में लाने के सभी प्रकार के उपाय सुझाये गये थे, जबकि स्वामी जी ने अपनी पुस्तक में मात्र हिन्दुओं को ही अपने दृष्टिकोणों में परिवर्तन के सुझाव दिये गये थे। इस प्रकार एकता की बैठक में यह सिद्ध करने पर कि एकता तोड़ने की पहल मुसलमानों की ओर से निरन्तर होती रही है, स्वामी ने सदाशयता का परिचय देते हुये कहा कि वे प्रयास करेंगे कि शुद्धि सभा और हिन्दू संगठन इस बैठक के प्रस्ताव को स्वीकार करके अपने प्रचारकों को मलकाना क्षेत्र से वापिस बुला लें। यदि मुसलमान अपने प्रचारकों को वापिस बुलाना स्वीकार कर लेते हैं और शुद्धि सभा इसे अस्वीकार कर देती है तो वे शुद्धि सभा के प्रधान पद से त्यागपत्र दे देंगे। स्वामी जी ने इसी सन्दर्भ में कहा कि प्रथम–मुसलमानों को ही अपने बाह्य प्रचारक हटाने चाहियें, क्योंकि उन्होंने ही इस विषय में पहल की थी।

इधर कांग्रेस की विशेष बैठक में भी हिन्दू–मुसलमान समस्या को सुलझाने के प्रयास जारी थे। कांग्रेस की बैठक में शुद्धि और तबलीग के सम्बन्ध में निर्णय लेते हुये कहा गया था कि इस समस्या के समाधान के लिये मौलवियों, पंड़ितों, मुसलमान और हिन्दू नेताओं के हस्ताक्षरों सहित एक वक्तव्य जारी होना चाहिये। जिसमें यह लिखा हुआ हो कि जो व्यक्ति एक दूसरे धर्म के व्यक्तियों की जान और माल को हानि पहुँचाने वाली गतिविधियों में सम्मिलित होगा, वह धार्मिक दृष्टि से महापापी होगा। लगभग साठ से ऊपर हिन्दू–मुसलमान नेताओं ने उपर्युक्त वक्तव्य के पक्ष में हस्ताक्षर कर दिये थे। इन हस्ताक्षरकर्ताओं में स्वामी श्रद्धानन्द भी एक थे।

स्वामी श्रद्धानन्द की हिन्दू मुस्लिम एकता की वार्ता में संलिप्तता के कारण यह किंवदन्ती फैल गई कि स्वामी जी कांग्रेस के हाथ बिक गये हैं और उन्होंने शुद्धि और संगठन के कार्य को तिलाजंलि दे दी है। लोगों के मनों में बैठी भ्रान्त धारणा के निराकरण के लिये स्वामी जी ने 28 सितम्बर को दिल्ली से निम्न वक्तव्य दिया–

"निष्क्रिय और शरारती तत्त्वों द्वारा कभी–कभी यह प्रचार किया जा रहा है कि मैंने और मालवीय जी ने कांग्रेस के नेताओं के कहने से शुद्धि और संगठन का कार्य करना छोड़ दिया है। इस प्रकार की कोई बात नहीं है। शुद्धि का कार्य ईमानदारी से उसी प्रकार किया जायेगा जैसा कि पहले बिना अनुचित साधनों के किया जाता रहा है। मैंने अपना त्यागपत्र साहित्यिक कार्यो के लिये समय निकालने के विचार से देने का निश्चय किया था। जब आर्य समाजी और सनातनी नेताओं ने मुझ पर दबाव डाला तो मैंने निर्णय ले लिया कि साहित्यिक कार्य को छोड़कर मैं पूर्ववत् लगा रहूंगा[17]।

हिन्दू महासभा से मोह-भंग

बनारस प्रस्ताव के अनुसार स्वामी जी के प्रस्तावों पर विचार करने के लिये 72 पंडितों की एक समिति गठित की गई। इस समिति की 24 जनवरी, 1924 को बनारस में एक बैठक हुई। इस बैठक के निर्णयों और खोजों की रिपोर्ट हिन्दू महासभा की कार्यकारिणी को भेज दी गई। पंडितों की समिति ने स्वामी जी के अछूतोद्धार के प्रस्ताव में सुझाये गये स्कूलों, मन्दिरों और कुओं के प्रवेश वाले अंशों को कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया। परन्तु इस समिति ने अछूतों को यज्ञोपवीत देने और उनके साथ खाने के विषय में अपना निर्णय देते हुए लिखा कि शूद्रों को यज्ञोपवीत देना, वेदों का पढ़ाना और उनके साथ मिल कर भोजन करना धर्मशास्त्रों के विरूद्ध है। अतः एकता के लिये आवश्यक है कि महासभा के सदस्यों को इन सामाजिक सुधारों को छोड़ देना चाहिये। कार्य समिति के आर्य समाजी सदस्यों ने इसका डटकर विरोध किया। इस विरोध का परिणाम यह निकला कि उपर्युक्त प्रस्ताव में निम्न प्रकार से संशोधन करना पड़ा–

"कि अछूतों को यज्ञोपवीत देने, वेदों को पढ़ाने और उनके साथ भोजन करने आदि विषयों में अधिक संख्यक सनातनियों का कहना है कि ये कार्य शास्त्रानुकूल नही हैं। अतः हिन्दू महासभा के नाम पर ये कार्य नहीं करने चाहिए।"

दूसरा विवाद का विषय शुद्धि था। पंडितों के प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक अहिन्दू को हिन्दुत्व के दायरे में आना स्वागत के योग्य है। लेकिन उनको हिन्दुओं की किसी जाति में सम्मिलित नहीं किया जायेगा। यह प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। उपर्युक्त स्वीकृत दोनों प्रस्ताव स्वामी श्रद्धानन्द के मूल प्रस्तावों की भावना के अनुकूल नहीं थे। इसी कारण स्वामी जी फरवरी, 1924 में होने वाले इलाहाबाद के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित नही हुए।

इस प्रकार सन् 1924 में स्वामी जी के सम्मुख अछूतों के विषय को लेकर दो समस्यायें उपस्थित थीं। प्रथम समस्या 'काकीनाडा' (1923) में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन पर मौलाना मुहम्मद अली

का निम्न वक्तव्य कि अछूतों के धर्मान्तरण के क्षेत्र में आगा खां की आर्थिक सहायता आ रही है। इस आर्थिक सहायता से जो हिन्दू मुसलमानों का विरोध करते हैं, वे भी गुप्त रुप में आधे मुसलमान बन जायेंगे[18] थी। सत्यदेव ने मौहम्मद अली के अध्यक्षीय भाषण का हवाला देते हुए लिखा है "मौलाना मुहम्मद अली ने काकीनाडा कांग्रेस के अध्यक्ष के भाषण में अछूतों को लावारिस माल समझ आधा–आधा बांट लेने की बात कह कर, स्वामी जी के जीवन से भी अधिक प्रिय विषय पर, ऐसी गहरी चोट की थी कि उसके बाद स्वामी जी ने एक क्षण भी न गंवा कर सब समय और शक्ति इस काम में लगा देने का संकल्प कर लिया था[19]।

दूसरी समस्या हिन्दू महासभा में रहने और न रहने के सम्बन्ध में थी। स्वामी जी ने इस विषय में अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार न रहने का निश्चय किया। इस प्रकार 1924 ई0 में स्वामी जी पुनः चौराहे पर खड़े दिखाई देने लगे और महासभा के कार्यो से उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। अब स्वामी के पास आर्य समाज को छोड़कर अन्य ऐसी संस्था नहीं थी जो अछूतोद्धार के कार्य में उनका हाथ बटा सके।

अछूतोद्धार के लिए धर्म यात्राएं

उत्तर भारत की अछूतोद्धार की समस्याओं से प्रायः स्वामी परिचित थे। इस विषय में दक्षिण भारतवासियों का दृष्टिकोण कैसा है, इसको जानने की इच्छा से स्वामी जी ने आर्य सार्वदेशिक सभा की ओर से दक्षिण भारत की यात्रा पर जाने का निश्चय किया। यात्रा पर जाने से पूर्व उन्होंने अपनी भावी योजना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'वर्तमान मुख्य समस्या' नामक छोटी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के आरम्भ में आर्य समाज द्वारा अछूतोद्धार के क्षेत्र में किये गये वर्णन के साथ शुद्धि का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक का उद्देश्य निजामी और मौलाना मुहम्मद अली की मुस्लिम विस्तारवादी प्रवृति की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित करना था। स्वामी जी की मान्यता में अछूतोद्धार का कार्य न तो कांग्रेस के बस की बात है और न इसे हिन्दू महासभा ही कर सकती है, क्योंकि कांग्रेस की नीति मुस्लिम तुष्टिक्रण की नीति है और हिन्दू परस्पर विभाजित हैं। अतः यह कार्य स्वतः ही आर्य समाज के कन्धों पर आ गया है। धर्माचार्य के रूप में स्वामी जी ने इस पुस्तक में हिन्दुओं के परस्पर विभाजित होने पर भी उन्हें एकत्रित करने की युक्ति सोच ही ली। इस युक्ति का केन्द्र बिन्दु 'गोरक्षा' था। स्वामी जी के कथनानुसार प्रत्येक अछूत जो मुसलमान या ईसाई बनता है, वह गोमांस का भक्षण करता है। अतः एक अछूत को मुसलमान अथवा ईसाई बनने से रोकने का अर्थ है कि वर्ष में एक गाय की सुरक्षा हो गई। परन्तु बिखरी हुई हिन्दू जाति को इस प्रकार के कार्य के लिये संगठित करना कोई सरल कार्य नहीं था। चौराहे पर खड़े स्वामी श्रद्धानन्द को आर्य समाज के अतिरिक्त कोई संस्था दिखाई नहीं दी। अतः इस कार्य के लिये उन्होंने 250 धर्म प्रचारकों और 25 लाख रूपये की अपील सार्वदेशिक सभा के दलितोद्धार फण्ड के लिये जारी कर दी।

इसके बाद स्वामी जी दक्षिण भारत की धर्मयात्रा पर चल पड़े। अमृतसर कांग्रेस में अपने स्वागत भाषण में स्वामी जी ने अछूतोद्धार के लिये कांग्रेस का जो ध्यान आकर्षित किया था, उससे प्रभावित होकर मद्रास प्रान्त के नेता दीवान माधव राव, हिन्दू के स्वर्गीय सम्पादक कस्तूरी रंगा आयंगर और विजय राघवाचार्य आदि ने स्वामी को मद्रास प्रान्त में दलितोद्धार कार्य करने के लिये आमन्त्रित किया था, परन्तु किन्हीं कारणों से स्वामी जी का उन दिनों मद्रास जाने का कार्यक्रम नहीं बन सका। स्वामी जी ने अपनी चिर संचित आकांक्षा को 1924 में पूरा किया और वे 25 अप्रैल, 1924 को दिल्ली से मद्रास के लिये चल पड़े। स्वामी जी 27 अप्रैल से 1 मई तक बम्बई रहे। बम्बई में दलित भाइयों को सन्देश देते हुए स्वामी जी ने कहा "यदि तुम्हें बाह्य मन्दिरों में जाकर देव दर्शन करने से रोका जाता है, तो अपने अन्तरात्मा के पवित्र मन्दिर में सर्वव्यापक परमात्मा का दर्शन और पूजा करना

सीखो, जहां जाने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। अपने बुजुर्गों की तरह अपना सिर कटवा दो, परन्तु धर्म न छोड़ो[20]।"

स्वामी जी का उपर्युक्त सन्देश औपनिषदिक चिन्तन की कोटि का माना जा सकता है। इस सन्देश में वीर रस की अपेक्षा शान्त रस का आश्रय लेकर अछूतों की यथावत् स्थिति को स्वीकार करके उन्हें भाग्य के भरोसे पर ही छोड़ दिया गया है और साथ में उनसे बलिदान की आशा भी की गई है। स्वामी जी की इस यात्रा के समय गांधी जी जूहु (बम्बई) में विद्यमान थे और उन्हीं दिनों कालीकट वायकोम नामक स्थान पर मन्दिरों के आस–पास की सड़कों पर अछूतों के प्रवेश की निषेधाज्ञा को लेकर दलित जातियों द्वारा सत्याग्रह भी चलाया जा रहा था। स्वामी जी महात्मा जी से मिलने जुहू चले गए। महात्मा गांधी के मन में हिन्दू संगठन के कार्यकर्ताओं और स्वामी जी के प्रति जो सन्देह उत्पन्न हो गया था, इस सम्बन्ध में स्वामी जी एवं महात्मा जी के मध्य विस्तार से बातचीत हुई। इसी मुलाकात में स्वामी जी ने 'वायकोम' सत्याग्रह के विषय में गांधी जी से बातचीत की थी, क्योंकि जोर्ज जोसेफ ने जेल जाते समय स्वामी जी से 'वायकाम' सत्याग्रह की बागडोर सम्भालने के लिये निवेदन किया था। दोनों की मुलाकात लगभग दो घण्टे तक चली। मुलाकात के बाद दोनों तरफ से कोई वक्तव्य प्रसारित नहीं किया गया।

10 मई को स्वामी जी मंगलौर आये। वहां से कालीकट, मदुरा होते हुए 20 मई को पुनः मद्रास आ गए। वहां 'गोखले हाल' में आपका एक ओजस्वी भाषण हुआ, जिसने सम्पूर्ण दक्षिण भारत में कम्पन उत्पन्न कर दिया। यह भाषण स्वामी जी के सभी पूर्ववर्ती भाषणों की परम्परा से हटा हुआ था। उस भाषण में स्वामी ने कहा था "पुरोहित आदि के अहंकार के कारण आपके यहां ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतरों का झगड़ा तो चल ही रहा था। लेकिन अब उससे भी बुरा एक अन्य झगड़ा आने वाला है। यदि आपने अस्पृश्य कहे जाने वाले भाइयों के उद्धार की ओर विशेष ध्यान न दिया, तो मैं आपको सचेत करता हूं कि वह दिन दूर नहीं, जब आपके दलित भाई, जिन्हें आप 'पंचम' कहते हैं, आपसे सब तरह का सम्बन्ध तोड़ देंगे। या तो सब के सब दूसरे सम्प्रदायों में चले जायेंगे अथवा अपनी जाति ही अलग बना लेंगे। मैं स्वयं कमजोर, रोगी और वृद्ध होता हुआ भी सब देश में घूम जाऊँगा, दलित भाइयों का संगठन करूंगा और उनको कहूंगा कि वे हर एक ब्राह्मण को स्पर्श करके वैसा ही भ्रष्ट कर दें, जैसा आप उनको मानते हैं। तब निश्चय ही आप सब उनके पैरों में माथा टेक देंगे[21]।"

उपर्युक्त भाषण में संन्यासी श्रद्धानन्द न बोलकर युवावस्था का उग्र परिवर्तनवादी और नई स्फूर्ति का प्रतीक मुंशीराम ही बोलता दिखाई पड़ रहा था। दक्षिण भारत की यात्रा में दिये गये भाषणों का मूल्यांकन करने पर हमें अनुभव होता है कि बम्बई के भाषण की शैली एक औपनिषदिक ऋषि की अहिंसात्मक और सात्त्विक भावों से भरपूर प्रवचन की शैली थी। इसके विपरीत मद्रास के भाषण की शैली आक्रोश से भरपूर हिंसात्मक राजसी वृत्ति की परिचायिका शैली थी। दोनों भाषणों का उद्देश्य समान था, परन्तु समाधान की प्रक्रिया अलग–अलग थी।

महात्मा गांधी की स्वामी जी एवं आर्य समाज सम्बन्धी टिप्पणी पर आक्रोश

स्वामी श्रद्धानन्द से अपनी मुलाकात के संबंध में महात्मा गांधी ने 29 मई, 1924 को 'यंग इण्डिया' में 'हिन्दू–मुसलमान तनाव इसका कारण और ईलाज' शीर्षक से एक लम्बा लेख लिखा। इस लेख में महात्मा जी ने स्वामी श्रद्धानन्द और आर्य समाज के सम्बन्ध में विपरीत टिप्पणियाँ देते हुए लिखा "स्वामी श्रद्धानन्द भी अविश्वसनीय है। मैं जानता हूं कि प्रायः उनके भाषण उत्तेजनात्मक होते हैं। लेकिन इतना होने पर भी वे हिन्दू–मुस्लिम एकता चाहते हैं। दुर्भाग्य से वे प्रत्येक मुसलमान को आर्य बनाने की सम्भावना पर विश्वास करते हैं। जैसा कि अधिसंख्यक मुसलमान सोचते हैं कि

प्रत्येक गैर मुसलमान किसी दिन धर्मान्तरण द्वारा मुसलमान बनेगा। श्रद्धानन्द निर्भीक और वीर हैं। उन्होंने अकेले ही गंगा के पवित्र किनारे पर बीहड़ता को आश्रम व्यवस्था वाले महाविद्यालय में परिवर्तित कर दिया है। उन्हें अपने पर तथा अपने उद्देश्य पर विश्वास है। उनमें आर्य समाज की विरासत है। .... दयानन्द ने संसार के सबसे अधिक सहनशील और उदार धर्म को संकुचित बनाने का प्रयास किया है .... जहां कहीं आप आर्य समाजी देखेंगे, वहीं आपको जीवन और ऊर्जा दिखाई देगी। लेकिन संकुचित दृष्टिकोण और झगड़ालू आदत के कारण वे दूसरे सम्प्रदायों से लड़ते हैं या उनके अभाव में परस्पर लड़ने लगते हैं। श्रद्धानन्द में यह प्रवृत्ति काफी हद तक है। लेकिन इन सब कमियों के होने पर भी मैं उनको पुरानी गुहार करने वाला नहीं मानता। यह सम्भव है कि आर्य समाज और स्वामी जी के सम्बन्ध में ऐसा रेखाचित्र देने से आर्य समाजी, क्रोधित हो जाएँ। मेरा मन्तव्य आर्य समाजियों को तिरस्कृत करने का नहीं है। मैं आर्य समाजियों को प्यार करता हूं क्योंकि उनमें से बहुत से मेरे सहयोगी हैं। मैंने स्वामी जी से प्यार करना अपने दक्षिण अफ्रीका के निवास काल में ही सीख लिया था। अब मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूं। मैं उन्हें कम प्यार नहीं करता। इसी प्यार के कारण मैंने ऐसे विचार प्रकट किए हैं।''

आर्य समाजियों ने गांधी जी के विचारों को प्यार भरा नहीं माना और विरोध में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शोर मचाया और गांधी जी को खेद प्रकट करने के लिये लिखा गया। परन्तु गांधी जी उस समय रंचमात्र भी अपने विचारों से पीछे नहीं हटे। इस विवाद के समय स्वामी जी दक्षिण भारत के दौरे पर (27 अप्रैल से 5 जून तक) थे। मद्रास से स्वामी जी 25 मई को आन्ध्र प्रदेश में गुडीवाड़ा नामक नगर में पहुँचे। यहाँ स्वामी जी ने 'आन्ध्र प्रान्तीय दलितोद्धार सम्मेलन की अध्यक्षता की। गुडीवाड़ा के पश्चात् स्वामी जी राजमहेन्द्री नामक स्थान पहुँचे। यहाँ वीरेशलिंगम पन्तलु द्वारा संचालित विधवा आश्रम में स्वामी जी का भाषण बड़ा हृदयस्पर्शी रहा। स्वामी जी ने अपने भाषण में कहा "भगवान की सृष्टि के इन कोमल फूलों के प्रति हिन्दू समाज ने बड़ा भारी पाप किया है। उसको आज नहीं तो कल इस पाप का प्रायश्चित करना ही होगा। यह सच है कि जहाँ देवियों का सम्मान होता है, वहाँ ही दिव्य गुणों का विकास सम्भव है[22]।

इसी यात्रा के दौरान स्वामी जी वायकोम सत्याग्रह की व्यक्तिगत जानकारी लेने वायकोम भी गए। वायकोम सत्याग्रह के संचालकों को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वे व्यक्तिगत रूप में इस सत्याग्रह में भाग नहीं ले सकते, क्योंकि वे कांग्रेस के सदस्य नहीं हैं। स्वामी जी ने वायकोम सत्याग्रह को स्थानीय रखने के गांधी जी के आदेशों की आलोचना की, और संचालकों को सुझाव दिया कि वे महात्मा गांधी से मिलें जिससे बाहरी सहायता प्राप्त करने की छूट मिल सके। उन्होंने कहा कि यदि कांग्रेस इस सत्याग्रह को बन्द कर दे तो यह स्वतन्त्र रूप से चलाया जाना चाहिये। यदि फिर भी यह सत्याग्रह न चले तो यह हिन्दू महासभा को सौंप दिया जाना उचित है।

वायकोम सत्याग्रह का आरम्भ करने का मूल कारण आर्य समाज के शुद्धि कार्यक्रम की योजना थी। वायकोम क्षेत्र में कार्य करने वाले आर्य समाजी कार्यकर्ताओं ने दलित जाति के कुछ व्यक्तियों को शुद्ध करके वैदिक धर्मानुयायी बना दिया था। शुद्ध होने के उपरान्त मन्दिरों के समीपवर्ती प्रतिबन्धित सड़कों पर इनका आना–जाना भी खुल गया था। परन्तु कुछ समय के पश्चात् पुरातनपंथियों के प्रभाव में आकर अधिकारियों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि आर्य समाज द्वारा शुद्ध किये जाने पर भी दलितों की सामाजिक स्थिति उसी प्रकार रहेगी। इसका परिणाम यह हुआ कि 'रथोत्सव' पर मन्दिर की समीपवर्ती सड़कों पर दलितों के आने–जाने पर प्रतिबन्ध लग गया। स्वामी जी एवं पं0 ऋषिराम ने एक घोषणा–पत्र प्रकाशित किया। जिसमें लिखा गया था कि इसका अभिप्राय है कि दलित वर्ग का व्यक्ति जब तक मुसलमान या ईसाई बनकर अपने धर्म को त्याग नहीं देता, तब तक उसकी सामाजिक अयोग्यताएँ समाप्त नहीं होती।

इस घोषणा पत्र द्वारा सामान्य से सम्पूर्ण हिन्दू जनता और विशेष रूप से हिन्दू महासभा के प्रधान मालवीय जी को इस दिशा में कुछ करने के लिये प्रेरित किया गया था[23]।

6 जून, 1924 को स्वामी जी अपनी दक्षिण यात्रा से दिल्ली आ गए। दिल्ली आने पर गांधी जी के लेख के विषय में लोगों ने उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही। स्वामी जी ने चावड़ी बाजार, दिल्ली के आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग में कहा 'मुझे आप आज्ञा दें कि मैं महात्मा जी तक यह सन्देश पहुँचा दूँ कि इस सिलसिले में जो अनुचित कलमें आर्य समाज की ओर से लिखे गये हैं, उनके लिये हमें दुःख है। .... मैं महात्मा गांधी के प्रतिवाद में कुछ नहीं लिखूँगा। मैं इसकी कोई आवश्यकता भीनहीं समझता। उनके लेख का कारण मैं जानता हूं। केवल इतनी आवश्यकता है कि आर्य समाजी अपने आचरणों को उत्तम बना कर दीपक बनें, ताकि उससे दूसरे दीपक जलाये जा सकें। यदि आप इस योग्य बन जायेंगे तो महात्मा या किसी अन्य के आक्रमण से आर्य समाज का काम बन्द नहीं होगा[24]।

इसी सम्बन्ध में 13 जून, 1924 को लीडर समाचार पत्र में लिखा गया था 'कि वे (स्वामी जी) इस प्रसंग में किसी प्रकार उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते।' गांधी जी का स्वयं का वक्तव्य इसका सबसे उत्तम प्रतिवाद है। गांधी जी का स्वयं का वक्तव्य विपरीतताओं से भरपूर है और उससे स्पष्ट होता है कि वे किन कारणों से आर्य समाज को बुरा मानते हैं। आर्य समाज को महात्मा गांधी के लेख हानि नहीं पहुंचा सकते। यदि आर्य समाज अपने प्रति सत्य है तो न तो महात्मा गांधी की और नैव अन्य किसी व्यक्ति की लेखनी आर्य समाज के कार्यकलापों को रोक सकती है।

लेकिन इतना सब कुछ लिखने पर यह घटना स्वामी जी के मन पर कहीं न कहीं एक टीस छोड़ गई। 'लिबरेटर' के लेखों में स्वामी ने उस टीस को प्रवाहित करने के लिये गांधी जी और कांग्रेस को मुस्लिम पक्षपाती आदि लांछनों से लीपने का प्रयास किया है। आर्य समाज, स्वामी दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द के विषय में महात्मा गांधी ने अपने लेख में जो विचार प्रकट किये थे, उनका आकलन करने के बाद इन्द्र ने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा कि–

"यहाँ प्रसंगवश मैं महात्मा जी के हिन्दू–मुस्लिम एकता सम्बन्धी लेख की चर्चा भी कर देना चाहता हूं, जो यंग इण्डिया में प्रकाशित हुआ था। उसमें महात्मा जी ने हिन्दू–मुस्लिम विरोध के कारणों पर विचार करते हुये जिस शैली का अनुसरण किया था, उससे सम्भव है, मुस्लिम संसार पर उनकी उदारता का सिक्का जमा हो, परन्तु भारत की राजनीति और सामाजिक दशा पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। उस लेख में महात्मा जी ने कुरान और इस्लाम की खूब प्रशंसा की और सत्यार्थ प्रकाश और उसके मानने वालों के लिए बहुत तिरस्कार–सूचक शब्दों का प्रयोग किया। पिता जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) पर तो उस लेख में विशेष कृपा की गई थी, यह मेरा ही नहीं, प्रायः सभी हिन्दू हृदय रखने वाले भारतवासियों का मत था, कि महात्मा जी ने इस लेख में स्वामी जी के सम्बन्ध में जो पक्षपातपूर्ण आलोचना की थी, उसने देश के साम्प्रदायिक वातावरण में बहुत ही विषैला धुआँ फैला दिया।

मेरा विचार है कि महात्मा गांधी जी ने भी अपना लेख प्रकाशित होने के पश्चात् यह अनुभव किया था कि वे उस लेख में आर्य समाज और स्वामी जी के साथ अन्याय कर गए हैं। यंग इण्डिया में कई सम्पादकीय लेख लिखकर उन्होंने अपने आरम्भिक लेख के असर को धोने की चेष्टा की। परन्तु जो जहर फैल चुका था, वह दूर न हो सका। उस लेख के दो बुरे परिणाम हुए। एक तो यह कि देश के बिगड़े हुए वातावरण की मुख्य जिम्मेदारी मुख्य रूप से आर्य समाज और स्वामी जी पर डाली गई, जो सत्य से सर्वथा विरूद्ध थी और दूसरा यह कि साम्प्रदायिक मुसलमानों को यह विश्वास हो गया कि महात्मा गांधी हम से डरते हैं। हम चाहे कुछ करें, वे हमें अच्छा और दूसरों को बुरा कहेंगे।

"आगामी दस वर्षों में भारत की राजनीति में अव्यवस्था आ गई, इसका मुख्य कारण यह दूषित मनोवृत्ति थी, जो यंग इण्डिया के एकता सम्बन्धी लेख से पैदा हुई[25]।"

स्वामी जी ने दक्षिण भारत की यात्रा के पश्चात् अछूतोद्धार की समस्या के समाधान के लिये जून मास के अन्त में महात्मा गांधी को निम्न तार दिया–

"कृपया कांग्रेस वर्किंग कमेटी में यह प्रस्तावित कीजिये कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के जो सदस्य अपने घरों में व्यक्तिगत रूप से सेवक रखने की क्षमता रखते हैं, वे अब से एक अछूत को अपना सेवक अवश्य रखें। जो कांग्रेसी इसको स्वीकार नहीं करे, उसे कांग्रेस का पद छोड़ देना चाहिये। यदि ऐसा असम्भव प्रतीत होता है, तो अछूतोद्धार के प्रश्न को हिन्दू महासभा के लिये छोड़ दें[26]।"

उपर्युक्त तार स्वामी जी की अछूतोद्धार की भावना का सजीव प्रतीक है, परन्तु खेद है कि गांधी जी इस दिशा में बहुत अधिक सकारात्मक पग नहीं उठा सके। स्वामी जी की दक्षिण भारत की यात्रा से वहाँ के निवासियों में नव चेतना का विकास हुआ। लोगों को अपनी रूढ़िगत सामाजिक वर्जनाओं की मर्यादा का पुनर्सीमांकन करने के लिये नये सिरे से विचारकरना पड़ा। आर्यों को स्वामी जी की यात्रा से यह लाभ हुआ कि वे विश्वस्त होकर समाज सुधार के कार्यों में लग गए। उन्हें यह भी पता लग गया कि तुम्हारी पीठ पर आर्य सार्वदेशिक सभा का वरदहस्त है।

बाढ़ के कारण गुरुकुल का स्थानान्तरण

28 सितम्बर, 1924 ई0 को गुरुकुल में आई बाढ़ ने स्वामी जी के चिर संचित स्वप्नों कं महल को एक बड़ा भारी झटका दिया। बाढ़ की विकरालता और भविष्य में इसी प्रकार की बाढ़ों से गुरुकुल को बचाने में अपनी असमर्थता को देखते हुए आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने निर्णय लिया कि गुरूकुल को अन्य किसी सुरक्षित स्थान पर तबदील कर दिया जाए। गुरुकुल को अन्यत्र ले जाने में सभा मन्त्री महाशय कृष्ण, प्रो0 रामदेव और गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता अग्रणी थे। गुरुकुल को स्थानान्तरित करने के लिये तीन–चार प्रस्ताव विचाराधीन थे। एक प्रस्ताव के अनुसार पुराने गुरुकुल से कुछ ऊपर कांगड़ी ग्राम की भूमि पर गुरुकुल को ले जाने का विचार था। अन्य प्रस्तावों में गंगा के उस पार (वर्तमान गुरुकुल), पंजाब में कोई स्थान और दिल्ली के आस–पास कोई स्थान आदि विचारणीय थे। स्वामी श्रद्धानन्द का मत था कि गुरुकुल को अन्यत्र न ले जाकर यहीं रखना चाहिये और भविष्य की बाढ़ की आशंका से निपटने के उपाय सोच लिये जायेंगे। इस प्रकार गुरुकुल के स्थान परिवर्तन के विषय में आर्य समाजी क्षेत्र में दो विरोधी विचार उठ खड़े हुए। स्वामी जी के विचारों से गुरुकुल के स्नातक सहमत थे। स्नातकों में से जनमेजय ने स्वामी जी से कहा कि तीन ही व्यक्ति तो गुरुकुल के स्थान को बदलना चाहते हैं। इन तीनों व्यक्तियों को आर्य प्रतिनिधि सभा से निकाल देना कोई कठिन कार्य नहीं है क्योंकि सभा के प्रतिनिधि सदस्य हमारे साथ हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो सभा के आगामी चुनाव में इनका पत्ता साफ कर दिया जाए। यह सुनकर स्वामी जी ने गम्भीर होकर कहा कि निकालने की प्रथा छोड़ो, आर्य समाज के पास कार्यकर्ता हैं ही नहीं। जो हैं यदि उन्हें भी निकाल देंगे तो काम कैसे चलेगा[27]।

गुरूकुल की शिरोमणि स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने स्थान परिवर्तन के लिए किसी निश्चित स्थान का सुझाव देने के लिए एक उपसमिति का गठन कर दिया। इस उपसमिति के गठन के सम्बन्ध में स्वामी जी ने दिल्ली से 8 श्रावण सं0 1981 (सन् 1924) को एक पत्र मुख्याधिष्ठाता विश्वम्भर नाथ को लिखा। इस पत्र में विश्वम्भर नाथ को उपालम्भ देते हुए स्वामी जी ने लिखा "आपने गुरुकुल का जलवायु खराब बताकर स्थान परिवर्तन के लिये एक उपसमिति बनवाई है। उसके दो

सदस्य तो पहले ही आपके विचारों के अनुकूल हैं। सभा ने यह समझा है कि मेरा कभी गुरुकुल से कोई वास्ता ही नहीं रहा और मुझ से इस सम्बन्ध में कुछ पूछना उचित नहीं समझा। समाचार पत्रों से विदित हुआ है कि गुरुकुल को अकृत कार्य सिद्ध करके लाहौर में उपदेशक पाठशाला की नींव डाली जायेगी। अब आपकी सम्मति में गुरुकुल केवल वैदिक धर्म या आर्य समाज के उपदेशक उत्पन्न करने के लिये ही स्थापित हुआ था और वह उद्देश्य उससे पूरा नहीं हुआ, तो उस पर सवा लाख से अधिक धन खर्च करने की क्या आवश्यकता है? स्थान परिवर्तन के स्थान में आप यही सम्मति क्यों नहीं देते कि गुरुकुल को बन्द ही कर दिया जाये[28]।

इसे दुर्भाग्य ही समझिये कि गुरुकुल की प्राचीन भूमि से इतिश्री करने के उद्देश्य से आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग की बैठक दिनांक 21 अक्टूबर, 1924 ई0 को गुरुकुल में ही हुई। इस बैठक में स्वामी जी भी उपस्थित थे। इस बैठक में गुरुकुल को गंगा पार ले जाने का अन्तिम निर्णय हो गया। इस निर्णय के पश्चात् स्वामी जी की मानसिक स्थिति को शब्दों द्वारा जानना कठिन था। उनके चेहरे पर उभरी हुई रेखायें, होठों की कम्पन, नथुनों की सिहरन और आँखों की नमी, सभी तो स्वामी जी के भावों की वेदनामयी पीड़ा का मूक संकेत दे रहे थे। राजनीति और धर्म के क्षेत्रों में अपनी कार्य क्षमता से हड़कम्प मचा देने वाला आर्य समाज का महारथी इस निर्णय से दहल गया और बैठक में बैठा रहना उनके लिये असहय हो गया। वे चुपके से उठकर गुरुकुल के आचार्य के बंगले के पीछे, गंगा के किनारे खड़े खटुयें के वृक्ष के नीचे आकर निस्तब्ध खड़े हो गए। खटुयें का चिर परिचित वृक्ष और गंगा की नीलधारा का जल स्वामी जी को कुछ शान्ति देते कि इतने में स्वामी सत्यानन्द ने आकर कुछ पूछने का प्रयत्न किया तो स्वामी श्रद्धानन्द की आँखों से ममता के आँसू बह निकले। ये ममता के आँसू अपनी कर्मस्थली के लिये अन्तिम श्रद्धांजलि के रूप में मोती बन कर बहे थे। स्वामी जी को सभा के निर्णय से पत्नी की मृत्यु की पीड़ा से भी अधिक मर्मान्तक पीड़ा हुई। इसी भूमि पर तो उन्होंने असम्भव को सम्भव बनाकर गुरूकुल को संसार प्रसिद्ध संस्था बनाया था।

गुरूकुल के स्थान परिवर्तन का निर्णय सही था या गलत यदि इस विवाद को छोड़ भी दिया जावे, तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नये स्थान पर गुरुकुलीय वातावरण की गरिमा नहीं बढ़ी। हरिद्वार, कनखल और ज्वालापुर शहरों के मध्य स्थित होने के कारण आवागमन, खान–पान की वस्तुओं को जुटाने में सुविधा अवश्य हुई, परन्तु ऋषि आश्रमों के तुल्य प्राकृतिक वातावरण की नैसर्गिक सौम्यता एवं शान्ति जिससे आकृष्ट होकर देशी–विदेशी विद्वान् और यात्री गुरुकुल में आते थे, उस गौरव को अवश्य आघात लगा। जे0 रेम्जे मैकडॉनल्ड का यह वर्णन कि "वन के अद्भुत दृश्य क्षण भर झांकी दिखाकर दूसरे ही क्षण लम्बी झाड़ियों में मुँह छिपा लेते थे। एक रेतीली खाड़ी में हम उतरे और उत्तप्त बालुकामय मार्ग से वन में प्रविष्ट हुए। हमारे सिरों पर कहीं ऊँची पीली घास खड़ी थी। पर्वतीय शीतल पवन की हिलोरें अब बन्द हो गई थीं। सूर्य का ताप शनैः शनैः दुःसह होता जा रहा था। अन्त में हम वृक्षों से अंशतः आच्छादित एक लम्बी और सीधी सड़क पर पहुँचे। सुदूर एक उन्नत बाँस के सिरे पर, एक पताका दीख पड़ी। गुरुकुल दृष्टिगोचर होने लगा[29]।" अतीत की बात हो गई थी। इस परिवर्तन से ईश्वर की काव्यमयी प्रकृति से नाता छूटा और मानव निर्मित नागरीय विकृति की गोद में नया बसेरा बना। इस सम्बन्ध में बनारस से निकलने वाले 'आज' समाचार पत्र ने भी लिखा कि "जो गलती काशी विश्वविद्यालय काशी के संचालकों ने अपना पुराना कमच्छा का भवन छोड़कर नगवा जाने में की है। इस कार्य में धन के अपव्यय के अतिरिक्त उन्होंने पुराने सद्भावों का भी अपव्यय कर डाला। हमें दुख है वही गलती गुरुकुल वाले भी कर रहे हैं।"

मथुरा शताब्दी

स्वामी जी दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पश्चात् लेखन कार्य में संलग्न ही हुए थे कि फरवरी, 1925 में मथुरा में महर्षि दयानन्द की जन्म शताब्दी मनाने का महोत्सव निकट आ गया। महर्षि जन्म शताब्दी में स्वामी श्रद्धानन्द की भूमिका को समझने के लिये हमें 1923 ई0 के पंजाब के आर्य समाज की ओर दृष्टिपात करना होगा। सन् 1923 ई0 में स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद से त्याग पत्र दे दिया था। स्वामी जी के त्यागपत्र पर विचार करने के लिये दिसम्बर, 1923 में सार्वदेशिक की अन्तरंग सभा की बैठक बुलाई गई। स्वामी जी ने अन्तरंग सभा को बतलाया कि जन्म शताब्दी समारोह की सफलता की आशा उन्हें बहुत कम है। क्योंकि बहुत लोग साधारणतया कांम और विशेष रूप से उनका विरोध इसलिए करते हैं कि यह काम उनके अधीन क्यों है? स्वामी जी का संकेत पंजाब में उनके विरोधियों की ओर था। यह निस्सन्देहात्मक रूप में स्पष्ट था कि पंजाब के सहयोग के बिना शताब्दी समारोह की सफलता संदिग्ध थी। बहुत आग्रह करने पर भी जब स्वामी श्रद्धानन्द नहीं माने तो उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया गया और उनके स्थान पर महात्मा नारायण स्वामी को प्रधान निर्वाचित कर लिया गया। नारायण स्वामी को प्रधान बनाने के लिए पंजाब के सदस्यों का विशेष आग्रह था।

नारायण स्वामी ने प्रधान बनने पर स्वामी श्रद्धानन्द की आहत भावनाओं पर 'अमृतधारा' लगाने के लिये अनुनय–विनय करके स्वामी जी को इस बात के लिये सहमत कर लिया कि प्रधान पद पर उन्हीं का नाम रहना चाहिये और वे स्वयं कार्यकारी प्रधान के रूप में सब कार्य सम्भाल लेंगे। नारायण स्वामी ने इस समझौते की सूचना सभी अन्तरंग सदस्यों को भी दे दी। स्वामी श्रद्धानन्द का नाम अब पद पर शोभार्थ ही था। वस्तुतः स्वामी जी की यह हार्दिक इच्छा थी कि शताब्दी उनकी अध्यक्षता में ही सम्पन्न होनी चाहिये। इसीलिये तो उन्होंने शताब्दी मनाने के वर्ष से तीन वर्ष पूर्व 22 अप्रैल, 1922 को अपनी डायरी में लिखा था कि "जन्म शताब्दी सम्वत् 1981 (1924 ई0) को मनाना। एक सप्ताह तक कार्यक्रम रहे .... कहाँ मनाई जावे? अजमेर जहाँ मृत्यु हुई सम्वत् 1940 में। इसलिए जब सम्वत् 1990 की दीपमालिका आवे तो अजमेर में मृत्यु की अर्ध–शताब्दी का दिवस मनाना चाहिए। शेष दो रहे—एक जन्मभूमि का ग्राम, दूसरा देहली सार्वदेशिक सभा का मुख्य स्थान। जन्मभूमि में पहुँचने का सुभीता पंजाब, युक्त प्रान्त, बंगाल आदि को न होगा और शायद सात दिन का प्रबन्ध करने में भी कठिनाई पड़े। परन्तु गुजरात प्रान्त में धर्म प्रचार खूब हो जायेगा। गुजरात धनाढ्य है, इसलिये शायद धन भी वहाँ अधिक एकत्र हो सके। परन्तु इसका निर्णय तब हो, जब मैं स्थान देख लूँ और ठीक निश्चय भी कर लूँ[७०]।"

1924 ई0 में आर्य सार्वदेशिक सभा के चुनाव के सन्दर्भ में स्वामी श्रद्धानन्द और नारायण स्वामी में भ्रम उत्पन्न हो गया। नारायण स्वामी के चुनाव सम्बन्धी किसी कथन को लेकर स्वामी श्रद्धानन्द ने नारायण स्वामी को निम्न पत्र लिखा–

श्रीमान महात्मा नारायण स्वामी जी

नमस्ते।

6 दिसम्बर, 1924 ई0 को जब मैंने नये प्रतिनिधियों के निर्माण के लिये बातचीत की तो आपने कहा था कि मैं सार्वदेशिक का प्रधान बन जाऊँ। मैंने यह भी कहा था कि पं0 केशवदेव शास्त्री सुस्त हैं। कोई चुस्त मन्त्री चाहिये। मुझे आश्चर्य था कि ऐसा भाव (स्वामी श्रद्धानन्द के प्रधान बनने का) आपने क्यों प्रकट किया?

1. अभी थोड़े दिन हुये मैंने डाक्टर केशवदेव को सभा का साधारण वार्षिक अधिवेशन करके चुनाव करने और बजट पास करने के लिये लिखा था। मुझे 6 दिसम्बर की रात को पं० इन्द्र ने बताया कि वह मेरा पत्र डाक्टर केशवदेव ने सुनाया था। जिस पर महाशय कृष्ण ने टिप्पणी की थी कि इसमें कोई विशेष रहस्य है। अब आपके संकेत का मतलब मेरी समझ में आ गया।

2 मैं आपको निश्चय दिलाता हूं कि मेरा विचार कभी सार्वदेशिक सभा अथवा और किसी आर्य सामाजिक संस्था का अधिकारी बनने का नहीं है। मैं कुछ पूछ लेता हूं या सम्मति देता हूं, तो केवल हित से प्रेरित होकर। अब कुछ भी नहीं लिखा या बोला करुँगा।

3. दयानन्द–जन्म शताब्दी कमेटी का प्रधान भी नहीं रहना चाहता था। आपके आग्रह पर नाम मात्र प्रधान बना रहा। अब वह तो बना ही रहूँगा। परन्तु गलतफैमियों का शिकार होने से बचने के लिये मथुरा में केवल 14 फरवरी को ही पहुँचूँगा।

आशा है कि आप मेरे विषय में कोई संदिग्ध विचार न बनायेंगे। मुझसे कुछ सेवा नहीं हो सकती, इसका मुझे शोक है। परन्तु उस सेवा से आर्य समाज के दायरे में खलबली पड़े तो उसे मैं हानिकारक समझता हूं।

आपका

श्रद्धानन्द

नारायण स्वामी ने उपर्युक्त पत्र का उत्तर देते हुए दिनांक 12 दिसम्बर, 1924 को स्वामी श्रद्धानन्द को लिखा कि उन्हें महाशय कृष्ण आदि की बात का कुछ पता नहीं था। उन्होंने तो अपनी ओर से आर्य समाज के हित की दृष्टि से आपसे प्रधान बनने की बात कही थी। नारायण स्वामी के पत्र के उत्तर में जो प्रत्युत्तर स्वामी श्रद्धानन्द ने भेजा वह ममत्व और अपनत्व से भरपूर था। उस पत्र में स्वामी श्रद्धानन्द ने संन्यासी स्वभाव का परिचय देते हुए लिखा–

17, नया बाजार, देहली

दिनांक 15–12–1924 ई०

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी,

नमस्ते।

आपका पत्र पढ़कर संशय दूर हो गया।

1– मैं तो अब किसी सभा का अधिकारी नहीं बनूँगा। अपने लिये बहुत से लेख के काम निश्चित कर चुका हूँ। इसके अतिरिक्त शारीरिक दशा ऐसी है कि शारीरिक परिश्रम का काम नहीं हो सकता।

2– परन्तु आप विदेश प्रचार और मुद्रण के मतलब के लिये जन्म शताब्दी पर अपील करना चाहते हैं। यदि आप प्रधान न रहे तो वह अपील किसके भरोसे पर होगी। यदि आपने स्थिर स्थान पहाड़ (रामगढ़) बना लिया है तो इस काम के लिये किसी अन्य को तलाश कीजिये।

3– मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि यदि आपने सार्वदेशिक सभा का काम छोड़ दिया तो मुझे आर्य समाज में इस काम को सम्भालने वाला कोई नहीं दीखता और इस सभा की समाप्ति हो जायेगी और बहुत से प्रान्तीय नेताओं को यह अभीष्ट है। आप उस समय तक पूर्ण विचार कर लीजियेगा।

आपका

श्रद्धानन्द

उपर्युक्त पत्र व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य सार्वदेशिक सभा की पारस्परिक राजनीति के खेल में स्वामी श्रद्धानन्द और नारायण स्वामी दो मोहरे थे जिनको समय, असमय और कुसमय चलाया जाता था। दयानन्द जन्म शताब्दी में स्वामी श्रद्धानन्द को महत्व न मिले, यह भावना आर्य सार्वदेशिक सभा के एक गुट के मन में थी। स्वामी श्रद्धानन्द को यह भ्रम हो गया कि इस गुट के साथ महात्मा नारायण स्वामी की सहानुभूति है, जबकि बात ऐसी नहीं थी। नारायण स्वामी ने स्वामी श्रद्धानन्द को स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था कि वे उनके पक्ष में प्रधान पद को भी छोड़ सकते हैं। परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द ने स्पष्ट शब्दों में लिखा किं वे तो अधिकारी बनने के इच्छुक नही हैं, अतः अन्य किसी की खोज कीजिये। साथ में यह भी निवेदन किया कि आपके बिना सभा का ढ़ांचा बिखर जाएगा।

परन्तु विधि के विधान में अभी दोनों स्वामियों का मत–भेद होना था। शताब्दी समारोह समिति ने दोनों स्वामियों को प्रधान बनाकर द्वैध शासन की सी स्थिति उत्पन्न कर दी थी। शताब्दी के सम्पूर्ण कार्यक्रम में नाममात्र के प्रधान माने जाने पर भी स्वामी श्रद्धानन्द के मन में यह भावना तो अवश्य ही रही थी कि प्रत्येक कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने में उनसे विचार विनिमय तो किया ही जाएगा। परन्तु संयोगवश कुछ ऐसा घटित हुआ कि जन्म शताब्दी के सन्दर्भ में नगर कीर्तन की बात को लेकर दोनों स्वामियों में शताब्दी स्थल पर ही विरोध हो गया।

मत–भेद के कारणों पर प्रकाश ड़ालते हुए नारायण स्वामी ने लिखा कि जन्म शताब्दी पर नगर कीर्तन करना निश्चित नहीं था। 18 फरवरी की सांयकाल उसका करना निश्चित हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द निर्णय लेने के समय उपस्थित नहीं थे। अतः उन्होंने केशव देव शास्त्री मन्त्री सार्वदेशिक सभा को कहा कि वे स्वयं जाकर स्वामी जी को इसकी सूचना दे दें। प्रमादवश शास्त्री जी ऐसा करना भूल गये। 19 फरवरी की प्रातःकाल जब वे पंडाल की ओर से अपने निवास स्थान की ओर आ रहे थे, तो स्वामी श्रद्धानन्द ने आवेश में आकर कहा कि नगर कीर्तन के सम्बन्ध में उन्हें कोई सूचना नहीं दी गई। क्या इसका अभिप्राय है कि उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं है? उन्होंने (नारायण स्वामी ने) भी इसी लहजे में उत्तर देते हुए कहा कि शास्त्री जी को सूचना देने के लिये कह दिया था। रही उत्तरदायित्व की बात, वह तो उसी दिन समाप्त हो चुकी थी, जिस दिन उनका त्याग पत्र स्वीकार हो गया था। इस उत्तर से स्वामी श्रद्धानन्द सकपका गए और 'अन्तर्दह्यमान भोगी' की तरह असन्तुष्ट होकर चले आए। पर स्वामी जी को चैन कहां? अगले दिन पुनः प्रातःकाल आकर पूछा कि नगर कीर्तन की व्यवस्था क्या है, सबसे आगे कौन रहे कि बात आते ही स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा कि पहले ओ३म ध्वज रहे, उसके बाद बैंड बाजा, उसके बाद वे रहेंगे और फिर अन्य संन्यासीगण। बाकी सब प्रबन्ध ठीक है। अप्रसन्न स्वामी को प्रसन्न करने की इच्छा से महात्मा नारायण स्वामी ने यह बात मान ली[71]।

मथुरा में महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी के सन्दर्भ में स्वामी श्रद्धानन्द का योगदान दो रूपों में परखा जा सकता है। एक रूप, नाम मात्र के प्रधान होते हुये भी जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व

के निर्वाह से सम्बन्ध रखता है। दुर्भाग्यवश शताब्दी की समाप्ति होते ही 21 फरवरी को कुछ आर्य युवकों के बचपने के कारण नगर में पौराणिकों के साथ मारपीट हो गई। यह समाचार सुनते ही स्वामी जी शहर में जा पहुँचे। वहाँ शहर के प्रमुख व्यक्तियों से मिलकर परिस्थिति को शान्त किया और शताब्दी प्रबन्धकों की ओर से खेद भी प्रकट किया। शताब्दी के उपरान्त वस्तुस्थिति का आकलन करने के पश्चात् इस घटना के सम्बन्ध में आर्य समाजियों को चेतावनी देते हुए 6 मार्च, 1925 को 'अर्जुन' समाचार पत्र में लिखा "आर्य सामाजिक पुरुषों से साधारणतया और आर्य धर्म के प्रचारकों से विशेषतः अनुरोध है कि 'सहोऽसि सहो मयि धेहि' का पाठमात्र ही न किया करें। अपने मन्तव्यो पर दृढ़ रहते और उनका गम्भीर भाव से प्रचार करते हुए भी दूसरे भाइयों के विश्वासों को अनुचित चोट न लगाना, यही वैदिक धर्म की मर्यादा है। मैंने शोक से देखा कि दयानन्द जन्मशताब्दी के मेले में कुछ ऐसे चित्र बेचे और बांटे गये, जिससे अन्य साम्प्रदायिक भाइयों को दुःख पहुँचा। दो–एक समाचार पत्रों के शताब्दी अंकों में भी ऐसे चित्र दिखाई दिये, जिन्होंने धर्म के आन्दोलन और सदाचार के प्रचार की मर्यादा का उल्लंघन किया। मैं आर्य जनता से अपील करता हूं कि ऐसे चित्रों का बहिष्कार करके उनके प्रचारकों को शिक्षा दें और जो धर्म प्रचारक–वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और उसकी रक्षा करने वाले आर्य समाज को एक संकुचित सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं, उनके प्रयत्नों को सफल न होने दें। आर्य संस्कृति के उद्धार और संसार में उसके प्रचार का यही समय है। उसके मार्ग में जो भी कण्टक सिद्ध होगा, वह आने वाली आर्य सन्तति का द्वेषी समझा जाएगा। आर्य समाजी भाइयों से अन्त में मेरी यही प्रार्थना है कि घोर से घोर उत्तेजना होते हुए भी मर्यादा का भंग न करना यही आर्यत्व है और इसी सिद्धान्त पर आचरण करते हुये सारे संसार को आर्य बनाया ज़ा सकता है।"

जन्म शताब्दी के प्रसंग में स्वामी जी के दूसरे रूप की परख उत्तरदायित्व के निर्वाह से सम्बन्धित न होकर स्वामी जी के स्वभाव से जुड़ी है। स्वामी श्रद्धानन्द, जन्म शताब्दी के नगर कीर्तन में बलात् अपनी स्थिति सुमेरू पर्वत के समान मनवाकर सभी संन्यासियों में मूर्धन्य होने का गौरव प्राप्त होने पर भी अपने मन की उत्तेजना को शान्त नहीं कर सके। उन्होंने उत्तेजना में मर्यादा का उल्लंघन तो नहीं किया, किन्तु उल्लंघन की सीमा तक तो पहुँच ही गये थे। मथुरा शताब्दी की समाप्ति के उपरान्त उन्होंने नारायण स्वामी को निम्न पत्र लिखा–

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी,

नमस्ते।

कल प्रातः यहाँ से दिल्ली चला जाऊँगा। जानबूझ कर तो मैंने आपके काम को सुगम करने का ही प्रयत्न किया था, परन्तु आपके कहने से मालूम हुआ कि मैंने आपके काम में विघ्न डाले। जो कुछ भी मेरे बर्ताव से आपको दुख पहुँचा या आपके काम में हानि हुई, उसके लिये मुझे पश्चाताप है। यदि मैंने जानबूझकर ऐसा किया तो परमात्मा की ओर से दण्ड मिल ही जायेगा और तभी मेरी शुद्धि होगी। आप अब मुझे भूल जाइये, क्योंकि मैं अब रजिस्टर्ड आर्य समाज के किसी भी काम में सम्मिलित न हूँगा। मेरे सम्मिलित होने से काम बिगड़ते हैं, बनते नहीं। मुझे निश्चय है कि आपके नेतृत्व में सार्वदेशिक सभा एक जीवित संस्था बनकर वैदिक धर्म का प्रसार शीघ्र ही भारत वर्ष के कोने–कोने में करेगी। मैं तो अब अपने प्रायश्चित ही में लग जाऊँगा।

आपका मंगलाभिलाषी

दिनांक 21–2–1925 ई0

श्रद्धानन्द

स्वामी जी का उपर्युक्त पत्र मिलते ही नारायण स्वामी ने सहज सौम्य भाषा में निम्न उत्तर दियाः–

मान्यवर स्वामी जी महाराज,

नमस्ते।

आपका कृपा पत्र मिला। मैंने समझा था कि उस दिन की घटना को आप भूल गये होंगे। आपके पत्र से विदित है कि अभी आप नहीं भूले। कृपा करके आप उसे अब भूला दें। मेरे किन्हीं शब्दों से यदि आपको दुःख हुआ है तो उसके लिये मुझे अत्यन्त दुःख है। यदि इतने से आप सन्तुष्ट न हों तो फिर कृपा करके आप बतलावें कि किस प्रकार आप सन्तुष्ट होंगे। ताकि वही करके मैं आपको सन्तुष्ट करूँ।

शुभ चिन्तक

दिनांक 23–2–1925 ई0 नारायण स्वामी

नारायण स्वामी के आत्म समर्पणात्मक भावों से युक्त पत्र को प्राप्त करके स्वामी श्रद्धानन्द का अहं सन्तुष्ट हो गया और उन्होंने नारायण स्वामी को उत्तर देते हुए लिखा–

17, नया बाजार, देहली

दिनांक 1–3–1925 ई0

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी,

नमस्ते।

आपका निजी पत्र मिला। मुझे सन्तोष हुआ। पत्र रखने की जरुरत न थी, फाड़ दिया।

1– मैंने पहले ही शास्त्री (डाक्टर केशव देव) जी से कह दिया था कि मैं आर्य विवाह बिल आदि के काम में वैसे ही सहायता दूंगा। 'सार्वदेशिक सभा' के संगठन के विषय में भी सहायता दूंगा।

2– मैंने जब पहले आपसे कहा था, कभी प्रधान नहीं हो सकता तो वह बनावट न थी। 'कल्याण मार्ग का पथिक' छपवाने से आपको स्पष्ट हो जायेगा। सभा (सार्वदेशिक) का काम आपको ही करना होगा। यदि आप प्रधान रहेंगे तो जो सेवा हो सकेगी करूंगा। अन्यथा सभा की उतनी सेवा भी न कर सकूँगा।

3– मुझे सार्वदेशिक सभा का प्रथम प्रचारक समझ लीजिये। इससे आगे मैं कुछ नहीं करूंगा।

4– एक बात न भूलिये। मुरादाबाद में पहली बार (1893 ई0 में) जाकर ही मैंने आपके सदाचार और धर्म–भाव को समझ कर आर्य समाज की सेवा के लिये अपने मन में चुना था। यह मेरा विचार अन्यथा सिद्ध नहीं हुआ। हम दोनों ही अब ऊपर के दिखावे में संन्यासी (त्यागी) हैं, परन्तु मेरे हृदय में पुराने भाव अंकित रहते हैं। मैं उस समय आपको अपना (धर्मानुसार) प्रिय छोटा भाई समझता था और अब भी यही भाव मेरे अन्दर है।

आपका मंगलाभिलाषी

श्रद्धानन्द

आर्य समाज ने महिलाओं और अछूतों के उत्थान का जो संकल्प लिया था, उसकी पूर्ति में वह कितना सफल हुआ, यह बात शताब्दी की समाप्ति पर 2 अप्रैल, 1924 ई0 को 'लीडर' में लिखे एक गैर आर्य समाजी के लेख से प्रकट होती है। इस लेखक ने सबसे पहले सम्मेलन के परिसर की पवित्रता पर प्रकाश डालते हुये लिखा कि यहाँ मात्र पुस्तकों और भोजन के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की भद्दी वस्तुओं को बेचने की दुकानें नहीं थी। अंग्रेजी परिधान प्रायः नदारद था। इसके पश्चात् लेखक ने कार्यक्रमों में भागीदारी लेने के सम्बन्ध में अपनी भावना प्रकट करते हुये लिखा कि महिलायें बिना पर्दे के पुरुषों के समान ही कार्यक्रमों में भाग ले रही थीं। अछूत कहलाने वाले व्यक्ति भी समाज के अन्य वर्णों के लोगों के साथ घुले–मिले दिखाई पड़ते थे।

दक्षिण की दूसरी धर्म यात्रा

मथुरा शताब्दी के पश्चात् दूसरी बार स्वामी जी दक्षिण भारत की यात्रा पर चल पड़े। यह यात्रा 1925 ई0 के अक्टूबर तथा नवम्बर महीनों में की गई थी। इस यात्रा का उद्देश्य 1924 ई0 में की गई धर्मयात्रा के समय उनकी प्रेरणा से आरम्भ किये अछूतोद्धार के कार्यों का पुनरीक्षण और पृष्ठपोषण था। इस धर्मयात्रा में 13 नवम्बर की पालाघाट की घटना ने स्वामी जी और आर्य समाज को समाचार पत्रों की सुर्खियों में ला दिया। पालाघाट में 'रथ उत्सव' के उद्घाटन के दिन डिविजनल मजिस्ट्रेट ने वैदिक धर्म में परिवर्तित हुये अछूतों को सवर्ण हिन्दुओं की गलियों में जाने के विषय में प्रतिबन्ध लगा दिया। इस अन्याय के प्रति स्वामी जी ने आवाज बुलन्द की, परन्तु वहाँ के पढ़े–लिखे लोगों में आर्य समाज और उसके सिद्धान्तों के विषय में बहुत ही कम जानकारी थी। अतः स्वामी जी की आवाज बुद्धिजीवियों का ध्यान नहीं खींच सकी। स्वामी जी नवम्बर मास के अन्तिम दिनों में दिल्ली लौट आये। दिल्ली आकर स्वामी जी ने विचार किया कि दक्षिण भारत में वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिये हिन्दी भाषा के समाचार पत्रों से इतनी सहायता नहीं मिलती, अतः प्रचारार्थ अंग्रेजी भाषा का एक समाचार पत्र अवश्य होना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने अप्रैल, 1926 में अंग्रेजी माध्यम का 'लिबरेटर' नामक समाचार पत्र निकालना आरम्भ किया।

स्वामी जी के व्यक्तित्व की पहचान और परख

इससे पूर्व कि आगे कुछ लिखा जाए, हम यहाँ स्वामी जी की प्रकृति की पहचान और उनकी कार्य शैली की परख पर कुछ कहना प्रासंगिक समझते हैं। स्वामी जी के जीवन मन्थन से उनकी प्रकृति के विषय में किसी निश्चित संतुलनात्मक परिणाम पर पहुँचना कठिन है। स्वयं उनके पुत्र इन्द्र ने लिखा है "ऐसी दुनिया में, लगभग सारी युवावस्था में मानसिक दृष्टि से अपने पिता और गुरु के निरन्तर समीप रह सकना वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात है। मैं स्वयं इस बात को सोचकर आश्चर्यित होता हूं कि स्नातक बनने के पश्चात् लगभग 15 वर्ष के क्रियात्मक जीवन में, मैं बिना किसी व्यवधान के पिता जी का अनुयायी कैसे रह सका[32]।" स्वामी जी के जीवन के सम्पूर्ण कार्यकलापों का लेखा–जोखा करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि आर्य सिद्धान्तों के प्रसार एवं प्रचार में उनका सर्वाधिक ध्यान गुरुकुलों की स्थापना, अछूतोद्धार, शुद्धि और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार आदि विषयों पर था। आर्य समाज के सैद्धान्तिक विचार–ईश्वर, जीवन, प्रकृति, द्रव्य, गुण, कारण मुक्ति आदि के विषयों को उन्होंने प्राथमिकता नहीं दी। स्वामी जी ने अपने उद्देश्यों की लक्ष्य प्राप्ति के लिए धर्मघोष, धर्मप्रचार, धर्मशिक्षा और धर्म यात्राओं का आश्रय लिया। इनमें से धर्मप्रचार, धर्मशिक्षा के साधनों में स्वामी जी को यथावांछित तो नहीं, हाँ यथावांछित के बहुत अधिक अनुकूल सफलता मिली। अछूतोद्धार और शुद्धि के उद्देश्यों में यत् किंचित् सफलता हो सकी। पूर्ण सफलता न मिलने का कारण भरत की राजनैतिक स्थिति के अतिरिक्त धार्मिक परिस्थितियाँ भी थी अछूतोद्धार और शुद्धि के कार्यों में मुसलमानों के साथ साथ पुरातन पंथी हिन्दू भी उनका विरोध कर रहे थे। इन विरोधों

के बावजूद स्वामी जी जन मानस में एक जुझारू और उच्च कोटि के नेता समझे जाते थे। 1907 ई० में हिन्दुस्तान समाचार पत्र ने अपने पाठकों से यह प्रश्न पूछा था कि उनकी दृष्टि में भारत में सर्वोत्कृष्ट पुरुष कौन–कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी श्रद्धानन्द (तत्कालीन महात्मा मुंशीराम) का नाम सातवें स्थान पर था। जब ऐसा ही प्रश्न 1912 ई0 में लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'प्रकाश' नामक समाचार पत्र ने अपने पाठकों से पूछा तो स्वामी को छठा स्थान मिला। इससे स्पष्ट पता चलता है कि वे उत्तरोत्तर लोकप्रिय होते दिखाई पड़ते हैं।

स्वामी जी की लोकप्रियता का दोहन सभी राजनैतिक दलों ने अपने–अपने स्वार्थो की सिद्धि के लिये समय–समय पर किया। इस दोहन की प्रक्रिया में स्वामी श्रद्धानन्द राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं से सदा अछूते रहे। इसका कारण जहॉ राजनैतिक पार्टियों का छिछलापन था, वहॉ आर्य समाज के प्रति प्रथम प्यार भी एक प्रमुख कारण था। इस प्रथम प्यार को कटु आलोचनाओं के तीरों से बिंध कर भी उन्होंने अपने हृदय से चिपकाये रखा। इस प्रथम प्यार को मुंशीराम, लाला मुंशी राम, महात्मा मुंशीराम और स्वामी श्रद्धानन्द सभी नामों में ओत–प्रोत पाते हैं। लोगों ने लाला मुंशीराम के रुप में 1892 ई0 में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान के रूप में इस प्यार की ऊँचाइयों को छूते देखा। इसी अवधि में लोगों ने उन्हें सामाजिक, क्रान्ति के रूप में अन्तर्जातीय विवाह का सूत्रपात करते देखा। लोगों ने उन्हें महात्मा मुंशीराम के रूप में गुरूकुल कांगड़ी की स्थापना की प्रसव पीड़ा को अनेक लांछनाओं के तेवरों के मध्य सहते देखा। महात्मा मुंशीराम के रूप में वे आर्य समाज के संगठन की सर्वोच्च सभा 'आर्य सार्वदेशिक सभा' के प्रथम प्रधान के योग्य समझे गए। वस्तुतः महात्मा मुंशीराम नाम का काल ही स्वामी जी की संघर्षमयी शक्ति का परिचायक है। इस काल में (1902–17) उन्होंने ही सहयोगी आर्य समाजी बन्धुओं द्वारा लगाये आरोपों को सहन करके उनका सटीक उत्तर दिया। इसी अवधि में उन्होंने आर्य समाज और गुरूकुल कांगड़ी को सरकारी अधिकारियों की कुदृष्टि से बचाया। इसी अवधि में उनका सम्पर्क पत्राचार द्वारा महात्मा गाँधी जी से हुआ। इसी अवधि में वे अनेक अंग्रेज प्रशासकों के मित्र बने। इस अवधि में अपने जीवन का स्वयं मूल्यांकन करते हुए, उन्होंने एण्ड्रूज को लिखा–

"और सचमुच अब वह समय आ गया कि मेरे मन में प्रभु के प्रति जो असीम श्रद्धा है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती। संघर्ष मेरे जीवन का अंग बन चुका है। आर्य समाज के कार्यक्षेत्र में मेरा जीवन पूर्णतया संघर्षमय हो गया है। दिव्य जगन्माता को ही मालूम है कि पिछले 28 वर्षो में मुझे कितने कठोर प्रहारों से जूझना पड़ा है[73]।"

स्वामी श्रद्धानन्द के प्रकृति प्रदत्त स्वभाव का आकलन करना सरल कार्य नहीं है। स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वयं 'कल्याण मार्ग के पथिक' में लिखा कि किशोरावस्था में उनकी प्रकृति' गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास' जैसी थी। परन्तु आगे जाकर इनके प्रकृतिस्थ स्वभाव में ऐसा परिवर्तन आया कि अपनी पुत्री वेदकुमारी के विवाह को छोड़कर अनेक सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं को तोड़ने का श्रीगणेश अपने ही घर से किया। पंजाब के आर्य समाज की महात्मा पार्टी (गुरुकुल दल) में स्वभाव की दृष्टि से ये अत्यधिक परिवर्तनवादी माने जाते थे। स्वामी जी के स्वभाव के सम्बन्ध में उनके पुत्र इन्द्र ने बड़े स्पष्ट विचार प्रकट करते हुए लिखा है–

"दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ' में पिता जी ने न केवल उन सब आपेक्षों का विस्तृत उत्तर दिया था, जो विरोधियों की ओर से उनके सार्वजनिक जीवन पर किये जाते थे, आर्य समाज के क्षेत्र में उनके जो–जो विरोधी हुए उनके विरोधों के कारणों पर भी पूरा प्रकाश डाला था। उनकी दास्ताँ सचमुच दिल को बहुत दुखी करने वाली है। सारी पुस्तक को पढ़कर मन पर यह असर होता है कि पंजाब के आर्य समाजों के क्षेत्र में ऊँचे पदों पर काम करने वाले प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति एक–एक

करके पिताजी के विरोधी बनकर समालोचकों में शामिल होते गए। इस दशा को देखकर एक उदासीन व्यक्ति के मन में भी यह प्रश्न पैदा होने लगता है कि इसमें क्या सब दोष औरों का ही था? पाठक सोचने लगता है कि जिस व्यक्ति के इतने विरोधी हो गये कि जो आज साथी बना कल वही समालोचक बन गया। क्या इसमें सब दोष अन्यों का ही था? उनका नहीं था?

इस पुस्तक के पढ़ने से एक और प्रश्न भी पाठक के मन में उत्पन्न हो सकता है। वह यह कि इतने बड़े सार्वजनिक कार्यकर्ता ने अपने विरोधियों की आलोचनाओं की इतनी परवाह क्यों की? उनका उत्तर इतने दुःखी दिल से दिया कि हरेक छोटे से छोटे आक्षेप का इतना विस्तृत उत्तर दिया। वह उनकी उपेक्षा कर सकते थे, कम से कम सर्वथा शान्तभाव से उत्तर दे सकते थे।

ये दोनों प्रश्न पिताजी के जीवन–काल में भी पूछे जाते थे। प्रायः ज्योतिषी लोग समृद्ध व्यक्तियों का हाथ देखकर कह दिया करते हैं कि तुम्हारी हस्तरेखा से मालूम होता है कि तुम जिसे दूध पिलाओगे, वही तुम्हें डसने को आएगा। सब लोगों के सम्बन्ध में यह बात ठीक हो या न हो, पर पिता जी के सम्बन्ध में तो लगभग अक्षरशः ठीक सिद्ध होती रही है। सार्वजनिक जीवन में उनके सब साथी कुछ समय के पश्चात् न केवल पिछड़ जाते थे, बल्कि उनके कठोर विरोधी हो जाते थे। मैंने अत्यन्त समीप से जो देखा और अनुभव किया उसके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस करता हूं। जैसे मैं पहले लिख आया हूं, पिता जी अपने निजी जीवन में और सार्वजनिक जीवन में इति–कर्तव्यता का निश्चय करते हुये युक्तियों या परिस्थितियों पर कभी विचार नहीं करते थे। स्नातक बनने के पश्चात् अनेक बार मैं उनके परामर्श में शामिल होता रहा। किसी बड़े कदम के उठाने के विषय में विचार करते हुए मैंने कभी उन्हें यह सोचते नहीं पाया, कि इस कार्य के लिए धन कहॉ से आएगा। पुराने साथी नाराज तो नहीं हो जायेगे। नए साथी कहॉ से आएंगे? और जो बाधायें आएंगी उनका निवारण कैसे होगा? उनका मन कुछ ऐसे ढ़ंग का बना हुआ था कि जिसे अक्लमन्द लोग सांसारिक दूरदर्शिता या दुनियादारी के नाम से पुकारते हैं, वह कभी उनके पास नहीं फटकती थी। वह जब कोई बड़ा कदम उठाते थे, तब अन्तरंग लोगों में भी यही घोषणा किया करते थे, 'मैंने निश्चय कर लिया'। यदि कोई यह पूछता कि कल शाम तक तो अभी विचार ही हो रहा था, तो वह उत्तर देते 'वह मेरी निर्बलता थी, आज प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में मेरी अन्तरात्मा ने निश्चित रूप से कह दिया कि मुझे यह काम करना चाहिए''। फिर कोई सलाहकार यह पूछने का साहस कर बैठता था, कि परन्तु यह कार्य होगा कैसे? इस प्रश्न का उत्तर पिताजी का निश्चित ही था– उत्तर था– ''अब तक मेरे सब कार्य सहस्त्रबाहु के भरोसे पर हुए हैं, यह कार्य भी वैसे ही होगा[७४]।''

उपर्युक्त लम्बे उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी दुनियादारी की चिन्ता कम ही किया करते थे। उनकी प्रकृति 'फकीरा मन आ गया दिया झौंपड़ा फूंक'' वाली थी। उनका प्रत्येक निर्णय अन्तरात्मा की आवाज से होता था। इस आवाज की गूंज में हितैषियों से परामर्श करना प्रायः वे भूल जाते थे। इन्द्र की मान्यता के अनुसार स्वामी जी की स्वयं सिद्ध प्रकृति के निर्माण में उनकी शारीरिक कद–काठी का योगदान भी निश्चित रूप से था। जिस समय वे चलते थे, उस समय उनके कन्धे अन्य लोगों के सिरों से ऊंचे दिखाई पड़ते थे और सिर कन्धों से भी ऊँचा होता था। यदि शारीरिक सम्पति किसी को जन्म सिद्ध नेता बना सकती है, वह उनमें थी। इसके साथ संकट काल में जनता यह चाहती है कि उसको एकदम रास्ता दिखाया जाये। उनका खून इतना उबला हुआ होता है कि न परामर्श की गुंजायश होती है और न शाब्दिक आश्वासन की। उस समय स्वामी जी वस्तुतः क्षणभर में इति–कर्तव्यता का निश्चय कर लेते थे और निश्चय कर लेने के बाद बड़े से बड़े संकट से जूझने के लिये चल पड़ते थे[७५]।''

इन्द्र द्वारा प्रस्तुत प्रकृति की विशिष्टताओं के अतिरिक्त स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वयं अपनी प्रकृति के विषय में लिखते हुए कहा है "बहुत से मनुष्यों के लिए मत परिवर्तन का निर्णायक कोई विशेष सामाजिक प्रलोभन या अन्य गौण बात हुआ करती है, किन्तु मेरे लिये यह मत परिवर्तन जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। इस समय तक भी मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी ओर है कि मैं साधारण से साधारण सिद्धान्त के प्रश्न को जीवन और मृत्यु का प्रश्न बना लेता हूं। मेरे जीवन की बहुत सी घटनाओं को समझने में यही एक सहायता दे सकती है। इस घटना पर (जालन्धर आर्य समाज के प्रधान बनने के प्रस्ताव के सम्बन्ध में) दीर्घदृष्टि डालने से यह भी पता चल सकेगा कि दूसरे के गुणों तथा योग्यताओं का मान करते हुए तथा वास्तव में उनके प्रति प्रेम और आदर का भाव मन में रखते हुए भी क्यों मैंने ऐसे बहुत से पुरुषों को शत्रु बना लिया है, जिनका मेरे साथ मिलकर काम करना वैदिक धर्म तथा आर्य जाति की उन्नति का साधक होता[36]।"

लाला लाजपत राय ने संवत 1992–93 में स्वामी जी की प्रकृति के विषय में कहा था कि वे झगड़ालू स्वभाव के साथ नेता बनने की लालसा में यश के पीछे दौड़ने वाले हैं[37]। लेकिन बाद में लाला जी ने इस टिप्पणी में सुधार कर लिया था। जोर्डेन्स ने भी इसी से मिलती–जुलती बात लिखते हुए कहा है "इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके विरोधियों का स्वभाव झगड़ालू था, परन्तु मुंशी राम के अपने स्वभाव की भी विवादों में भागीदारी है[38]।" स्वामी श्रद्धानन्द की कार्यशैली के कटु आलोचक महाशय कृष्ण ने स्वामी श्रद्धानन्द की प्रकृति के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है "मेरा स्वामी जी से 25 वर्ष का सम्बन्ध रहा। इस अन्तर में मैंने उनके जीवन को हर प्रकार से देखा। उनके गुण और दोष भी मेरे सामने आए, दोष कोई बड़े न थे, केवल स्वभाव के दोष थे। उनके स्वभाव में यह बात थी कि जो उनके सम्पर्क में आ जाता था और उन्हें जो बात कह देता, तो उसकी बात पर विश्वास कर लेते थे। अपने समाचार पत्र 'संद्धर्म प्रचारक' में वर्णन कर दिया करते थे और जब उसका खण्डन हो जाता था, तो उन्हें अपनी भूल स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होता था[39]। महात्मा गाँधी ने स्वामी जी की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए लिखा है" स्वामी जी सुधारक थे। वे कर्मवीर थे, वचनवीर नहीं। जिस बात में उनका विश्वास था, वे उसका पालन करते थे। उन विश्वासों के लिये उन्हें कष्ट झेलने पड़े। वे वीरता के अवतार थे। खतरे के सामने वे कभी कॉपे नहीं। वे योद्धा थे और योद्धा रोग–शय्या पर नहीं मरना चाहता। वह तो युद्ध भूमि में मरना चाहता है[40]।" स्वामी श्रद्धानन्द के संन्यास आश्रम में दीक्षित होने के बाद आचार्य पद सम्भालने वाले प्रो0 रामदेव के शब्दों में "उनका (स्वामी श्रद्धानन्द) का विरोध करके सफल होना कोई सरल बात नहीं थी। उनका व्यक्तित्व बहुत बड़ा था और जिसका पक्ष ले लेते थे, उसकी प्रायः विजय होती थी।" इस प्रकार स्वामी जी निर्णयों में युक्तियों और परिस्थितियों की परवाह न करके इति–कर्तव्यता का निश्चय करने वाले, प्रलोभन से रहित, युयुत्सु की भावना से परिपूर्ण और स्वयं की गलतियों का परिमार्जन करने वाले महान् व्यक्तित्व के धनी थे।

साहित्यिक योगदान

जोर्डन्स के कथनानुसार 1923 ई0 के अन्त से आरम्भ होकर 1925 तक स्वामी जी की लेखनी से लेखों, पम्पप्लेटों और पुस्तकों की बाढ़ आ गई थी[41]। इस लेखनी की बाढ़ का साहित्य में क्या योगदान है? इस विषय में स्वामी जी की जीवनी लिखने वालों ने कोई सार्थक प्रयास नहीं किया। वर्ष 1993 में 'साहित्य अकादमी' नई दिल्ली ने इस विषय पर एक पुस्तक सर्वश्री विष्णु प्रभाकर एवं विष्णुदत्त राकेश से लिखवाई। 'साहित्य अकादमी' के अनुबन्ध की सीमा में जकड़े ये लेखक स्वामी श्रद्धानन्द को 100 पृष्ठों (जीवनी और साहित्य साधना) में बाँधने में पूर्ण सक्षम कहे जा सकते हैं। विष्णु द्वय ने स्वामी जी की हिन्दी के प्रति की गई सेवाओं का उल्लेख करते हुए साहित्यिक योगदान के सन्दर्भ में पत्रकारिता और आत्मकथा के बिन्दुओं को उभारा है। इनके प्रयास से हिन्दी लेखकों को स्वामी जी की साहित्य साधना के सम्बन्ध में अनूठी जानकारी मिली है।

साहित्य के प्रति स्वामी जी की रुचि शरीर के उठान काल में ही उत्पन्न हो गई थी। रेवड़ी तालाब स्कूल (बनारस) के विद्यार्थी जीवन में (1875) ही उनका सम्पर्क भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हो गया था। इस परिचय के सम्बन्ध में लिखते हुये वे कहते हैं– "बाबू हरिश्चन्द्र कवि भी अद्वितीय समझे जाते थे। सारस्वत ब्राह्मण कक्कू जी के पुत्र ने मेरा उनसे परिचय कराया और यहाँ मेरा आना–जाना आरम्भ हुआ। उर्दू शायरी से प्रेम हो चुका था, हिन्दी का रस भी मिलने लगा। परन्तु इन दोनों का मेरे जीवन पर अच्छा असर नहीं पड़ा। रामचरित मानस के स्वाध्याय ने मेरे आचार–व्यवहार की आवारगी के दिनों में रक्षा की थी, परन्तु उर्दू कवियों और भारतेन्दु की संगति में मानसिक पवित्रता का भाव ढीला पड़ने लगा। सामने से कोई सुन्दरी आ रही है। उसको देखते उसके शरीर, वस्त्र, चाल–ढ़ाल पर भारतेन्दु जी ने कविता कहना आरम्भ किया और उसके सामने पहुँचने तक पूरा हो गया। कविता का तो यह आदर्श समझा जाता था, परन्तु ब्रह्मचर्य, सदाचार ,मानसिक पवित्रता पर कुल्हाड़े की चोट लगाई जाती है[42]।" शनैः शनैः श्रृंगार परक माहौल के कारण उनका सम्पर्क भारतेन्दु से टूटता चला गया। उपर्युक्त उद्धरण से यह पता चलता है कि स्वामी जी की दृष्टि में कविता का मूल्य श्रृंगार न होकर सदाचार है। सदाचार के मूल्य के कारण ही 'रामचरित मानस' ने उनको सही रास्ता दिखाया। यह एक सुखद आश्चर्य है कि हिन्दी की पुस्तक 'रामचरित मानस' ने एक आवारा किस्म के युवक को सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा दी और जीवन भर पग–पग पर प्रति बोधित किया।

कविता से मोहभंग हो जाने पर स्वामी जी ने साहित्य के क्षेत्र में उपन्यासकार बनने की सोची। क्वींस कालेज, बनारस के दिनों (1876) में 'गाढ़ी कम्पनी' अर्थात मित्र मण्डली के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "हम सब में दो उपन्यास लेखक बने, एक दीवान साहेब और दूसरा मैं। दीवान साहेब ने तो अंग्रेजी उपन्यास लेखक डिकेंस को अपना पथ प्रदर्शक बनाया और मैंने सर वाल्टर स्काट को गुरू धारा[43]।" रविवार के दिन 'गाढ़ी कम्पनी' की बैठकों में उनके उपन्यास लेखन के सम्बन्ध में चर्चा–परिचर्चा भी होती थी। बलिया के निवास काल में ये अपना उंपन्यास पूरा करना चाहते थे, परन्तु ऐसा नहीं हो सका[44]। मुखतारी के दिनों में जालन्धर में रहते हुए स्वामी जी का नाता उर्दू साहित्य से जुड़ता चला गया। उन्हीं के शब्दों में "नज्म़ और नसर (पद्य–गद्य) का शौक बार रुम में जोरों पर था और पंजाबियों तथा उर्दू के केन्द्र स्थानों (उत्तर प्रदेश) में घूम आने वालों में प्रामाणिक समझा गया था। हर महफिल में बुलाया जाता[45]।"

सन् 1884 ई0 में आर्य समाज के सदस्य बनने के उपरान्त स्वामी जी शीघ्र ही 1886 ई0 में आर्य समाज जालन्धर के प्रधान बना दिये गये। अब स्वामी जी पूर्णतः आर्य समाज के रंग में रंगे जा चुके थे। आर्य समाज के प्रचार और प्रसार के लिये एक समाचार पत्र की आवश्यकता अनुभव की गई । जालन्धर और होशियारपुर के कुछ व्यक्तियों की भागीदारी में एक प्रैस खरीदकर स्वामी जी ने 19 फरवरी, 1889 में 'सद्धर्म प्रचारक' नामक उर्दू का साप्ताहिक समाचार पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार स्वामी जी ने समाचार पत्र के माध्यम से लेखक वर्ग में अपना पहला कदम रखा। समाचार पत्र के मुख पृष्ठ पर 'मित्रस्य त्वा चक्षुषा समीक्षामहे' का सिद्धान्त वाक्य लिखा गया। डा0 धर्मपाल के अनुसार "पत्र की लिपि तो उर्दू भाषा की थी, परन्तु उसक़ी भाषा धीरे–धीरे उर्दू के स्थान पर हिन्दी ही होती गई। इसमें संस्कृत भाषा के शब्द भी आ जाया करते थे। मुसलमानों ने इस भाषा का विरोध किया, पर धीरे–धीरे सारे पंजाब में इसी भाषा ने जोर पकड़ लिया। लोग इस भाषा को 'आर्य समाजी उर्दू' कहा करते थे[46]।" स्वामी जी के लेखन क्षेत्र में प्रवेश करते समय पंजाब की मुख्य भाषा उर्दू थी। आर्य समाजी उर्दू के द्वारा उन्होंने शनैः शनैः संस्कृत के तत्सम और तद्‌भव शब्द रूपों को पाठकों के मनों में बैठाना आरम्भ कर दिया। इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया देखकर स्वामी जी ने सम्वत् 1955 (1898 ई0) में 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा "दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये कि प्रतिनिधि सभा का दफ्तर और आर्य समाजियों का पत्र–व्यवहार आर्य भाषा (हिन्दी) में हो जावे। क्या

उर्दू का स्थान आर्य भाषा को लेते मैं अपनी आँखों से देख सकूँगा।"

स्वामी श्रद्धानन्द की उपर्युक्त इच्छा उनके जीवन काल में 'गुरुकुल' कांगडी की स्थापना के साथ ही पूर्ण होने लगी। गुरुकुलीय शिक्षण विधि में आरम्भ से ही हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया था। हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों का अभाव था। इसकी पूर्ति के लिये गुरुकुल के आध्यापकों ने विभिन्न विषयों पर हिन्दी की पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं।

स्वामी श्रद्धानन्द बहुमुखी लेखक थे। भाषाओं पर अधिकार की दृष्टि से उर्दू, अंग्रेजी और हिन्दी पर उनकी अच्छी पकड़ थी। उन्होंने अपने जीवन काल में तीनों ही भाषाओं में प्रचुर साहित्य की रचना की है। इ .की रचनाओं का मुख्य विषय धार्मिक ही रहा है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि आर्य समाज, कांग्रेस, हिन्दू महासभा, हिन्दू संगठन और गुरुकुल कांगड़ी के प्रबन्ध में व्यस्त रहते हुए भी स्वामी जी ने पत्र–पत्रिकाओं में लेख लिखने के अतिरिक्त चालीस पुस्तकें उर्दू, अंग्रेजी और हिन्दी भाषाओं में लिखीं हैं। इसके साथ ही उन्हें तीन पत्रिकाओं का संस्थापक–सम्पादक होने का गौरव भी प्राप्त है। कालक्रम की दृष्टि से उन्होंने सर्वप्रथम उर्दू भाषा में ही लिखना आरम्भ किया था। उनकी उर्दू रचनाओं का कालक्रम इस प्रकार है–

1. वर्ण व्यवस्था 1891, 2. एक मांस प्रचारक की गुप्तलीला का प्रकाश 1895, 3. क्षेत्रधर्म के पालन का गैर मामूली वाक्य 1895, 4. सुबह ओ–मीद 1898, 5. पुराणों की नापाक तालीम से बचो 1899, 6. सद्धर्म प्रचारक पर पहला लायबल केस 1901, 7. दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ 1906, 8. मेरी जिन्दगी के नशेबोफराज 1911, 9. हिन्दू–मुस्लिम इत्तिहाद की कहानी 1924, 10. अन्धा एतकाद और खुफिया जिहाद 1924, 11. मुहम्मदी शाजिस का इन्कशाफ 1924, 12. अछूतोद्धार एक फौरी मसला, 13. मेरा आखिरी मशवरा, 14, दाइये इस्लाम या तबाहिये इस्लाम 1924।

इसके पश्चात् लेखन के क्रम में अंग्रेजी भाषा की रचनायें आती हैं। इस भाषा की रचनाओं का क्रम इस प्रकार है–

1. द फ्यूचर आफ आर्य समाज–ए फोरकास्ट 1893,
2. द आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स–ए विन्डीकेशन 1910,
3. हिन्दू संगठन–सेवियर आफ द डाईंग रेस 1926।

सबसे बाद में हिन्दी की रचनाओं का क्रम आरम्भ होता है। इस भाषा की रचनाओं की अनुक्रमणिका निम्न प्रकार है–

1. आर्य संगीत माला 1900, 2. ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार 1910, 3. वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति 1911, 4. पारसी मत और वैदिक धर्म 1916, 5. मातृभाषा का उद्धार 1916, 6. वेद और आर्य समाज 1916, 7. आर्यों की नित्य कर्म पद्धति 1916, 8. पंचयज्ञ विधि 1916, 9. आचार अनाचार और छूतछात 1916, 10. उत्तराखण्ड की महिमा 1917, 11. मानव धर्मशास्त्र तथा शासन पद्धति 1917, 12. आदिम सत्यार्थ प्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त 1917, 13. जाति के दीनों को मत त्यागो 1919, 14. गढ़वाल में 1975 विक्रमी का दुर्भिक्ष और उसके निवारणार्थ गुरुकुल दल का कार्य 1919, 15. बन्दीघर के विचित्र अनुभव 1923, 16. कल्याण मार्ग का पथिक 1924, 17. हिन्दुओं सावधान, तुम्हारे दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया 1924, 18. वर्तमान मुख्य समस्या–अछूतपन के कलंक को दूर करो 1924, 19. मुक्ति सोपान 1925, 20. आर्यों के नित्यकर्म 1925।

स्वामी जी द्वारा संचालित पत्र–पत्रिकाओं का क्रम इस प्रकार है–

1. सद्धर्म प्रचारक (उर्दू) 1889, 2. श्रद्धा (हिन्दी) 1920, 3. लिबरेटर (अंग्रेजी) 1926।

उपर्युक्त मौलिक पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त स्वामी जी ने कुछ पुस्तकों का हिन्दी से उर्दू में और उर्दू से हिन्दी में अनुवाद भी किया था। इन पुस्तकों में लाला ज्वाला सहाय कृत 'विस्तारपूर्वक सन्ध्या विधि' का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दी की पुस्तकों यज्ञ का पहला अंग और स्वामी दयानन्द के भाषणों की 'उपदेशमंजरी' नामक पुस्तक का उर्दू अनुवाद किया। कुछ लेखकों ने स्वामी जी के भाषणों और पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संग्रह किया है। इस कोटि में लब्भूराम नय्यड़ द्वारा तीन भागों में प्रकाशित 'धर्मोपदेश' और 'महात्मा मुंशी राम के सात लैक्चरों का मजमुआ' नामक पुस्तकें आती हैं। स्वामी श्रद्धानन्द ने सन् 1926 ई0 में अंग्रेजी भाषा में 'लिबरेटर' नामक समाचार पत्र (साप्ताहिक) निकाला था। इसका प्रकाशन 1 अप्रैल, 1926 से आरम्भ हुआ और इसका अन्तिम अंक अक्टूबर, 1926 ई0 निकला। इस समाचार पत्र के संयुक्त सम्पादक महाराष्ट्र निवासी पी0आर0 लेले थे। उन्होंने इस समाचारपत्र में स्वामी जी द्वारा लिखित कांग्रेस सम्बन्धी विचारों को 'इन साइड कांग्रेस' नाम से सम्पादित करके अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित करवाया। स्वामी श्रद्धानन्द के तीनों भाषाओं में बिखरे विचारों को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने का भी एक स्तुल्य प्रयास किया गया है। गोविन्द राम हासानन्द पब्लिशर के0 विजयकुमार ने प्रो0 डा0 भवानी लाल भारतीय के सम्पादकत्व में 13 खण्डों में स्वामी जी के साहित्य को निकाला है। लेकिन हमें तो यहाँ स्वामी जी की हिन्दी भाषा में लिखी उन्हीं रचनाओं को लेना अभीष्ट है, जिनसे उनके साहित्यिक योगदान का पक्ष उजागर हो सके।

स्वामी जी, साहित्यकार के लिये यह आवश्यक समझते थे कि रचना–प्रस्तुति से पूर्व उसे रचना के कथ्य के सम्बन्ध में सही जानकारी होनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा, तो लेखक परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण करने में असमर्थ होगा। उपर्युक्त कथन की सम्पुष्टि हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानीकार आचार्य चतुरसेन के एक संस्मरण से इस प्रकार होती है–

"यही मेरा ख्याल है, परन्तु आप एक उदीयमान साहित्यकार है और साहित्यकार एकान्तप्रिय होते हैं। परन्तु अधिक एकान्त में यह दोष पैदा हो जाता है कि साहित्यकार की दृष्टि में कल्पना प्रधान हो जाती है। सत्य पीछे छूट जाता है। जहाँ तक भावना का प्रश्न है, इससे उतनी हानि नहीं होती, पर जब घटनाओं का प्रश्न आता है और उससे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित होता है और दुर्भाग्य से वह व्यक्ति यदि सार्वजनिक होता है तब कभी–कभी बहुत भद्दी भूलें हो जाती हैं, जो पीछे किसी मूल्य पर परिमार्जित नहीं की जा सकतीं।"

इससे आगे वे लिखते हैं, मतलब मैं स्पष्ट ही समझ रहा था। पर स्वामी जी कोई बात अधूरी छोड़ते नहीं थे, कोई बात उधार खाते में डालते नहीं थे। उन्होंने बिना इस बात की परवाह किये तनिक कठोर भाषा में कहा– "अब आप इस कहानी की ही बात लीजिए जिसमें मुझे और मेरे पुत्र को आपने एक पात्र बनाया है, एक बहुत गम्भीर आरोप आपने उसमें मेरे ऊपर लगाया है। मैं नहीं जानता कहाँ से ये तथ्य आपको मिले और उसमें आपने कितना कल्पना का सहारा लिया, परन्तु मैं तो अभी जीवित था, यहीं इसी नगर में रहता था, आप यदि मेरे पास आते तो आपको मेरे पास तो सत्य की ही उपलब्धि होती और तब शायद आपकी यह कहानी कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लेती[47]।"

इस कहानी का सम्बन्ध दिल्ली के कुछ फाँसी प्राप्त क्रान्तिकारियों से भी था। अतः स्वामी जी ने बात को अन्तिम रूप देते हुए कहा–

"अभी आप नवयुवक हैं। खून आपका गर्म है। पर कभी आप मेरी उम्र को भी पहुँचेंगे, किन्तु कदाचित् आपका जीवन उस भयानक बवंडर में न फँसे, जिसमें मुझे फँसना पड़ा, क्योंकि आप तो साहित्यिक हैं, सामाजिक कार्यकर्ता नहीं। विरोधी सत्ताओं के शक्ति सन्तुलन का कदाचित् आपको अवसर मिले ही नहीं। ऐसी अवस्था में आप आपनी भूल को कभी समझ न सकेंगे। परन्तु मैं तो समझता हूं कि साहित्यकार को समाज के समूचे ढ़ाँचे को उसी प्रकार ठीक–ठाक जान लेना आवश्यक है जिस प्रकार एक चिकित्सक को शरीर की भीतरी–बाहरी पेंचिली बनावट, साथ ही जीवन–क्रिया के मूलाधारों को जान लेना आवश्यक है। इसके लिए साहित्यकार ही रहना चाहिए(४८)।"

स्वामी जी द्वारा लिखी तीनों भाषाओं की पुस्तकों के तुलनात्मक अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी भाषा की पुस्तकों की विषय वस्तु विविध विषयों से सम्बन्धित है। विषय वस्तु की विविधता से साथ साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार, मातृभाषा का उद्धार, उत्तराखण्ड की महिमा, आदिम सत्यार्थ प्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त, बन्दीघर के विचित्र अनुभव, कल्याणमार्ग का पथिक और आर्य पथिक लेखराम नामक पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त पुस्तकें पत्र संकलन की विधा, समालोचना की विधा, भाषा प्रयोग विधा, सांस्कृतिक निबन्ध विधा आत्म, चरित्र विधा और जीवन चरित्र विधा की कोटियों में आती है। परन्तु हिन्दी साहित्य के लेखकों ने स्वामी जी को मूल रूप में धार्मिक नेता मानकर उनकी साहित्यिक कृतियों की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी साहित्य में पत्र संकलन विधा के प्रारम्भकर्ता थे। इस विधा की ओर बढ़ने की कहानी को संयोग ही समझिए। परोपकारिणी सभा, अजमेर ने अपने 1906 ई0 के अधिवेशन में स्वामी दयानन्द के जीवन चरित्र की पूर्ति के लिये आर्य समाज एवं परोपकारिणी सभा के इतिहास भी लिखवाने आवश्यक समझे। इसके लिए प्रस्ताव भी पारित हो गया किन्तु वर्ष भर कुछ न हो सका। इसलिए दूसरे वर्ष 1907 के अधिवेशन में यह कार्य स्वामी श्रद्धानन्द को पूरा करने के लिये दे दिया गया। इस सन्दर्भ में कार्य करते हुए स्वामी जी को महर्षि दयानन्द से सम्बन्धित अनेक पुराने पत्र उपलब्ध हुए। आर्य समाज का इतिहास तो किन्हीं कारणों से नहीं लिखा जा सका, परन्तु स्वामी जी ने पत्र–व्यवहार को अपने खर्चे से छपवा दिया। स्वामी जी ने पत्रों का सम्पादन करने में एक निष्पक्ष लेखक का कर्तव्य पालन करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा "ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार से यदि उनकी कोई निर्बलता भी प्रकाशित हो, या किसी पत्र से हमारे जमें हुए संस्कारों तथा विश्वासों पर यदि किसी प्रकार की चोट भी लगे तब भी किसी आर्य समाज का अधिकार नहीं कि वह इस पत्र व्यवहार में से एक शब्द भी न्यूनाधिक करे(४९)।" स्वामी जी ने उपर्युक्त कथन का अक्षरशः पालन करना अपना सम्पादकीय कर्तव्य समझा। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा–

"इस पत्रमाला में कुछ पत्र कई एक सज्जनों को अनावश्यक प्रतीत होंगे और कइयों की भाषा उनको ऐसी अखरेगी कि उन्हें पढ़ते समय वे मुझ पर बहुत ही क्रुद्ध होंगे। ऐसे सज्जनों को समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य के आचार बहुत सी छोटी–बड़ी घटनाओं के समूह से ही बनते हैं, जिसमें से एक प्रकार की घटना को भी पाठकों से छिपाने पर वे उस पुरुष के जीवन पर ठीक सम्मति स्थिर नहीं कर सकते। यदि मैं भी इस समय पत्रमाला के संग्रहीता के स्थान में जीवन वृतान्त का सम्पादक होता तो मैं भी काट–छाँट से न चूकता, किन्तु मेरा अधिकार इस समय यह न था और जब ठीक तथ्य ही पाठकों के सामने रखने का कर्तव्य हो तो भाषा को बदलना भी एक प्रकार के अनधिकार जमाने के तुल्य ही है(५०)।" इस प्रकार स्वामी जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जीवनी लेखक और पत्र–व्यवहार सम्पादक के बीच की सीमा रेखा क्या है?

साहित्यिक दृष्टि से स्वामी जी के पत्र–व्यवहार सम्पादन की यह विशेषता है कि प्रायः उन्होंने प्रत्येक पत्र की संक्षिप्त समालोचना भी प्रस्तुत की है। इनमें से कतिपय पत्र हिन्दी भाषा की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। स्वामी जी ने महाशय लक्ष्मण गोपाल देशमुख असिस्टेन्ट कलेक्टर खानदेश के पत्र की समालोचना में लिखा है "ये पत्र यद्यपि केवल घड़ी की खरीददारी के सम्बन्ध में होने से कई पाठकों को तुच्छ प्रतीत होंगे, किन्तु मेरी दृष्टि में ये बहुमूल्य हैं। इनसे पता चलता है कि आर्य भाषा और संस्कृत के प्रचार को जिस ऋषि दयानन्द ने पुष्टि दी थी, यदि उसका अनुकरण उनके शिष्य करते तो आज यह हीन दशा न दिखाई देती कि आर्य समाज के कतिपय भूषणों (महान व्यक्तियों) को यह भी लिखने में लज्जा नहीं आती कि यदि उनसे उत्तर–प्राप्ति की इच्छा हो तो उनके नाम पत्र इंगलिश या उर्दू भाषा में ही भेजा जावे[61]।"

समालोचना के क्षेत्र में 'आदिम सत्यार्थ प्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त' नाम पुस्तक अपना स्थान आप ही रखती है। यद्यपि इस पुस्तक में आर्य सिद्धान्तों पर उठाई गई आपत्तियों का निराकरण किया गया है तथापि इस निराकरण में समालोचना की जो पद्धति अपनाई गई है, वह शास्त्रीय होने के साथ–साथ साहित्यिक भी है। इस समालोचना में एक लेखक द्वारा रचित एक ही पुस्तक के प्रथम तथा द्वितीय संस्करणों की विषय वस्तु की परस्पर तुलना करके प्रथम संस्करण के कुछ महत्वपूर्ण सन्दर्भों को द्वितीय संस्करण में स्थान न देने की समालोचना है। वे लेखक अन्य कोई न होकर स्वामी दयानन्द हैं और रचना भी लेखक की अन्य साधारण रचना न होकर सत्यार्थ प्रकाश है। सम्भवतः यह इस प्रकार की समालोचना का हिन्दी लेखन जगत में यह प्रथम प्रयास हो।

आर्य समाजियों की मान्यता के अनुसार जिस समय आदिम सत्यार्थ प्रकाश छपा उस समय अत्यधिक व्यस्तता के कारण स्वामी दयानन्द उसकी पाण्डुलिपि नहीं पढ़ सके थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पाण्डुलिपि लेखक ने स्वयं अपनी तरफ से कुछ ऐसी बातें लिख दीं जो आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थीं। आदिम सत्यार्थ प्रकाश छपने पर स्वामी जी के विरोधियों ने अपने पक्ष में इसका लाभ उठाया। किसी जागरुक पाठक ने स्वामी दयानन्द का ध्यान इस ओर खींचा। स्वामी जी ने अविलम्ब अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित करवा दिया और प्रथम संस्करण की प्रतियाँ समाप्त होते ही सत्यार्थ प्रकाश को संशोधित करके द्वितीयावृत्ति के प्रकाशनार्थ भेज दिया। दुर्भाग्य से स्वामी जी की मृत्यु सन् 1883 ई0 में हो गई और सत्यार्थ का संशोधित द्वितीय संस्करण उनकी मृत्यु के पश्चात् 1884 ई0 में पाठकों के हाथ आ सका। इस घटना को लेकर पुरातनपंथियों मेंअग्रणी पं0 कालूराम ने यह प्रचरित करना आरम्भ कर दिया कि संशोधित सत्यार्थ प्रकाश का स्वामी जी से कोई सम्बन्ध नहीं। स्वामी जी की असली रचना तो आदिम सत्यार्थ प्रकाश ही है और उसमें यज्ञीय हिंसा और मृतक श्राद्ध आदि विषयों का समर्थन मिलता है। कालूराम ने अपने प्रयत्न से आदिम सत्यार्थ प्रकाश को छपवा कर आर्य समाज के विरोध में वातावरण बनाना आरम्भ कर दिया।

इस परिस्थिति को देखकर स्वामी श्रद्धानन्द सचेत हुए और उन्होंने अपनी लेखनी उठाई। स्वामी श्रद्धानन्द ने आदिम सत्यार्थ की समालोचना करते हुए नकारात्मक और सकारात्मक दोनों विधियां अपना कर निर्णय देने के विषय में रचनात्मक विधि का आश्रय लिया। नकारात्मक विधि द्वारा उन्होंने कालूराम के विचारों का युक्तियुक्त प्रमाण देकर निराकरण किया। सकारात्मक समीक्षा में स्वामी जी ने आर्य समाज के मान्य सिद्धान्तों की पुष्टि करके यज्ञीय हिंसा और मृतक श्राद्ध आदि का खण्डन किया। किन्तु एक निष्पक्ष समीक्षक की दृष्टि से यह भी स्वीकार किया कि संशोधित सत्यार्थ प्रकाश में प्रमाणों के पते आदि शब्द शुद्धि विषयक परिवर्तन जो किसी किसी संस्करण में दिये गये हैं, ठीक नहीं हैं। ऐसे परिवर्तन, हेतु देकर फुटनोटों द्वारा होने चाहिए[62]। सत्यार्थ प्रकाश की लेखन शैली के विषय में लिखते हुए स्वामी श्रद्धानन्द कहते हैं कि "स्वामी दयानन्द की लेखन शैली स्वामी

शंकराचार्य से मिलती है। जैसे शंकर स्वामी पूर्वपक्ष की प्रबल से प्रबल युक्तियों द्वारा स्थापना करके समाधान करते हैं, वैसे ही दयानन्द भी पूर्वपक्ष के साथ अन्याय नहीं करते[63]।" इसके पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द ने धार्मिक विषयों की समीक्षा करते हुए रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करते हुए लिखा "पौराणिक पंडितों से निवेदन है कि वे समय के प्रवाह को समझें और वैदिक धर्म के गौरव का ध्यान करें। यह समय स्वार्थ परायणता का नहीं है। यह समय उन नियमों पर अधिक बल देने का है, जिनमें आर्य समाज और सनातन धर्म सभा ऐक्य मत हैं। ब्रह्मचर्याश्रम के अभाव से संसार का नाश हो रहा है। यदि सनातन धर्म सभा और आर्य समाज अपनी शक्तियों को मिलाकर बल लगाएँ, तो शीघ्र बेड़ा पार हो सकता है[64]।"

धार्मिक क्षेत्र में रचनात्मक सुझाव देने के पश्चात् स्वामी जी ने आदिम सत्यार्थ प्रकाश की विषय वस्तु की दृष्टि से समीक्षा की। बस यहीं से उनकी रचनात्मक समालोचना का अजस्र प्रवाह आरम्भ होता है। स्वामी दयानन्द को भारतीय इतिहास में धर्माचार्य के रूप में मान्यता न मिल कर एक समाज सुधारक के रूप में मान्यता मिली है। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज के दस नियम भी यह प्रमाणित करते हैं कि स्वामी जी का रुझान सामाजिकता की ओर था और वे सामाजिक हितकारी नियमों के पालन में प्रत्येक व्यक्ति को परतन्त्र रहने पर बल देते थे। स्वामी जी की इसी प्रकृति को उद्घाटित करने वाले कुछ प्रसंग आदिम सत्यार्थ प्रकाश में थे। इन प्रसंगों को सत्यार्थ प्रकाश के संशोधित द्वितीय संस्करण में स्थान नहीं दिया गया। स्वामी श्रद्धानन्द की मान्यता थी कि इन प्रसंगों को द्वितीय संस्करण में स्थान मिलना चाहिए था। क्योंकि इन प्रसंगों में से कुछ प्रसंग स्वामी दयानन्द के सामाजिक विचारों के विकास की दिशा के मापक हैं। ऐसे प्रसंगों में पर्दा प्रथा, विवाह के नियम, धनाढ्यों के खुशामदी, बनावटी स्वभाव और वास्तविक छूत आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनसे यह पता चलता है कि आदर्शोन्मुखी स्वामी दयानन्द उग्र यथार्थवादी बनते चले गये। पर्दा प्रथा के सम्बन्ध में आदर्शोन्मुखी विचारों को प्रकट करते हुए आदिम सत्यार्थ में लिखा गया है "और जो स्त्रियों को अत्यन्त बन्धन में रखते हैं, वह भी बड़ा भ्रष्ट काम है, क्योंकि स्त्रियों को बड़ा दुख होता है। श्रेष्ठ पुरुषों का तो दर्शन भी नहीं होता और नीच पुरुषों से भ्रष्ट हो जाती हैं। देखना चाहिए कि परमेश्वर ने तो सब जीवों को स्वतन्त्र रचा है और उनको पुरुष लोग बिना अपराध से परतन्त्र अर्थात् बन्धन में रखते हैं, वे बड़ा पाप करते हैं। सो इस बात को सज्जन लोग कभी न करें[65]।

विवाह के नियम विषय पर आते–आते आदर्शोन्मुखी विचार धारा में शनैः शनैः परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि "पशुवत् विवाह का व्यवहार करना उचित नहीं, जैसे कि गाय वा छेरी (बकरी) को पकड़ कर दूसरे के हाथ में दे देते हैं, वे लेके चले जाते हैं। इस प्रकार का व्यवहार मनुष्यों को कभी न करना चाहिए। दुष्ट पुरुष के साथ श्रेष्ठ कन्या अथवा दुष्ट कन्या के साथ श्रेष्ठ पुरुष का विवाह कभी न करना चाहिये, किन्तु श्रेष्ठ गुणवालों का परस्पर विवाह होना चाहिए। .... विवाह में बहुत धन का नाश करना अनुचित ही है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इससे बहुत राज्य नष्ट हो गए और वैश्य लोगों के भी विवाह में धन के व्यय से दिवाला निकल जाता है। सब लोगों को मिथ्या धन का व्यय करना अनुचित है, इससे धन का नाश विवाह में कभी न करना चाहिए। एक ही स्त्री से विवाह करना उचित है। बहुत स्त्री के साथ विवाह करना पुरुषों को उचित नहीं। स्त्री को भी बहुत विवाह करना उचित नहीं। क्योंकि विवाह सन्तान के लिए होता है, सो एक स्त्री एक पुरुष को बहुत है। देखना चाहिये कि एक व्यभिचारिणी स्त्री अथवा वैश्या बहुत पुरुषों को वीर्य के नाश से निर्बल कर देती है। इससे एक पुरुष के लिये एक स्त्री क्या थोड़ी है? अर्थात बहुत है[66]।

इससे आगे इसी प्रसंग में हम स्वामी दयानन्द के वर्णन में नैतिकता के नग्न यथार्थवाद के रूप को देखते हैं। वे लिखते हैं "आजकल आर्यावर्त में कई–एक राजा और धनाढ्य विवाहिता स्त्री को तो कैद की नाँइ बन्द करके रखते हैं और आप वेश्या और पर स्त्री के साथ गमन करते हैं, उसमें धन और शरीर का नाश करते हैं और उनकी विवाहिता स्त्रियाँ रोती और बड़ी दुखित रहती हैं। उन मूर्खों को कुछ भी लज्जा नहीं आती कि वह स्त्री तो मेरे साथ विवाहित है, इसको छोड़कर मैं पर स्त्री गमन करता हूं सो यह मैं न करूँ – ऐसा विचार उन पुरुषों के मन में कभी नहीं आता। अन्य स्त्री और वेश्या–गमन जो करते हैं सो तो बुरा काम करते हैं, परन्तु बालकों से भी बुरा काम करते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है कि स्त्री का काम पुरुषों से लेते हैं। जो लौंडेबाजी करते हैं वे तो सुअर वा कौव्वे की नाँई हैं क्योंकि जैसे सुअर या कौव्वे विष्ठा से बड़ी प्रीति रखते हैं और अरुचि कभी नहीं करते, वैसे ही वे पुरूष भी विष्ठा जिस मार्ग से निकलती है, उस मार्ग से बड़ी प्रीति रखते हैं। इससे इस प्रकार के जो मनुष्य हैं वे मूर्ख से बढ़कर हैं। वीर्य, जो सब बीजों से उत्तम है, उसको व्यर्थ नष्ट करते हैं और पाप भी कमाते हैं[67]।"

धनाढ्य लोगों के पास रहने वाले खुशामदियों और धनाढ्यों को आड़े हाथ लेते हुए स्वामी जी आदिम सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं कि लोग बैंगन के दास न होकर धनाढ्यों के दास होते है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक राजा का दृष्टान्त इस प्रकार लिखा है–

"कोई राजा था। उसके पास पण्डित, बैरागी और नौकर, खुशामदी लोग बहुत से रहते थे। किसी दिन राजा की रसोई में बैंगन का शाक, मसाले डालने से, बहुत अच्छा बना। फिर जब राजा भोजन करने बैठा तो स्वादु होने के कारण उस शाक को अधिक खाया। राजा भोजन करके सभा में आया जहाँ कि खुशामदी लोग बैठे थे। उनसे राजा ने कहा कि बैंगन का शाक बहुत अच्छा होता है। तब वे खुशामदी लोग सुनकर बोले कि वाह वा! महाराज की नाँई कोई बुद्धिमान नहीं है। महाराज, आप देखिये कि जब बैंगन नाम उत्तम है तब तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट रख दिया है तथा मुकुट के चारों और कलगियाँ रख दी हैं। और बैंगन का वर्ण श्रीकृष्ण के शरीर जैसा घनश्याम है, वैसा ही बनाया है। और उसका गूदा मक्खन की नाँई परमेश्वर ने बनाया है। बैंगन का शाक उत्तम क्यों न बने? फिर जब शाक ने बादी की, रात भर नींद न आई और आठ–दस बार शौच गया जिससे राजा बड़ा क्लेशित हुआ। प्रातःकाल जब हुआ तब भीतर से राजा बाहर आया। वे खुशामदी लोग भी आये। जब राजा का मुख बिगड़ा देखा तब उन खुशामदी लोगों ने उससे भी अधिक मुख बिगाड़ लिया और सब राजा के पास जा के बैठे। राजा बोले कि बैंगन का शाक तो अच्छा होता है, परन्तु बादी करता है। तब ये (खुशामदी) बोले कि वाह वा! महाराज के तुल्य कोई बुद्धिमान नहीं है। एक ही दिन में बैंगन की परीक्षा कर ली। देखिए महाराज! जब बैंगन भ्रष्ट है तब तो उसके ऊपर परमेश्वर ने खूंटी गाड़ दी है, उस खूंटी के चारों ओर काँटे लगा दिये हैं। उस दुष्ट का वर्ण भी कोयले के तुल्य रक्खा है, तथा परमेश्वर ने उसका गूदा भी श्वेत कुष्ट की नाँई बना दिया है। तब उन खुशामदियों से राजा ने पूछा कि शाम को तुम लोगों ने मुकुट कलगी, घनश्याम और मक्खन के तुल्य बैंगन के अवयव वर्णन किये, उसी बैंगन के अवयवों को खूंटी, काँटे, कोयले और कुष्ट की नाँई बताया। हम किसको सत्य मानें, कल वाली को या आज की कही को? खुशामदी बोले, वाह वा! महाराज किस प्रकार के विवेकी हैं कि विरोध को शीघ्र ही जान लिया। सुनिये महाराज! जिस बात से आप प्रसन्न होंगे, उसी बात को हम लोग कहेंगे, क्योंकि हम लोग तो आपके नौकर हैं। सो आप जो झूठी या सच्ची बात कहेंगे, हम लोग उसी बात को पुष्ट करेंगे। हम लोग उस बैंगन के नौकर नहीं है कि बैंगन की स्तुति करें। हमको बैंगन से क्या लेना–देना है। हमको आपकी प्रसन्नता से प्रसन्नता है। आप असत्य कहो तो वह भी हमको सत्य है[68]। यह उदाहरण व्यावहारिक उग्र यथार्थवाद का निदर्शन है।

इसी पुस्तक में स्वामी दयानन्द ने छूआछूत के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है "जो अपने ही देश में रहते हैं और अन्य देश में तथा वहाँ के निवासियों का स्पर्श करने में छूत मानते हैं, वे विचार रहित पुरुष हैं। देखना चाहिये कि मुसलमान वा अंग्रेज से छूने में दोष मानते हैं और मुसलमानी वा अंग्रेज के देश की स्त्री के साथ संग करते हैं और अपने घर में रख लेते हैं, उनसे कुछ भेद नहीं रहता। यह बड़े अन्धेर की बात है कि मुसलमान और अंग्रेज जो भले आदमी हैं, उनसे तो छूत गिनना और वेश्यादिकों में छूत न मानना। यह केवल युक्ति शून्य बात है।

उपर्युक्त सामाजिक सुधार के विषयों में लेखनी चलाने के बाद आदिम सत्यार्थ प्रकाश में न्याय और पुलिस विभाग की भी समीक्षा की है। इन दोनों विभागों की समीक्षा करते रकते हुए वे लिखते हैं "जितने अमात्य विचारपति राजघर में हों उनके ऊपर भी कुछ दण्ड–व्यवस्था रखनी चाहिए, जिससे वे भी सच–झूठ के विचार में तत्पर होके न्याय ही करने लगें। देखना चाहिये कि एक (विचारपति) के यहाँ अर्जी (पत्र) दिया, उसके ऊपर विचारपति ने विचार करके अपनी बुद्धि और कानून की रीति से, एक की जीत की और दूसरे का पराजय। जिसका पराजय हुआ उसने ऊपर के हाकिम के पास फिर अपील की, सो जिसका प्रथम विजय हुआ था प्रायः उसका दूसरे स्थान में पराजय हो जाता है और जिसका पराजय हुआ था उसका विजय, फिर ऐसे ही जब तक दोनों का धन नहीं चूक जाता तब तक, विलायत लों लड़ते ही चले जाते हैं। रईस लोग प्रायः हठ के मारे इससे बिगड़ जाते हैं। इससे क्या चाहिए कि विचार करने वाले के ऊपर भी दण्ड की व्यवस्था होवे, जिससे वे अत्यन्त विचार करके न्याय करें। ऐसा आलस्य न करें कि जैसा हमारी बुद्धि में आया वैसा कर दिया, तुम्हारी इच्छा हो तो जाके अपील कर दो। ऐसी बातों से विचारपति भी आलस्य में आ जाते हैं। और विचारपति की अत्यन्त परीक्षा करनी चाहिए कि अधर्म से डरता हो और विद्या– बुद्धि से युक्त हो, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादिक दोष जिसमें न हों और सबके अन्तर्यामी परमेश्वर से जिसको भय हो, और किसी से नहीं, तथा किसी प्रकार का पक्षपात कभी न करें – ऐसा विचारपति हो तब राजा की प्रजा को सुख हो सकता है, अन्यथा नहीं।

और पुलिस का महकमा है उसमें अत्यन्त भद्र पुरूषों को रखना चाहिये क्योंकि प्रथम स्थान न्याय का यही है, इससे आगे प्रायः वाद–विवाद के व्यवहार चलते हैं। इस स्थान में पक्षपात से, जो अनर्थ लिखा–पढ़ा जाएगा, सो आगे भी अन्यथा प्रायः लिखा–पढ़ा जाएगा और अन्यथा व्यवहार भी प्रायः हो जाएगा। इससे पुलिस में अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुषों को रखना चाहिए। अथवा पहले जैसे मुहल्ले–मुहल्ले में चौकीदार रहता था उससे बहुधा अन्याय नहीं होता था। जब से पुलिस का प्रबन्ध हुआ है तब से बहुधा अन्यथा व्यवहार ही सुनने में आता है[७७]।"

इस प्रकार उपर्युक्त सभी विषय स्वामी दयानन्द और उन द्वारा स्थापित आर्य समाज के सामाजिक सुधारों के प्रकाश स्तम्भ है। इन प्रकाश स्तम्भों को अशोक के स्तम्भ एवं शिलालेखों की भाँति नीति निर्धारण आदेश वाक्य ही समझना चाहिये। यह मानकर ही स्वामी श्रद्धानन्द ने आदिम सत्यार्थ प्रकाश और संशोधित सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में कालूराम के विचारों का खण्डन करते हुए रचनात्मक समालोचना का आश्रय लेकर अपना निर्णय देते हुए कहा "हम लिख चुके हैं कि संशोधित सत्यार्थ प्रकाश एक दार्शनिक ग्रन्थ है। वह एक धर्म के आचार्य का पूरा मत दर्शाने वाला और स्मृति ग्रन्थ हैं। उसकी शैली उसके उद्देश्य के अनुसार ही चाहिए थी। आदिम सत्यार्थ प्रकाश एक निर्भय संशोधक के खुले विचारों का पुंज है। उसके बहुत से गौण वाक्य तथा विचार स्मृति (धर्म ग्रन्थ) के अन्दर नहीं आ सकते थे। हमारी सम्मति में उस आदिम ग्रन्थ को फिर से संशोधन करके छाप देना चाहिये। संशोधन से तात्पर्य हमारा यह है कि जो शब्द वा मुहावरे की अशुद्धियाँ श्री राजा जयकृष्ण दास जी के निवेदन न0 3 के अनुसार रह गई हैं उन्हें ठीक करके और जिस इबारत को सिद्ध किया

जा चुका है कि स्वामी दयानन्द की नहीं है, उसे कोष्ठ में देकर, ग्रन्थ ज्यों का त्यों छाप दिया जाये[60]।" स्वामी श्रद्धानन्द ने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य में आत्मचरित लिखने की विधा को समृद्ध किया है। इस पुस्तक को हिन्दी साहित्य के सभी समीक्षकों ने एक स्वर से उत्तम रचना माना है[61]। इस पुस्तक की रचना–प्रेरणा का संकेत देते हुए स्वामी जी ने प्रस्तावना में लिखा है "किस प्रकार क्रमशः धार्मिक दासता से उत्तरोत्तर हिन्दू समाज को मुक्ति मिल गई और अपनी राजनैतिक दासता का भी उनको परिज्ञान हुआ, इसके समझने के लिये युगविधाता आचार्य दयानन्द के जीवन–चरित्र का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है, परन्तु उस परिवर्तन के बहुत से मर्म तभी मालूम हो सकते हैं जबकि ऋषि के अनुगामी जिन्होंने स्वयं उनका सत्संग किया है अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को खोलकर जनता के समाने रख दें[62]।" स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को आचार्य दयानन्द की कृपा मानकर इस पुस्तक का समर्पण भी उन्हीं को किया है और लिखा है–

"ऋषिवर! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे 41 वर्ष हो चुके हैं, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय–पटल पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते–गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है? परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध किया है? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सत्संग ने मुझे जैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन–लाभ करने के योग्य बनाया?

मैं क्या था इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूं, यह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है[63]।" इसी 'क्या' की कहानी का विस्तार ही 'कल्याण मार्ग़ का पथिक' पुस्तक का सब कुछ है।

उपर्युक्त रचना को हिन्दी साहित्य के कुछ लेखकों ने निर्वैयक्तिक आत्मचरित न मानकर सुधारवादी सोद्दश्य रचना माना है[64]। परन्तु विष्णुद्वय की मान्यता के अनुसार "पश्चिम में तो अपने को सहज रूप से मुक्त कर देने की परिपाटी है, लेकिन हमारे देश में नैतिकता और अनैतिकता का द्वन्द्व सदा लेखक को घेरे रहता है। .... इस तरह के अनेक चित्र इस जीवनी में देखने को मिल जाते हैं। वे केवल यह प्रमाणित नहीं करते कि इनके लेखन का उद्देश्य मात्र सुधारवाद है, बल्कि उनके अन्तर में जो घमासान मचता था वह इस तरह के कलात्मक चित्रों का स्वयं ही कारण बन जाता था। घोर अन्धकार में जैसे वह सौन्दर्य की ज्योतिर्मयी रेखाओं को स्पष्ट देख लेते हैं। निर्वैयक्तिक होना क्या इससे कुछ अलग होता है[65]।

हमारे विचार से अनासक्त भाव से अपनी आत्म कथा को लिखना ही निर्वैयक्तिंकता की कसौटी है। अनासक्ति की भावना के उदय होने पर अहं का विस्फोट लेखक की स्याही में गोता नहीं लगाता और जो कुछ लिखा जाता है, वह निर्वैयक्तिक ही होता है। अनासक्ति का यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि लेखक समाज के सन्दर्भो से कट जाए और वह ऐसी रचना का निर्माण करें जो शून्य में खो जाए। अतः हमारी दृष्टि में 'कल्याण मार्ग का पथिक' निर्वैयक्तिक रचना है। इसको स्वामी श्रद्धानन्द ने अनासक्ति की भावना से लिखा है। यह अनासक्ति भावना यहाँ तक पहुंची दिखाई देती है कि उसको जानने के बाद कुछ नहीं रह जाता।

यह आत्मकथा 1892 की घटनाओं के बाद समाप्त हो जाती है। अतः इसे अधूरी आत्मकथा माना जाता है। आत्मकथा के अधूरेपन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए स्वयं लेखक ने लिखा है

"पंजाब के समस्त आर्य समाजों की प्रतिनधि सभा का वार्षिक चुनाव था, जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा, सार्वजनिक जीवन हो गया और इसलिए अपनी जीवन–यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहाँ समाप्त करता हूं[66]।" कथ्य की दृष्टि से स्वामी श्रद्धानन्द ने इस आत्मकथा को पहिली मंजिल और दूसरी मंजिल कह कर दो भागों में बॉटा है। पहिली मंजिल आर्य समाज में प्रवेश से पूर्व की घटनाओं से सम्बन्धित हैं और दूसरी मंजिल में आर्य समाज में प्रवेश की घटनाओं का वर्णन है। पहली मंजिल की समाप्ति को हम तमस की समाप्ति का संकेत मान सकते हैं। इस संकेत को स्वयं लेखक के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है–

"मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्टि के आगे घूमने लगा और तब से पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ, परन्तु पराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिए उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँ। इस विचार से पूरा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि से एक और पर्दा उठा और यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाये शरीर में विभूति रमाये और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा जंचा मानो महात्मा कह रहे हैं– क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा। ऑखें मलीं। मूर्ति कहीं सामने न थी, परन्तु हृदय कॉप गया। मेरा कमरा सड़क की ओर था, गिलास उठाकर जो फैंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर–चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फैंकी, वह भी दीवार में टकरा कर टुकड़े–टुकड़े हो गई[67]।"

पुस्तक की दूसरी मंजिल सत्त्व की ओर बढ़ते कदमों की कहानी है। इसमें आर्य समाज के सम्पर्क से तमस का प्रभाव समाप्त होकर सत्त्व की प्राप्ति का निवारण है। इसीलिए स्वामी श्रद्धानन्द ने प्रथम मंजिल को अन्धकार और प्रकाश का युद्ध और दूसरी मंजिल को प्रकाश की क्रमशः विजय कहा है। इस प्रकार स्वामी जी वैयक्तिकता से निर्वैयक्तिकता की ओर अग्रसर होते हैं।

कथ्य के उपरान्त हम स्वामी जी की शैली के सम्बन्ध में भी विचार कर लें। सन् 1902 तक की स्वामी जी की रचनाओं के विषय में अपनी टिप्पणी देते हुए जोर्डेन्स ने लिखा है कि प्रायः स्वामी जी के लेख अपने समाचार पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' के लिए ही होते थे। इन्हीं लेखों ने उनकी शैली को एक ढ़ॉचा दिया। अपने चारों और फैले संसार के सम्बन्ध में लिखते हुए उनकी शैली एक सम्पादक जैसी होती थी। इसके साथ ही उनकी शैली में प्रचारक का रूप भी होता था जो कि अपने पाठकों को प्रभावित कर सके। मुंशी राम ने शैली के सम्बन्ध में तत्कालीन समाचार पत्रों के हथकण्डों को नहीं अपनाया था। उनके लेखन में शोध और साहित्य का अभाव था[68]।

जोर्डेन्स की मान्यता मात्र समाचार पत्र की शैली के सम्बन्ध में ही है। यदि उसने स्वामी श्रद्धानन्द की हिन्दी भाषा में रचित हमारे द्वारा साहित्यिक योगदान हेतु उद्धृत पुस्तकों का विशेष अध्ययन किया होता तो वे निश्चय से स्वामी जी की शैली के विषय में अपनी मान्यता को बदल देते। 'कल्याण मार्ग के पथिक' नामक रचना में शैली की दृष्टि से पुरुषों के बाह्य व्यक्तित्व के अंकन में स्वामी श्रद्धानन्द सिद्ध हस्त थे। बुद्धु भक्त के विषय में लिखते हुए– वे कहते हैं "कुछ लम्बा–दुबला बदन, चमड़े पर आबनूस का सा स्याह रोगन और पगड़ी श्वेत। क्या यह मूर्ति आकर्षक लगने वाली है? परन्तु ऑखों का तेज और लबों पर निरन्तर मुस्कराहट जले से जले दिल को भी शान्त कर देते हैं[69]।

चारों वेदों और बाल्मीकीय रामायण के अनुवादक क्विन्स कालेज बनारस के प्रिंसिपल ग्रिफिथ के बाह्य व्यक्तित्व के निरुपण में तो स्वामी जी ने ग्रिफिथ की टूटी टांग की तरह अपनी कलम तोड़ दी और लिखा–

"पॉच फीट से शायद एक–आध इंच ही लम्बें हो, परन्तु थे नख–शिख से दुरूस्त। जैसे वामन आप थे, वैसा ही बौना भृत्य आपको मिला हुआ था। उसने भी साहेब बहादुर के अनुकरण में गलमुच्छे

रखे हुए थे। ग्रिफिथ साहेब एक टांग से लंगड़े हो चुके थे। इसका कारण विचित्र था कवि ही तो ठहरे। टमटम इतनी ऊँची बनवाई कि जब एक सड़क से दूसरी सड़क की ओर घुमाने लगे तो गला तार में फंस गया और साहेब शेष जीवन पर के लिए लंगड़े हो गए। लंगड़ी टाँग की एड़ी जरा ऊँची रखवाते और ऐसी सावधानी से चलते कि देखने वालों को टाँग का व्यंग प्रतीत न होता[70]।''

बाह्य व्यक्तित्व के वर्णन की सिद्ध हस्तता का एक उदाहरण 'गाढ़ी कम्पनी' (मित्र मण्डली) के सदस्यों के विषय में इस प्रकार है– ''सिंह जी सांवले और लम्बे थे, दीवान जी नाटे और गोरे। सिंह जी दाढ़ी लम्बी, काली, दीवान जी की चौगिर्द भूरी, सिंह जी का मुख गम्भीर, दीवान जी का शरीर सुडौल, दृढ़ बडे हंसमुख, धार्मिक और दिल्लगीबाज[71]।'' इसी प्रकार हैड मास्टर मथुरा प्रसाद के बाहरी व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी लिखतें है–

''मथुरा प्रसाद मिश्र, जो अंग्रेजी में हस्ताक्षर करते एम0पी0एम0 लिखा करते थे, बनारस कालेज की विशेषताओं की जान थे। सर्व साधारण में उनका नाम था मथुरा मास्टर। उनकी आकृति विचित्र थी। लम्बाई छह फीट से भी कुछ सिर निकाले हुए, रंग सांवले से भी एक–आध पानी चढ़ा हुआ, शरीर के अंजर–पंजर गिन लो, सिर पर पण्डिताऊ पगड़ी, पैर में सफेद पायताबे पर हिन्दोस्तानी जूते, चढ़ी हुई धोती लम्बी छोड़े और अंगरखा के ऊपर बिना तह खोले दुपट्टा लटकाये, डग बढ़ाते जाते देखकर किसे विश्वास आ सकता था कि डॉक्टर वैलेन्टाइन से प्रसिद्ध भाषाशास्त्री, अपूर्व विद्वान के अपूर्व शिष्य बनारस कालेजिएट स्कूल के हैड मास्टर जा रहे हैं[72]।''

स्वयं अपने ही बाह्य व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं ''बनारस पहॅचते ही मैंने अपने जीवन की सारी गति बदल डाली। बलिया में तीन महीने के अन्दर ही मैं भोजपुरी बोली और हुकूमत के झकोलों से मस्त होकर ठाठ–बाट से सिंह–सरदारों की पोशाक पहनने लग गया था। स्कूल में प्रवेश के पन्द्रह दिनों पीछे ही हुकूमत का सारा नशा हिरन हो गया और विद्वानों के विद्यार्थी जीवन की कहानियॉ पढ़–पढ़ कर उनके अनुकरण की चेष्टा करने लगा। बांके दस्तारे का स्थान बनारसी दुपल्लिया टोपी ने लिया, शानदार लबादे के स्थान में अंगरखा पहिर लिया, दुपट्टा बॉकेपन का तिर्छापन छोड़कर गले का बना, चुस्त चूड़ीदार पाजामें का स्थान सीधे–सादे घुटन्ने ने लिया और चमकते हुए सल्मे–सितारों की जूती को ठोकर लगाकर लक्कड़ तोड़ बूट पैरों का श्रृंगार बना[73]।'' इसके अतिरिक्त वकील और मुंशी रूपकालंकार मानसिक स्थिति के चित्रण के लिए पर्याप्त है।

परिस्थितियों के छायांकन में भी स्वामी जी अचूक लेखक थे। उनका वर्णन चित्रों की भॉति स्पष्ट और परिस्थितियों की सही स्थिति का मुंह बोलता मानचित्र प्रस्तुत करता है। परिस्थितियों के चित्रण में स्वामी जी ने विभिन्न दृश्यों को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। अपने शराबी मामा की शराबी स्थिति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं–

''सायंकाल का समय था। मेरे छोटे मामू जो पुलिस में ही सवार थे, होली का मेला देखकर शहर से लौटे आ रहे थे। घोड़ी अटखेलियॉ करती चली आ रही थी। मेरी दृष्टि उन पर पड़ी तो विचित्र दशा देखी। पगड़ी गले में लटक रही थी, शरीर एक ओर झुक रहा था। गिरने को ही थे कि एक भृत्य ने उन्हें उतार लिया। दो आदमी आश्रय देते हुए पिताजी की कोठी के ऑगन में ले आए और चारपाई पर लिटा दिया। अन्य पुरुषों के बाहर जाते ही माता जी कमरे में से निकली। भाई को विचित्र दशा में बेहोश पड़े देखा, चिकन की कुड़ती और तनजेब का कुड़ता पारा–पारा है, पगड़ी धूल में लिपटी हुई है। मिट्टी और होली के लाल रंग के मेल ने विचित्र दृश्य बना रक्खा है। प्रातः जो मुख कमल की तरह खिला हुआ था, वह अब कुम्हला ही न गया डरावना प्रतीत होता है। हाथ–पैर चारपाई पर पटके जा रहे हैं। पान की राल मुंह से निकल कर दाढ़ी पर बह रही है और सारे शरीर से दुर्गन्ध फूट–फूट कर निकल रही है[74]।''

सुकेत में 17 दिन का वर्णन तो प्रायः प्राकृतिक छटाओं के मनमोहक दृश्यों से युक्त हैं। सिकन्दरे की चढ़ाई की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए स्वामी ने एक अजनबी की मानसिकता के दृश्य को उकेरते हुए लिखा है–

"यह सिकन्दरे की चढ़ाई कहाती है। मेरा सामान कुलियों की पीठ पर चला। थोड़ी देर ऊपर चढ़ते ही सारे पहाड़ श्वेत हिम से ढ़के हुए दिखाईदेने लगे। ज्यों–ज्यों ऊपर चढ़ता गया त्यों–त्यों दृश्य सुन्दर होता गया। यहाँ तक कि ऐसी ऊँचाई पर पहुंचा जहां हिम गिर रहा था। गरम कोट आदि पहन कर ऊपर से मैंने धुस्सा ओढ़ लिया। मैंने समझा था कि बर्फ की वर्षा के समय सर्दी ज्यादा होगी, लेकिन हालात दूसरी ही नजर आई। धुस्सा झाड़ कर बर्फ को नीचे फैंक दिया और हांडी की ओर हाथ बढ़ाया क्योंकि भूख बहुत चमक उठी थी। बर्फ गिरने से कैसी भूख लगती है, यह बिना अनुभव के पता नहीं लग सकता। कहारों के पॉव हिम पर पड़कर उसकी स्वच्छता को बिगड़ते देख मैं सहन न कर सका। यद्यपि मेरे पैर पड़ने से भी हिम की स्वच्छ–साफ चादर मैली होती थी परन्तु वह मेरी दृष्टि से पीछे रह जाती थी[75]।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट पता चलता है कि 'कल्याण मार्ग के पथिक की' शैली इति वृत्तात्मक न होकर ध्यान आकर्षित करने वाली रस वृत्तात्मक शैली है। इसी शैली को सून्दर्भित करते हुए स्वामी जी ने प्रस्तावना में लिखा है "कुछ स्थलों में घटनाओं का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि शायद उनको कल्पनात्मक उपन्यास समझा जाय, परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि सच्ची घटनाएं कभी–कभी उपन्यास को भी मात कर देती है[76]।"

साहित्यिक दृष्टि से स्वामी जी रचित 'बन्दी घर के विचित्र अनुभव' भी अपना विशेष स्थान रखता है। यह पुस्तक एक प्रकार से स्वामी जी की जीवनी का ही एक भाग है। अतः 'कल्याण मार्ग का पथिक' की कोटि में यह आती है। इस पुस्तक में स्वामी ने विवरणात्मक और वर्णनात्मक दोनों ही शैलियों का आश्रय लिया है। इस पुस्तक में भी परिस्थितियों को पकड़कर विशेष दृश्यों का जीवन्त रूप प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के दृश्यों में 'कारण्टीन गृह' का वर्णन यहॉ प्रस्तुत किया जाता है–

"जिस गृह की निचली कोठरी में मैंने रात काटी, उसका कारण्टीन है। सत्रह पिंजरेनुमा कोठरियां नीचे और इतनी ही ऊपर हैं। उससे आठ–दस कदम की दूरी पर जेल की पिछली बड़ी दीवार है। कारण्टीन के ठीक मध्य, इमारत और दीवार के ठीक बीचों–बीच पाखाना है। पांच बजे खुलने की घंटी बजी फिर पौने छः बजे रोटी बॉंटने की। पाखाने में केवल छः आदमियों के लिए पीठ से पीठ जुड़ी हुई, बैठने की जगह, ईटों की खुड्डी भी नदारद और पर्दा ऐसा, जैसा भंग पीने वाले पुत्र ने पिता की आँख बचाने के लिए तिनके का कर लिया था। इस पाखाने में 35 कारण्टीन के और 52 छौलदारियों वाले कैदियों को निवृत्त होना होता था। फिर दो तीन लम्बरदारों और उतने ही चपरासियों का भी इसी पर निर्वाह था। नहाने का तो उस समय नाम लेना ही पाप। घंटी बजी और अपना–अपना लोहे का दो–ढ़ाई आने मूल्यवाला

(दरोगा जी ने यही मूल्य बतलाया था) बाटा हाथ में लिए कैदी पंक्ति में उकडू बैठने लग गए। कोई भाई अभी पाखाने में बैठा ही है कि एक पठान लम्बरदार ने पकड़कर उसे गर्दनिया दी। वह गरीब आबदस्त लेकर ही पंक्ति में बिना बाटे के बैठ गया और उस अध कच्ची जली हुई रोटी पर ही दाल डलवाकर खाने लगा। यदि उस समय इस उत्तम भोजन को खाना शुरू न करे तो दिन भर भूखा रहे और घेलुए (पंजाबी रूंगे) में उसे शायद पांच–सात दिन के लिए डंडा–बेड़ी भुगतनी पड़े[77]।

सी क्लास के कैदियों की उपर्युक्त दयनीय और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का वर्णन करने के पश्चात् स्वामी जी ने लिखा 'जेल मैनुअल मात्र दिखावा है।"

आत्म कथा में अनासक्त रहकर अपने को खोलना पड़ता है परन्तु जीवन चरित्र'में दूसरे के व्यक्तित्व को खोलने का प्रयास होता है। अतः आत्मचरित की तुलना में जीवन चरित्र लिखना अधिक कठिन है। स्वामी जी की मान्यता के अनुसार जीवन चरित्र में लेखक अपने विचारों और क्रम के अनुसार घटनाओं को अपनी भाषा में लिखकर, अपने निष्कर्ष निकाला करता है। अपनी इसी मान्यता की छाया में स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्य मुसाफिर पं0 लेखराम एवं पं0 आत्माराम अमृतसरी द्वारा लिखित 'महर्षि दयानन्द के जीवन चरित्र' (उर्दू) को स्वरुप की दृष्टि से सही नहीं माना है और लिखा है कि "उसे न तो" बायोग्राफी (व्यक्तिगत जीवनवृत्त) ही कह सकते हैं न ही इसे केवल आर्य समाज का इतिहास ही कहा जा सकता है[78]। स्वामी जी ने 'सच्चे जीवन चरित्र के स्वरूप' को पुस्तक में किस प्रकार प्रतिष्ठित किया जाये इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है–

"जीवन चरित्र लिखने को भी योरुप (यूरोप) की अन्वेषक जातियों ने कहीं अब समझा है। पूर्वकाल में योरुप में भी जीवन चरित्र का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत मनोरंजन समझा जाता था और इसलिए तिथियों और साधारण घटनाओं की ऐसे ग्रन्थों में भरमार होती थी, परन्तु उन्नति पथगामी योरुप ने अब निश्चय कर लिया है कि महान पुरुषों के जीवन–चरित्र केवल उन बड़ी–बड़ी घटनाओं का संग्रह है जिन्होंने कि मनुष्य–समाज के आचरणों में कोई विशेष प्रकट क्रान्ति उत्पन्न कर दी हो[79]।"

उपर्युक्त विचारों को ध्यान में रखते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्य मुसाफिर पं0 लेखराम का जीवन चरित्र लिखा। पं0 लेखराम उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से थे, जिन्हें स्वामी दयानन्द के समीप रहने का सौभाग्य मिला था। पं0 लेखराम ने अपने अनवरत प्रचार कार्य से आर्य समाज को जीवन्त शक्ति का प्रतीक बना दिया था। अतः उनका जीवन चरित्र मनोरंजनार्थ न होकर आर्य समाज को प्रचार और लेखन की दिशा में क्रान्तिकारी पग उठाने का सन्देश देने वाला था।

स्वामी श्रद्धानन्द रचित 'आर्य पथिक पं0 लेखराम' नामक पुस्तक की भाषा चुस्त और दुरुस्त होने के साथ उर्दू शैली के बॉकपन को लिए हुए है। लेख राम के बचपन के सम्बन्ध में लिखते हुए ये कहते हैं "इस समय से पहले ही लेखराम को कुछ तुकबन्दी का भी शौक हो चला था और फारसी तथा उर्दू के अतिरिक्त पंजाबी में भी तबीयत लड़ाया करते थे[80]। यहाँ 'तबीयत लड़ाना' एक खास पैनेपन को लिए हुए है। इसी प्रकार पुलिस नौकरी को छोड़ने के सन्दर्भ में लिखा है कि संवत् 1937 में फिर से वैराग्य की लहर उठी जिसने मुलिस की हुकूमत और सांसारिक ऐश्वर्य का नशा हिरन कर दिया। यहाँ भी 'हिरन होना' उर्दू का मुहावरा है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से निकली अन्तिम साहित्यिक कृति हिन्दी भाषा की शैली से रहित है। लेखराम द्वारा स्वामी दयानन्द के जीवन चरित्र सम्बन्धी कार्य करने के प्रसंग में हमें हिन्दीभाषा की शैली का उदाहरण इस प्रकार मिलता है–

"ऋषि दयानन्द का अन्त्येष्टि संस्कार हुये साढ़े चार वर्ष व्यतीत हो चुके थे। विभिन्न आर्य जनता की ओर से भी ऋषि के जीवन चरित्र की माँग पर माँग आ रही थी। टका साधने वालों ने साधारण लेख छापकर ऋषि के जीवन को संदिग्ध बनाना भी आरम्भ कर दिया था। सांसारिक विभूतियों पर लात मारने वाले योगी को सिद्धियों का साधक बताना और मनुष्य पूजा की जड़ पर कुल्हाड़ी रखने वाले ईश्वर भक्त को पूज्य अवतार बतलाना आरम्भ हो गया था, और आर्य समाजियों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती थी। ऐसे समय में मुलतान आर्य समाज ने अपने 12 एप्रिल, सन् 1888 के अधिवेशन में सम्मति दी कि पण्डित लेखराम को स्वामी दयानन्द के जीवन–सम्बन्धी वृत्तान्त इकट्ठा करने के लिए नियत किया जाय[81]।"

इस प्रकार यह पुस्तक मिश्रित शैली में लिखी गई है। मिश्रित शैली अपनाने में स्वामी श्रद्धानन्द की भावना यह थी कि पं0 लेखराम उर्दू की कलम के माहिर थे, अतः उर्दू शैली के माध्यम के उनके व्यक्तित्व को पहचाने में आत्मीयता दिखाई पड़ती थी, परन्तु वे आर्य समाज के लिए समर्पित थे, अतः उनकी जीवन कथा को हिन्दी शैली में प्रस्तुत करना भी उनके साथ न्याय था। जीवन–चरित्र लेखन में स्वामी जी ने लेखक के दायित्व को समझते हुए निष्पक्ष होकर लेखराम के चरित्र के गुण औरदोषों की विवेचना की हैं। इसी कारण यह जीवन चरित्र पंगु और बौना न रहकर एक आदर्श जीवन चरित्र बन गया है।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी स्वामी श्रद्धानन्द का अमिट योगदान है। पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वामी जी का पहला कदम उर्दू भाषा में 'सद्धर्म प्रचारक' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र की स्थापना (19 फरवरी, 1889) से उठा। यह पत्र धार्मिक क्षेत्र में आर्य समाज के प्रचार और प्रसार का पोषक था, तो राजनीति क्षेत्र में यह तिलक युग के विचारों का अनुयायी था। आर्य समाज के प्रचार के कारण आपत्तिजनक लेख लिखने के कारण इस समाचार पत्र पर पहला मानहानि का मुकदमा 1901 ई0 में चला। उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का अपना कोई समाचार पत्र नहीं था, अतः यही पत्र सभा का मुख्य पत्र भी माना जाता था। पाठकों की दृष्टि से इसकी ग्राहक संख्या भी उत्साहवर्धक थी। पंजाब प्रतिनिधि सभा के आन्तरिक कलह के कारण स्वामी श्रद्धानन्द पर अनेक आरोप लगाये गए। इन आरोपों का उत्तर स्वामी जी ने 1906 ई0 में 'दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ' नामक पुस्तक लिखकर दिया। स्वामी जी के मन में यह आशंका भी उत्पन्न हो गई थी कि उनके निजी समाचार पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' की भाषा के सम्बन्ध में भी आपत्ति उठाई जा सकती है। स्वामी जी की यह आशंका सत्य सिद्ध हुई। एक दिन किसी ने व्यंग्य करते हुए कहा "स्वामी दयानन्द के अनुयायी होकर पत्र उर्दू में निकालते हो"। व्यंग्य मन में कचोट कर गया और 1 मार्च, 1907 से 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। हिन्दी में प्रकाशित ग्राहक संख्या घटी और स्वामी जी को आर्थिक हानि उठानी पड़ी। इस आर्थिक हानि की भरपाई इस सन्तोष के कारण हो गई कि पत्र के हिन्दी में निकलने पर पुराने पाठकों ने हिन्दी भाषा सीखनी आरम्भ कर दी। पंजाब के हिन्दी साहित्य सेवी लेखक सन्तराम बी0ए0 ने अपने संस्मरण में लिखा है–

"स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा है। उन्होंने मेरे जीवन में बहुत बड़े ज्योति–स्तम्भ का कार्य किया है। उनकी कृपा से ही मैंने हिन्दी लिखना–पढ़ना सीखा। मैं उनके उर्दू पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को बड़े प्रेम से पढ़ा करता था। स्वामी जी ने जब उसे उर्दू में बन्द कर हिन्दी में निकालना आरम्भ किया तो मुझे भी प्रेम से विवश होकर उसे पढ़ने के लिए हिन्दी सीखनी पड़ी। मेरी ही तरह अन्य बहुत से भाइयों ने 'सद्धर्म प्रचारक' पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी थी। मैं मानता हूं कि यह उनका मुझ पर एक बहुत बड़ा उपकार था[82]।"

सन् 1911 ई0 में यह पत्र दैनिक रूप में प्रकाशित होने लगा। 'सद्धर्म प्रचारक' गुरूकुल से ही निकलता था, अतः स्वाभाविक था कि वहां के छात्रों पर पत्रकारिता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। ब्रह्मचारियों में इस कला के प्रति इतना उत्साह उत्पन्न हो गया था कि गुरुकुल के वार्षिक उत्सवों पर हस्त लिखित पत्रिकाएँ निकालने लगे थे। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वामी श्रद्धानन्द की दूसरी देन 'श्रद्धा' नामक पत्रिका है। इस पत्रिका की लिपि और भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए स्वामी जी ने लिखा था "मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और मनुष्य के लिए स्वाभाविक समझता हूँ। इसलिए इस 'श्रद्धा' के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा यात्रा पर भेजा करुँगा[83]।"

इस प्रकार संक्षिप्त सर्वेक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की है। स्वामी जी के समस्त कार्य कलापों के आकलन में शायद 'साहित्य साधना वाला प्रसंग स्वामी जी के जीवन चरित्र के रजत पट पर भद्दी थेगली लगाने के समान प्रतीत हो। लेकिन हमारी मान्यता है कि यदि गुरुकुल कांगड़ी स्वामी श्रद्धानन्द की विजय का 'विश्वकप' है तो उनकी रचनाएं वे 'स्वर्ण पदक' हैं जो उन्होंने भारतीय भूमि पर जीते हैं।

भारत का भावी सुख हिन्दू-मुस्लिम एकता में है

स्वामी श्रद्धानन्द के हिन्दू–मुस्लिम एकता सम्बन्धी विचारों को अन्तिम रूप में जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि उनकी धार्मिक पृष्ठभूमि का सिंहावलोकन कर लिया जाये। स्वामी ने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक अपनी आत्मकथा में हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रतिपादन में एक स्थान पर कुछ लिखा है। शेष पुस्तक में सनातनी पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ, हिन्दुओं में अछूत समझी जाने वाली जातियों की शुद्धि के विषय में ही अधिक वर्णन है। परन्तु हमें उनकी रचना 'आर्य पथिक पण्डित लेखराम' में आर्य समाजियों का मुसलमानों से टकराव सर्वत्र बिखरा दिखाई पड़ता है। इन्हीं विचारों के सूत्रों को पकड़कर यह कहा जा सकता है कि स्वामी श्रद्धानन्द मुहम्मदी धर्म को वैदिक धर्म (आर्य समाज) के प्रचार और प्रसार में सबसे बड़ा बाधक मानते थे। सन् 1982 से 1986 तक स्वामी जी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान रहे और मुहम्मदी मत के खण्डन का कार्य उन्ही की देख–रेख में होता रहा। सन् 1896 ई0 में स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने भाषण में मुसलमानों की बुत और पीर परस्ती की आलोचना की थी। इस व्याख्यान की घटना का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं–

"वजीराबाद (पाकिस्तान) के इस वार्षिक उत्सव में मैं सम्मिलित था। पहले दिन पण्डित लेखराम जी का व्याख्यान प्रातःकाल के समय विभाग में छपा हुआ था, परन्तु राजा सर अताउल्ला और उसके परिवार के सम्मिलित होने के कारण उस समय मुझे खड़ा किया गया। न जाने मुसलमान भाई पण्डित लेखराम से क्या आशा रखते थे कि मेरे व्याख्यान को सुनकर विस्मित हो गए। उनकी समझ में न आया कि आर्य मुसाफिर क्यों ऐसा जन–प्रिय तथा शान्तिवर्धक व्याख्यान देता है। मेरा विषय ईश्वर प्राप्ति था और मैंने उसमें मुहम्मदी बुत और पीर परस्ती की खबर ली थी, श्रोतागण को निश्चय हो गया कि पण्डित लेखराम ही बोल रहे हैं[७४]।"

इस प्रकार मुसलमानों की दृष्टि में स्वामी श्रद्धानन्द एक कट्टर हिन्दू और मुहम्मदी धर्म के विरोधी के रूप में उभर कर आए। इसके साथ ही राजनीति के क्षेत्र में स्वामी जी ने प्रत्यक्षतः देख लिया था कि कांग्रेस पार्टी के नेता हिन्दू हितों की उपेक्षा करके मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अपना रहे हैं। इस तुष्टीकरण की नीति से मुसलमानों का हृदय परिवर्तन तो नहीं हुआ, अपितु उनकी माँगें ही बढ़ती रही। यह माँगें यहाँ तक भी बढ़ीं कि हिन्दी के स्थान पर उर्दू को राष्ट्रभाषा के रूप में यदि कांग्रेस मान ले तो मुसलमान उसका साथ देने के लिए तैयार हैं।

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू–मुस्लिम विवाद को कम करने के लिए 1916 ई0 में हुए कांग्रेस अधिवेशन में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व देने के प्रस्ताव में सकारात्मक भागीदार होने के कारण स्वामी जी ने हिन्दू मुस्लिम एकता की ओर प्रथम बार हाथ बढ़ाया।

शुद्धि का कार्य हिन्दू–मुस्लिम एकता में बाधक है, यह विचार राजनैतिक क्षेत्र में जोर पकड़ता जा रहा थां। सन् 1924 के मध्य में स्वामी श्रद्धानन्द के मन और मस्तिष्क में मुसलमानों द्वारा चलाये जा रहे आर्य समाज और स्वयं स्वामी के विरुद्ध प्रचार से हलचल मच गई। अतः उन्होंने 'हिन्दू–मुस्लिम

एकता की कहानी' नामक छोटी सी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में यह दर्शाया गया कि किस प्रकार सर सैयद अहमद खां के प्रयासों से भारतीय शासक अंग्रेज, हिन्दुओं के विरुद्ध हुए। किस प्रकार सर सैयद अहमद ने हिन्दी के विरुद्ध उर्दू को स्था!पित करने का प्रयास किया। किस प्रकार उसने मुसलमानों को कांग्रेस से काट कर मुस्लिम लीग की स्थापना (1905) में सहयोग दिया। प्रथम विश्व युद्ध (1914–18) की समाप्ति पर रौलट एक्ट और खिलाफत आन्दोलन ने हिन्दू–मुसलमानों को परस्पर सहयोग करने के लिए अवसर प्रदान किया। लेकिन मोपला काण्ड ने इस एकता के प्रयास को गुड़ गोबर कर दिया।

स्वामी श्रद्धानन्द की हिन्दू–मुस्लिम एकता की विचारधारा को लेकर हिन्दू तथा मुसलमानों में परस्पर विरोधी वक्तव्यों का अम्बार लगा हुआ है। हिन्दू (आर्य समाजी) स्वामी जी को एकता के सूत्रधार मानते हैं। डा0 धर्मपाल (वर्तमान कुलपति गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) ने तो 'एकता के सूत्रधार' शीर्षक से स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन चरित्र भी लिखा है। वे तो इस सीमा तक लिख गए है कि "स्वामी जी एकता के सूत्रों के अन्तर्गत ही अछूतोद्धार को मानते थे"[85]। ईस्वी सन् 1923 में बकरीद के समय हिन्दुओं को शान्त रहने के लिए जो अपील स्वामी श्रद्धानन्द ने की थी, उसका उल्लेख करते हुए गुरुकुल के स्नातक सत्यदेव लिखते हैं कि स्वामी जी ने अपने सन्देश में कहा–

'दिल्ली के हिन्दुओं! तुम्हारा धर्म प्रेम और उदारता की शिक्षा देता है। बकरीद पर इस बात की परीक्षा है कि तुम कहाँ तक धर्म को समझते हो। छोटी–मोटी बातों पर अड़ना कायरता है। तुम्हें चाहिये कि गम्भीर रहो और मुसलमान भाइयों की सद्बुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करो[86]।"

इसी प्रकार का एक सन्देश 1925 ई0 के ईद के त्यौहार के अवसर पर मुसलमान–हिन्दु दोनों को देते हुए स्वामी जी ने कहा था–

"परमात्मा सारे संसार का पिता है। यदि तुम्हें इस पर विश्वास है तो प्राणीमात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये और मनुष्य मात्र को तो भाई समझना चाहिये। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिनों तक अपने अमन से दोगे। आज मुसलमान स्त्री–पुरूष, बाल–वृद्ध, युवा नये कपड़े पहिन कर एक अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे है। क्या वह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गई है? यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यौहार पर हिन्दुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे। मेरे हिन्दू भाइयों! आज तुम्हें भी भ्रातृ–भाव का स्पष्ट प्रमाण देना है। परमात्मा की उपासना में अपने मुसलमान भाइयों को निमग्न देख कर प्रसन्नता से उन्हें आशीर्वाद दो। यदि तुम्हारी आँखों के आगे से कुर्बानी के लिये गोमाता जाती हो तो क्रोध और द्वेष का लेश भी अपने अन्दर न आने दो, प्रत्युत परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करो कि वह परमपिता उनकी बुद्धियों को प्रेरणा करें, जिससे स्वयं गोमाता की रक्षा का भाव उनमें उत्पन्न हो। तुम्हारे भाई भूल से गोवध को स्वर्ग का साधन समझ रहे हैं। उन पर क्रुद्ध होकर और उनसे घृणा दिखाकर उन्हें अधिकतर गोघात की ओर प्रवृत्त करके दूने पाप के भागी न बनो। जितना तुम सहन करोगे और मुसलमान भाइयों को प्रेम का मार्ग दिखाओगे, उतना ही भगवान तुम पर कृपा करेंगे[87]।"

उपर्युक्त सन्देश के सन्दर्भ में लेखक ने अपना निर्णय देते हुए कहा "जिस हृदय से ऐसे शब्द निकल सकते थे, उसमें मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष कहाँ रह सकता है।

स्वामी श्रद्धानन्द कल्याण मार्ग का पथिक (1924) में क्वीन्स कालेज बनारस के फारसी–अरबी के अध्यापक का स्मरण करते हुए हिन्दू मुस्लिम एकता के सम्बन्ध में लिखते हैं कि–

"अपने मौलवी साहेब के पैतृक प्रेम का जब स्मरण आता तो अब भी दिल भर आता है और हिन्दू–मुसलमानों के झगड़ों को देखकर बड़ा कष्ट होता है। जिस पवित्र भूमि ने दोनों को जन्म दिया, जिसके अन्न–जल से उन्हें पाला, जिस गंगा के शीतल जल ने शान्ति देने में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई में कोई भेद नहीं किया, उस मातृभूमि के पुत्र आपस में लड़–झगड़ कर माता को सताते हैं, यह कैसे कष्ट की बात है[६८]।"

गुरूकुल कांगड़ी के भूतपूर्व कुलपति और स्वामी जी के पुत्र इन्द्र ने सन् 1926 ई0 के गोहाटी–कांग्रेस अधिवेशन के सन्दर्भ में लिखते हुए कहा है कि कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष का सन्देश भेजने के संबंध में निजी पत्र आते ही उन्होंने अपना सन्देश भेजते हुए कहा "भारत का भावी सुख हिन्दू'मुस्लिम एकता पर आश्रित है।" इस सन्देश के विषय में वे लिखते हैं– "स्नातक होने के पश्चात् लगभग 16 वर्ष तक पिता जी के निरन्तर समीप रहने पर मुझे जो अनुभव हुआ उसके आधार पर कह सकता हूं कि उपर्युक्त सन्देश पिता जी की अन्तरात्मा का सन्देश था। वे हिन्दू–मुस्लिम एकता के कट्टर पक्षपाती थे, परन्तु साथ ही उनका यह भी विश्वास था कि वह एकता तब तक जन्म नहीं ले सकती, जब तक हिन्दू जाति के निर्बल हिन्दू सबल मुसलमानों के मित्र नहीं बन सकेंगे। इस कारण वे हिन्दुओं को मुसलमानों के समान मित्र बनाने के पक्षपाती थे। उनके हिन्दू संगठन का अभिप्राय मुस्लिम विरोधी नहीं था, अपितु जाति के आन्तरिक दोषों को दूर करना था[६९]।"

अब तक हमने ऐसे विचारों को उपस्थित किया है जो स्वामी को हिन्दू–मुस्लिम एकता का प्रतिपादक बताते हैं लेकिन ऐसे विचारों की भी कमी नहीं जो स्वामी जी को एकता की समस्या को सुलझाने में सबसे बड़ा बाधक मानते हैं। इस प्रकार के विचार रखने वालों में महात्मा गांधी के अतिरिक्त प्रत्येक कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी मुसलमान हैं। वे उन्हें पक्का हिन्दू पक्षपाती मानते थे। गांधी जी के विचार अछूतोद्धार के प्रसंग में पिछले पृष्ठों में दिये जा चुके हैं। दिल्ली की एकता कांफ्रेंस में मुसलमान प्रतिनिधियों की प्रतिक्रिया भी लिखी जा चुकी है। इस सम्बन्ध में डा0 गंगाराम, भूतपूर्व रजिस्ट्रार एवं अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग गुरूकुल कांगड़ी ने एक लेख में लिखा है कि 1923 के साम्प्रदायिक दंगों के कारणों की जांच के लिये कांग्रेस ने एक समिति बनाई थी। समिति के अध्यक्ष पं0 मोतीलाल नेहरू बनाये गये थे और उसके सदस्यों में से एक सदस्य मौलाना अ़ब्दुल कलाम आजाद थे। इस समिति ने रिपोर्ट दी कि हिन्दू–मुसलमानों के दंगे के कारण हैं– स्वामी श्रद्धानन्द[७०]।

'हिन्दू मुस्लिम एकता' के प्रश्न में स्वामी श्रद्धानन्द की भागीदारी रही इस सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष देते हुए जोर्डेन्स लिखते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द ने मुसलमानों के विरूद्ध जो कुछ लिखा प्रायः वह मुसलमानों द्वारा हिन्दुत्व पर क़िये गये आक्रमणों के प्रत्युत्तर में था। स्वामी जी के प्रत्युत्तरों से साम्प्रदायिक तनाव बढ़ा, जबकि स्वामी जी की भावना उसको बढ़ाने की नहीं थी। फिर क्यों ऐसा समझा गया कि स्वामी जी साम्प्रदायिक तनाव के कारण हैं ? इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द इस बात पर ध्यान नहीं देते थे कि उनके शब्दों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा? जब वे किसी विचार की सत्यता के विषय में सुनिश्चित हो जाते थे, तो स्पष्ट रूप से उसे कह डालते थे[७१]।"

हमारी मान्यता के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द का हिन्दू–मुस्लिम एकता का प्रयास एक पक्षीय था। दूसरे पक्ष वालों (मुसलमानों) ने कभी भी पुरजोशी के साथ स्वामी जी की ओर अपना हाथ नहीं बढ़ाया। यदि कभी हाथ बढ़ाया भी तो परिस्थितियों के वशीभूत होकर। परिस्थितियां नदारद तो एकता का हाथ भी नदारद। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने भी हिन्दू–मुस्लिम एकता के बाधक कारणों पर कभी गम्भीरता से चिन्तन नहीं किया। स्वामी जी को एकता में गतिरोधक मानकर कांग्रेस का उन पर दोषारोपण करना अन्याय था। दोनों धर्मों के अनुयायियों की मानसिकता में आकाश–पाताल का अन्तर था। हिन्दू धर्म

सहनशीलता के कारण जब तक आकण्ठ दबाया न जाए, तब तक विरोध को पलीता नहीं लगाता। दूसरी ओर मुसलमान धर्म के अनुयायी सहज ही उत्तेजित होकर विवाद खड़ा कर देते हैं। मुसलमानों का अपराध होने पर भी हिन्दुओं को दबाया जाता था। यह दबाया जाना स्वामी श्रद्धानन्द को अखरता था। इसके अतिरिक्त मुस्लिम धर्म में काफिरों की हत्या करना भी एक स्वीकृत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का पालन हिन्दुओं को मारकर ही पूरा किया जा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द इस प्रकार के सिद्धान्त के विरोधी थे। तत्कालीन किसी भी भारतीय राजनैतिक पार्टी ने इस प्रकार के सिद्धान्त के विरोध में अपने मंच से आवाज नहीं उठाई। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस अधिकार को बलपूर्वक चुनौती दी, तो उन्हें एकता में बाधक कहा जाने लगा। कांग्रेस ने मुसलमानों के 'तबलीग' (शुद्धि) आन्दोलन के विषय में चुप्पी साधे रखी और उसके प्रतिकार में स्वामी द्वारा शुद्धि आन्दोलन चलाने पर साम्प्रदायिकता का ठप्पा लगा दिया। इस प्रकार स्वामी जी को बलात् विरोधी चित्रित किया।

हिन्दू संगठन के धर्माचार्य

स्वामी जी जो कुछ थे, बाहर–भीतर एक थे। छद्म उन्हें ओढ़ना आता नहीं था। उनका अपना आदर्श था। इसी आदर्श से प्रेरित होकर उन्होंने सन् 1924 ई0 में मुसलमानों की गतिविधियों से हिन्दुओं को सावधान करते हुए 'हिन्दुओं सावधान, तुम्हारे दुर्ग पर रात्रि में छिप कर धावा बोला गया', (हिन्दी) 'अन्धा एतकाद और खुफिया जिहाद', 'मुहम्मदी साजिश का इन्कशाफ' और 'दाइये इस्लाम' (तीनों उर्दू) पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार स्वामी जी हिन्दुत्व के अखाड़े के खलीफा माने जाने लगे। खलीफा ने घोषणा की–

"हिन्दुओं में प्रचलित अस्पृश्यता का अभिशाप उनके सम्मान पर बट्टा है और उनके इस पाप का दुष्परिणाम सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र भुगत रहा है। जब कभी हमारे राजनैतिक नेता स्वराज्य की मांग प्रस्तुत करते हैं, तो उनके सामने उनके पापों को रखकर उनका मुँह बन्द कर दिया जाता है। जो लोग अपने ही समाज के एक–तिहाई लोगों को गुलाम बनाए हुए हों और उन्हें पैरों तले कुचल रहे हों, उन्हें विदेशियों द्वारा किये गये अत्याचारों के विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं।"

हमने इस पुस्तक में पिछले पृष्ठों में लिखा है कि 1923–26 के काल में स्वामी श्रद्धानन्द धर्माचार्य के रूप में उभर कर आते दिखाई पड़ते हैं। इस बात की पुष्टि स्वामी जी द्वारा अंग्रेजी में लिखी 'सेवियर आफ दा डाईंग रेस' नामक पुस्तक से भी होती है। इस पुस्तक का 'हिन्दू संगठन' नाम से हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। यह पुस्तक "राष्ट्र के उद्धार की राह को दिखाने के लिए एक प्रयत्न है," ऐसी मान्यता लेखक ने प्रकट की है। लेकिन सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी न रहकर एक धर्माचार्य के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। हमें यह पुस्तक एक धर्माचार्य का 'घोषणा पत्र' प्रतीत होता है। इस घोषणा पत्र के प्रथम प्रकरण में हिन्दू जाति की विनाशोन्मुखता के उद्धरण 'जनगणना' रिपोर्ट 1911 ई0 के आधार दिए गए हैं, और पतन के कारणों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् अगले प्रकरणों में मुसलमान तथा ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं को बलात् अथवा अन्य उपायों से धर्म परिवर्तन के लिये किए गए प्रयासों का वर्णन है। इसके पश्चात् वैदिक वर्ण व्यवस्था का भंग, बाल विवाह एवं स्त्री–समाज का निरादर आदि को हिन्दुत्व के पतन के कारणों में गिनाया गया है।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने धर्माचार्य के रूप में 'हिन्दू संगठन' के लिये कुछ सक्रिय सुझाव प्रस्तुत किए हैं। इन सुझावों को हम स्वामी जी अपनी भाषा में प्रस्तुत करते हैं–

"स्वभावतः अब यह प्रश्न उठता है कि 'हिन्दू संगठन' की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रथम पग क्या उठाया जाय? मैंने अपने सम्पूर्ण भारत के भ्रमण में यह अनुभव किया है कि आज के शिक्षित एक

दूसरे से मिलने के लिए नितान्त उदासीन रहते हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि उनके पास मिलने के लिए तथा सभा आदि के आयोजन के लिए कोई सार्वजनिक स्थान नहीं है। उनके जातिगत मन्दिरों में इतना भी स्थान नहीं कि वहाँ सौ या दो सौ व्यक्ति इकट्ठे बैठ जाएं। दिल्ली में जामा मस्जिद और फतहपुरी मस्जिद को छोड़कर, जहाँ कि 25 से 30 हजार मुस्लिम श्रोता एक साथ बैठ सकते हैं, और भी यहाँ पुरानी मस्जिदें विद्यमान हैं जहाँ कि हजारों की संख्या में लोग एक साथ बैठ सकते हैं। परन्तु हिन्दुओं के लिए केवल मात्र एक ही लक्ष्मी नारायण की धर्मशाला है जहाँ पर कि कठिनाई से 8 सौ व्यक्ति बैठ कर बन्द स्थान में अपनी सभा कर सकते है। इस पर भी विशेषता यह है कि मुसलमानों की प्रत्येक सभा नितान्त शब्द शून्य होती है, जबकि धर्मशाला में यात्रियों के शोर के कारण वक्ताओं की आवाज कठिनाई से सुनाई देती है।

इस कारण मेरा प्रथम सुझाव यह है कि प्रत्येक नगर और शहर में एक हिन्दू राष्ट्र–मन्दिर की स्थापना अवश्य की जानी चाहिए जिसमें एक साथ 25 हजार व्यक्ति एक साथ समा सकें और उन स्थानों पर प्रतिदिन भगवद् गीता, उपनिषद्, रामायण और महाभारत की कथा होनी चाहिए। इन राष्ट्र–मन्दिरों का प्रबन्ध स्थानीय सभा के हाथ में रहना चाहिए और वह इन स्थानों के अन्दर अखाड़े, कुश्ती, गतका आदि खेलों का भी प्रबन्ध करे। जबकि हिन्दुओं के विभिन्न साम्प्रदायिक मन्दिरों में उनके इष्ट देवताओं की पूजा होगी, उन उदार हिन्दू मन्दिरों में तीन मातृशक्तियों की पूजा का प्रबन्ध होना चाहिए और वे हैं–

(1) गोमाता, (2) सरस्वती माता और (3) भूमि माता।

वहां कुछ जीवित गौएं रखी जानी चाहिएं जो कि हमारी समृद्धि की द्योतक हैं, उस मन्दिर के प्रमुख द्वार पर गायत्री मन्त्र लिखा जाना चाहिए जो कि प्रत्येक हिन्दू को उसके कर्तव्य का स्मरण करवायेगा तथा अज्ञान को दूर करने का सन्देश देगा, और मन्दिर के प्रमुखद्वार पर भारतमाता का एक सजीव नक्शा बनाना चाहिए, इस नक्शे में उसकी विशेषताओं को विभिन्न रंगों द्वारा प्रदर्शित किया जाय और प्रत्येक भारतीय बच्चा प्रतिदिन मातृभूमि के सम्मुख खड़ा होकर उसे नमस्कार करे और यह प्रतिज्ञा दोहराये कि वह अपनी मातृभूमि को उसी प्राचीन स्थान पर पहुँचाने के लिये प्राणों तक की बाजी लगा देगा जिस स्थान से उसका पतन हुआ था[७२]।''

उपर्युक्त सन्दर्भ से हमें यह भी विदित होता है कि धर्माचार्य बनने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी वैदिक मान्यताओं में भी ढ़ील देना स्वीकार कर लिया था। वेदों के प्रवचनों को छोड़कर उन्होंने उपनिषद, गीता, रामायाण और महाभारत की कथा बांचने पर जोर दिया। हिन्दुओं के विभिन्न साम्प्रदायिक मन्दिरों में उनके इष्ट देवताओं की पूजा की स्वीकृति देकर अप्रत्यक्ष रुप से मूर्तिपूजा का समर्थन किया। धर्माचार्य बनने की धुन में स्वामी ने अपने दौरों में आर्य समाजियों को शास्त्रार्थ करने की प्रक्रिया को भी समाप्त करने का सुझाव दिया। इतना सब कुछ करने पर भी 'हिन्दू संगठन' के धर्माचार्य के रूप में उनकी छवि उभर नहीं सकी। पौराणिक हिन्दुओं ने मदन मोहन मालवीय के मुकाबले में उन्हें सम्पूर्ण हिन्दू जाति का प्रतिनिधि न मानकर मात्र आर्य समाज का प्रतिनिधि ही माना। कांग्रेस ने कांग्रेस संस्कृति में उन्हें घुसपैठिया समझते हुए कभी सहयोग नहीं दिया। स्वामी जी को साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू महासभा रास नहीं आई। अन्त में शरण के लिये उसी पुराने आर्य समाज की ओर बढ़ने का मन बनाया। और हिन्दू संगठन को 'आर्य संगठन' नाम देकर कार्य करना आरम्भ कर दिया। स्वामी जी की मान्यता के अनुसार आर्य समाज के संगठन के पश्चात् ही हिन्दू संगठन का आधार दृढ़ हो सकता है। अतः आर्य समाज के संगठन को दृढ़ करने की इच्छा से उन्होंने अपनी पुरानी माँद पंजाब का दौरा किया।

आर्य संगठन

इस दौरे में उनका प्रथम उद्देश्य– संगठन की दृष्टि से आर्य समाजियों के पारस्परिक आन्तरिक विवादों को समाप्त करना था। दूसरा उद्देश्य इससे कुछ विस्तृत था जिसमें आर्य संस्कृति से ही निकले हुए सनातन, जैन और सिक्ख सम्प्रदायों के साथ ताल–मेल करके आर्य समाज़ के सामाजिक सुधारों के कार्यो में उनका सहयोग प्राप्त करना था।तीसरा उद्देश्य उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। इस उद्देश्य में मौलवियों के प्रभाव में आए उन मुरालमानों को समझाने का कार्य था जो हिन्दुओं को मात्र हिन्दू होने के कारण अपना शत्रु समझने की गलती पर थे। पांच सप्ताह के इस दौरे में स्वामी जी ने 26 नगरों में भाषण दिये। 'आर्य संगठन' की एकता के लिए गुरुकुल तथा कालेज पार्टी को मिलाने के लिए समझौते के कई प्रस्ताव रखे। इन सुझावों में दोनों दलों के अहं को पूरा करने के लिए यह भी सुझाव था कि पंजाब में आर्य प्रतिनिधि सभा (गुरुकुल पार्टी) और आर्य प्रादेशिक सभा (कालेज पार्टी) दोनों ही सभाएं रहे, परन्तु इन दोनों का सम्बन्ध सार्वदेशिक सभा से रहे। स्वामी जी के प्रयास वन्ध्य सिद्ध हुए, क्योंकि मांस भक्षण का विषय आड़े आया। अन्य दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्वामी जी ने आर्य समाजियों को शास्त्रार्थ करने से विरत करना चाहा। स्वामी जी के इस सुझाव से अनेक आर्य समाजी सज्जन रुष्ट हो गए। वे यह सोचने लगे कि स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश के अन्तिम समुल्लासों को अनुपयोगी समझकर ऐसा सुझाव दे रहे हैं, क्योंकि इन चारों समुल्लासों में स्वामी जी ने सनातनी, जैन सिक्ख, मुसलमान और ईसाई मत–मतान्तरों का खण्डन किया है।

'आर्य संगठन' के निमित्त किये गए इस दौरे को असफल मानते हुए स्वामी जी ने 7 नवम्बर, 1925 ई0 'अर्जुन' समाचार पत्र में लिखा ''मेरा प्रयत्न समाप्त हो गया, अब इस विषय में दखल नहीं दूंगा। कहीं–कहीं गद्दीनशीनों की ओर से ढाल के लिए भ्रममूलक अपवाद फैलाये जा रहे थे, क्योंकि वे समझ बैठे थे कि वे उनके इन्द्रासन को छीनने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। यह उनकी भूल है। वह कौन सा पद है, जिसे मैंने उत्सुक कार्यकर्ताओं के लिए स्वयं नहीं त्यागा।''

असगरी बेगम की शुद्धि

इस असफलता के बाद भी स्वामी जी निराश नहीं हुए और उन्होंने अपने जीवन की सन्ध्या में अपने प्रिय विषय 'शुद्धि' की ओर पहले भी अधिक उत्साह के साथ ध्यान देना आरम्भ कर दिया।

दिल्ली में रहकर मार्च, 1926 ई0 में स्वामी जी ने 'असगरी बेगम' नामक विवाहिता मुसलमान महिला की शुद्धि की। असगरी बेगम करांची से अपने दो बच्चों के साथ दिल्ली आई और हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। बहुत सोच–विचार के अनन्तर स्वामी जी ने उसकी प्रबल इच्छा को जानकर शुद्धि कर दी। शुद्धि संस्कार के उपरान्त आर्य धर्म में प्रविष्ट होने पर उसे शान्ति देवी का नया नाम दिया गया। शान्ति देवी को स्थानीय 'वनिताश्रम' में स्थान दिलाकर उसकी पढ़ाई–लिखाई का प्रबन्ध किया गया। वह शीघ्र ही हिन्दी एवं संस्कृत सीख गई। लगभग तीन महीने के बाद उसके पिता ताज मुहम्मद खां को पता चला कि उसकी बेटी असगरी मुस्लिम धर्म छोड़कर हिन्दू बन गई है और आजकल दिल्ली में है। यह सूचना मिलते ही उसका पिता दिल्ली पहुंचा और कुछ दिनों के पश्चात् असगरी का पति अब्दुल हलीम भी दिल्ली पहुंच गया। उन दोनों ने शान्ति देवी से मिलकर फिर से इस्लाम धर्म स्वीकार करके वापिस चलने का आग्रह किया। परन्तु वह अपने निर्णय से टस से मस नहीं हुई। उसे डा0 अन्सारी के पास भी इस दृष्टि से भेजा गया कि वह अपना निश्चय बदल ले। परिणाम वही ढाक के तीन पात।

इस प्रकार सब प्रकार के हथकण्ड़ों के प्रयोग से निराश होकर, इस्लामी अंजुमनों द्वारा भड़काये जाने पर उसके पति ने स्वामी जी, उनके दामाद डा0 सुखदेव, स्वामी जी के पुत्र इन्द्र, लाला गणपत राय और करांची आर्य समाज के मन्त्री पर मुकदमा दायर कर दिया। मुकदमें के मध्य शान्ति देवी की सुरक्षा का प्रबन्ध करना अनिवार्य समझा गया। स्थानीय वनिताश्रम को असुरक्षित समझ कर उसे गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जैसे दुर्गम स्थान पर भेज दिया गया और कुछ समय बाद वहाँ से भी उसे गुरुकुल कांगड़ी पहुंचा दिया गया। यह मुकदमा कुछ मास चला और सभी अभियोगी निर्दोष सिद्ध हुए। मुकदमें में हार के कारण असगरी बेगम (शान्ति देवी) के पिता ने स्वामी जी को धमकी देते हुए कहा– "हम पठान लोग है, खून करना हमारे लिए कोई कठिन काम नही है। स्वामी जी ने भी तपाक से उत्तर दिया कि वे भी हथेली पर सिर रखे घूमते फिरते हैं।

मुकदमें के दौरान गुरुकुल कांगड़ी में रहते हुए शान्ति देवी का सम्पर्क आयुर्वेद कालेज के प्रिंसिपल डा0 राधा कृष्ण के भतीजे अयोध्या नाथ (लाहौर निवासी) से हो गया था। अयोध्या नाथ गुरुकुल का नियमित आवासीय विद्यार्थी तो नहीं था, तो भी वह पाश्चात्य दर्शन पढ़ने के लिए विद्यालंकार की श्रेणियों में बैठ जाता था। दोनों ने परस्पर विवाह सूत्र में बन्धने का निश्चय कर लिया और वे स्वामी जी के पास दिल्ली पहुँच गए। स्वामी जी की स्वीकृति से दोनों का विवाह हो गया। स्वामी जी ने इस जोड़े को आर्थिक संकट से उबारने के लिए अयोध्या नाथ को बिड़ला मिल दिल्ली में नौकरी दिलवा दी।

कनखल में रहने का विचार

सन् 1921 ई0 में स्वामी के गुरूकुल छोड़ने पर आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने स्वामी सत्यानन्द को गुरुकुल का आचार्य नियुक्त किया। कुछ काल तक आचार्य पद का दायित्व निभाकर उन्होंने त्याग पत्र दे दिया। इसके उपरान्त सन् 1926 ई0 की जिस घटना का हम वर्णन करने जा रहे हैं, उस वर्ष में प्रो0 रामदेव गुरुकुल के आचार्य थे। आचार्य रामदेव ने स्वामी जी से आग्रह किया कि वे गुरुकुल में रहकर कुलवासियों में नवीन स्फूर्ति का संचार करें। आचार्य जी के बार–बार आग्रह करने पर स्वामी जी सहमत हो गए और इस सम्बन्ध में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब को पत्र लिखा। सभा ने स्वामी जी के पत्र पर विचार किया। सभा मन्त्री महाशय कृष्ण ने स्वामी जी को लिखा "आप थोड़े समय तक गुरुकुल में रह सकते हैं। उस उत्तर से स्वामी जी की आत्मा आहत हुई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे गुरुकुल के समीप कनखल में ही मकान बनवाकर रहेंगे। जमीन के लिए उन्होंने बयाना भी दे दिया। सभा के अनेक सदस्यों को जब इस घटना का पता लगा तो वे सभा मन्त्री महाशय कृष्ण के उत्तर से बड़े नाराज हुए। पर जो होना था सो हो गया और स्वामी गुरुकुल में नहीं आ सके।

चुनाव में बिड़ला की सहायता

सन् 1926 ई0 का वर्ष भारतीय राजनीति में चुनावों की दौड़–धूप का वर्ष था। इस चुनाव में कौंसिलों (तत्कालीन विधान सभाओं को कौन्सिल्स कहा जाता था) के चुनावों के लिए कांग्रेस ने अपने प्रत्याशी खड़े किए थे। कांग्रेस के मुकाबले में कांग्रेस के ही विद्रोहियों द्वारा निर्मित नई पार्टी के दिग्गजों मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने भी हिन्दू हितों के लिए 'नेशलिस्ट' पार्टी की तरफ से अनेक प्रान्तों में अपने प्रत्याशी चुनाव मैदान में उतारे। हिन्दू हितों के महारथी मालवीय जी और लाला जी को स्पष्ट पता था कि स्वामी का कांगेस से मोहभंग हो चुका है और वे हिन्दू संगठन के लिए प्राणपण से समर्पित है। अतः ये दोनों स्वामी जी के पास सहायतार्थ आए और इच्छा प्रकट की कि वे इस चुनाव में पार्टी प्रत्याशी बनें और पार्टी हित में चुनाव प्रचार भी करने की कृपा करें। स्वामी जी इस प्रस्ताव को मानने में झिझक रहे थे। उनकी झिझक के तीन प्रमुख कारण थे। प्रथम तो वे अनेक वर्षो से राजनीति

के क्षेत्र से कटकर अछूतोद्धार और शुद्धि जैसे सामाजिक कार्यों में अपना समय दे रहे थे। द्वितीय, कांग्रेस से मोहभंग होने पर भी उनकी मानसिकता इस सीमा तक तैयार नहीं थी कि साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव लड़ने वाली एक नई पार्टी को, राष्ट्रहित के सन्दर्भ में देखते हुए कांग्रेस के विरुद्ध सहायता दी जाए। तृतीय इस चुनाव में उनका पुत्र इन्द्र बड़े सक्रिय रूप में कांग्रेस के समर्थन में लगा हुआ था और स्वामी जी ने उसे कभी इस कार्य से रोका नहीं था। अन्ततः स्वामी जी इस बात के लिए सहमत हो गए कि नेशलिस्ट पार्टी की तरफ से चुनाव के लिए जो अपील की जाए, उस पर उनका नाम भी लिख दिया जाए। इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वे इस चुनाव में पार्टी के समस्त प्रत्याशियों के पक्ष में समर्थन न देकर व्यक्तिगत प्रत्याशियों को ही समर्थन देंगे।

अपील पर स्वामी जी के नाम को देखकर नेशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं में उत्साह का संचार हो गया। उसी उत्साह में उन्होंने इन्द्र को कांग्रेस से झटकने के लिए तार देकर लाला लाजपत राय को लाहौर से दिल्ली बुलाया। लाला जी ने इन्द्र से कांग्रेस का समर्थन छोड़ देने के लिए कहा। इन्द्र ने लाला जी से निवेदन किया कि ऐसे विषयों में उन्हें स्वामी जी ने सदा स्वतन्त्र छोड़ रखा है और वे अपने मन्तव्य के अनुसार कांग्रेस का समर्थन कर रहे हैं। ये सारी बातें स्वामी जी की उपस्थिति में हो रही थी। लाला जी ने इन्द्र का उत्तर सुनकर स्वामी जी की ओर देखा। इन्द्र के पिता और गुरु स्वामी श्रद्धानन्द ने द्रोणाचार्य के समान एकलव्य का अंगूठा न मांगकर आत्म सन्तोष के साथ कहा– "इन्द्र ठीक कहता है, मैंने इसे विचार और कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है[७३]।" इस प्रकार इस चुनाव में पिता एवं गुरु और पुत्र और शिष्य राजनैतिक अखाड़े में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बने।

इस चुनाव में व्यक्तिगत प्रत्याशी के रूप में स्वामी जी ने घनश्याम दास बिड़ला की सहायता की। बिड़ला नेशलिस्ट पार्टी की तरफ से बनारस की सीट के लिए चुनाव लड़ रहे थे। घनश्याम दास बिड़ला के प्रति स्वामी जी के मन में आदरभाव था, क्योंकि उन्होंने शुद्धि कार्य के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की थी[७४]। स्वामी जी नवम्बर, 1926 के अन्त तक बिड़ला के चुनाव क्षेत्र में व्यस्त रहे। इसका परिणाम यह निकला कि पहले से बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया। बनारस से आने के बाद स्वास्थ्य लाभ के लिए स्वामी जी गुरुकुल कुरुक्षेत्र में जाकर विश्राम करना चाहते थे और उसके बाद गोहाटी कांग्रेस अधिवेशन में जाने का विचार रखते थे। गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आचार्य सोमदत्त विद्यालंकार को व्यवस्था करने के लिए पत्र भी लिख दिया था और 8 दिसम्बर, 1926 ई0 को कुरुक्षेत्र पहुँचने की सूचना भी भेज दी थी। इसी मध्य गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के आचार्य ने आकर निवेर्दन किया कि कुछ समय के लिए आप इन्द्रप्रस्थ चलिए। स्वामी जी उनके आग्रह को न टाल सके। इन्द्रप्रस्थ पहुँचते ही आर्य समाज के ऐरावत का स्वास्थ्य अचानक खराब हो गया और उन्हें भीषण बुखार की स्थिति में दिल्ली वापिस लाया गया।

सीने पर गोली खाकर चल दिए

दिल्ली आने पर पता चला कि स्वामी जी को भयंकर निमोनिया है। डाक्टर सुखदेव और डा0 अन्सारी के उपचारों से स्वामी जी निमोनिया के आक्रमण से बच चुके थे। निर्बलता जरूर थी। रोग का सिर कट चुका था, परन्तु सिर कटे रोग ने एक भावना अवश्य बैठा दी थी कि यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा, अब ऐसा शरीर प्राप्त करूँ, जो धर्म की सेवा में काम आ सके[७५]। 21 दिसम्बर को मदन मोहन मालवीय की तरफ से व्याख्यान वाचस्पति दीनदयाल शर्मा भी स्वामी जी से मिलने आए थे, उन्हें भी यही शब्द कहे थे[७६]। स्वामी जी ने अपने जीवन की अन्तिम लीला समाप्त होने की सम्भावना को देखते हुए वसीयत लिखने का आदेश दिया। इन्द्र को बैंक में पड़े हुए रुपयों के लिए निर्देश देते हुए कहा– "इस शरीर का कोई ठिकाना नहीं। तुम एक काम जरूर करना। मेरे कमरें

में आर्य समाज के इतिहास की सामग्री पड़ी है, उसे सम्भाल लेना और समय निकाल कर इतिहास जरूर लिख डालना। इतिहास के लिखने में मुझे माफ नहीं करना। मैंने बड़ी–बड़ी भूलें की हैं। तुम्हें तो मालूम है कि मैं क्या करना चाहता था और किधर पड़ गया[97]।''

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र लिखने वाले पंडित लेखराम अपने बलिदान के कारण उनका जीवन चरित्र पूरा नहीं कर सके, ठीक उसी प्रकार आर्य समाज के इतिहास को अपने बलिदान के कारण स्वामी जी पूरा नहीं कर सके। आर्य समाज का इतिहास बलिदानों की घटनाओं की कहानी के लिए लालायित रहा है। इतिहास सदा लाल स्याही का ही चटोरा होता है। उसे अभी एक कषाय वस्त्रधारी संन्यासी के रक्त की इच्छा थी। अतः वह स्वामी जी के हाथों से कैसे लिखा जाता।

23 दिसम्बर, 1926 ई0 का सायंकाल का पौने चार बजे का समय। स्वामी जी से मिलने वालों का तांता। नित्य नियमानुसार शौचादि कर्मों से निवृत्त होने के लिए स्वामी जी की तैयारी देखकर मिलने वाले एक–एक करके कमरे से चले गए। स्वामी जी नित्य कर्मों से निवृत्त होकर मसनद के सहारे सावधान होकर इस प्रकार बैठ गए मानो किसी की प्रतीक्षा में बैठे हो। इतने में दरवाजा खटका और सेवक धर्म सिंह के कान चौकन्ने हुए। दरवाजे के पास जाकर देखा कि वेश–भूषा से स्पष्ट रूप में मुसलमान दीखने वाला व्यक्ति द्वार पर खड़ा है। सेवक ने आने का कारण जानना चाहा। आगन्तुक का सपाट उत्तर था– 'शंका समाधान' के लिए स्वामी जी से मिलने की इच्छा है। सेवक ने विश्राम करने का बहाना करके टालना चाहता, परन्तु आगन्तुक अपनी हट पर अड़ा रहा। दोनों की नोंक–झोंक को सुनकर स्वामी जी की सहज प्रतिक्रिया थी– आने दो। स्वामी जी के कमरे में आकर उसने सर्वप्रथम स्वामी जी की बैठने की स्थिति को अपनी पैनी आँखों से परखा और पानी पीने की इच्छा प्रकट की। कमरे से बाहर आकर पानी पिया और फिर आकर मसनद के सहारे बैठे हुए स्वामी जी पर दो गोलियाँ दाग दीं। निजी सचिव धर्मपाल ने हत्यारे को दबोच लिया, सेवक धर्म सिंह भी घायल हुआ। गोली मारने वाले उस हत्यारे का नाम था अब्दुल रशीद। वह हिन्दुओं के लिए 'अब्दुल जिन्न' (गलघोंटू बीमारी) बन कर आया था। अन्धकारमयी पृथ्वी को अपनी किरणों से प्रकाशित करने वाले सूर्य की अस्तंगामी लालिमा के साथ आर्य समाज की राजनीति का भीष्म पितामह रक्त रंजित छाती के साथ सूर्य की लालिमा के साथ अपनी अस्तंगामी लालिमा मिलाते हुए परम पदवी को प्राप्त हो गया। सूर्य की लालिमा और रक्तरंजित भगवे वस्त्रों की लालिमा में से कौन सी लालिमा उस समय अधिक थी, इसकी गवाही शोकाकुल जन समुदाय स्वयं दे रहा था। सर्वत्र सन्नाटा। अन्धकार ही अन्धकार। हिन्दू–मुसलमान दोनों के चेहरे शोक में निमग्न और हक्के–बक्के। 25 दिसम्बर अन्त्येष्टि का दृश्य तो इससे भी अधिक हृदय द्रावक। निगम बोध घाट की ओर पार्थिव शरीर को ले जाते देखकर सहस्रों लोग आँखों से अर्घ्य देकर अपनी मौन श्रद्धांजलि देने लगे। सबके मन में यही एक भावना थी– ''मरते–मरते भी हमें मरना सिखाकर चल दिये।''

सन्दर्भ (पाँचवां अध्याय)

1. इन्द्र, मेरे पिता : संस्मरण			पृष्ठ 261
2. लीडर	(दैनिक समाचार पत्र)		21 जनवरी, 1923
3. जोर्डेन्स,	वही		131
4. सत्यदेव,	वही		581
5. लीडर,			7 फरवरी, 1923
6. सत्यदेव,	वही		592
7. निरूपण एवं विनोद चन्द्र,	वही		296
8. लीडर,			23 फरवरी, 1923
9. जोर्डेन्स,	वही		132
10. लीडर,			5 अप्रैल, 1923
11. (क) सत्यदेव,	वही		594
(ख) जोर्डेन्स,	वही		134
12. सत्यदेव,	वही		598
13. (क) भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड पाँच	171
(ख) जोर्डेन्स,	वही		135
14. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड पाँच	171–72
15. जोर्डेन्स,	वही		135
16. विष्णु प्रभाकर एवं विष्णुदत्त राकेश, स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती			47
17. लीडर			1 अक्टूबर, 1923
18. जोर्डेन्स,	वही		144
19. सत्यदेव,	वही		589
20. सत्यदेव,	वही		569
21. सत्यदेव,	वही		571
22. सत्यदेव,	वही		572
23. लीडर,			11 तथा 12 मई, 1924
24. सत्यदेव,	वही		589–90
25. इन्द्र,	वही		264–65
26. लीडर			27 जून, 1924
27. निरूपण एवं विनोद चन्द्र,	वही		328
28. सत्यदेव,	वही		560–61
29. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड पाँच	157

30. सत्यदेव, वही 579–80
31. निरूपण एवं विनोद चन्द्र, वही 343
32. इन्द्र, वही 266–67
33. निरूपण एवं विनोद चन्द्र, वही 398
34. इन्द्र, वही 163–66
35. इन्द्र, वही 167–68
36. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड एक 103
37. बी0सी0 जोशी, लाला लाजपत राय ओटो बाईओग्रेफिकल राइटिंग 601
38. जोर्डेन्स, वही 170
39. निरूपण एवं विनोद चन्द्र, वही 340
40. निरूपण एवं विनोद चन्द्र, वही 276
41. जोर्डेन्स, वही 150
42. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड एक 48
43. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड एक 53
44. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड एक 54
45. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड एक 93
46. धर्मपाल, एकता के सूत्रधार श्रद्धानन्द 41
47. निरूपण एवं विनोद चन्द्र, वही 378
48. निरूपण एवं विनोद चन्द्र, वही 379
49. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड चार 155
50. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड चार 157
51. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड चार 165
52. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 54
53. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 44
54. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 62
55. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 64
56. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 66
57. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 67
58. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 68–69
59. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 86–87
60. भवानी लाल भारतीय, वही खण्ड तीन 63
61. विष्णु प्रभाकर एवं विष्णु दत्त राकेश, वही 48

62. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	6
63. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	8
64. विष्णु प्रभाकर एवं विष्णु दत्त राकेश,	वही		50
65. विष्णु प्रभाकर एवं विष्णु दत्त राकेश,	वही		51
66. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	215
67. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	94
68. जोर्डेन्स,	वही		66
69. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	19
70. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	29
71. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	52
72. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	32
73. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	33
74. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	13
75. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	206
76. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	6–7
77. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड चार	127–28
78. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड चार	184
79. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड चार	196
80. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड चार	13
81. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड चार	33
82. निरूपण एवं विनोद चन्द्र,	वही		131
83. (क) सत्यदेव,	वही		540
(ख) विष्णु प्रभाकर, एवं विष्णु दत्त, राकेश,	वही		60
84. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड चार	90
85. धर्मपाल,	वही		74
86. सत्यदेव,	वही		615
87. सत्यदेव,	वही		615–16
88. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड एक	31
89. इन्द्र,	वही		288
90. निरूपण एवं विनोद चन्द्र,	वही		422
91. जोर्डेन्स,	वही		175
92. भवानी लाल भारतीय,	वही	खण्ड पाँच	237–38

93. इन्द्र, वही 270–71
94. जोर्डेन्स, वही 165
95. इन्द्र, वही 273–74
96. सत्यदेव, वही 637–38
97. सत्यदेव, वही 638

सहायक ग्रन्थ

1. अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द – सत्यकाम, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1976
2. आत्म कथा – महात्मा नारायण स्वामी (सम्पादक कपिल देव द्विवेदी), विश्व भारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर, बनारस
3. आत्म कथा अर्थात् आपबीती जगबीती – नरदेव शास्त्री महाविद्यालय, ज्वालापुर 1957
4. आर्य समाज का इतिहास खण्ड एक, तीन, पाँच – सत्यकेतु, आर्य स्वध्याय केन्द्र, नई दिल्ली 1982
5. आर्य निर्देशिका – सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, रामलीला मैदान, नई दिल्ली सं0 2034
6. आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का इतिहास – भीमसेन, आर्य प्रतिनिधि सभा, लाहौर 1935
7. गुरूकुल (कांगडी) के 60 वर्ष – इन्द्र, गुरूकुल कांगडी 1960
8. गुरूदत्त विद्यार्थी – राम प्रकाश, प्रकाशक गुरूकुल झज्जर 1986
9. परोपकारिणी सभा का इतिहास – भवानी लाल भारतीय परोपकारिणी सभा, अजमेर 1975
10. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र (उर्दू) – लेखराम अनुवादक रघुनन्दन सिंह एवं हरिश्चन्द्र, दिल्ली 1972
11. मेरी आत्म कथा के कुछ पृष्ठ – रामदेव, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब 1954
12. मेरे पिता : संस्मरण – इन्द्र, वाचस्पति पुस्तक भण्डार, जवाहर नगर, दिल्ली 1957
13. लौह पुरूष स्वामी स्वतन्त्रतानन्द – राजेन्द्र जिज्ञासु, दीनानगर 1966
14. वीर संन्यासी श्रद्धानन्द – रामगोपाल, वैदिक पुस्तकालय, कलकत्ता 1929
15. सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय (हिन्दी) खण्ड 13 प्रकाशन विभाग सूचना प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार
16. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा – मोहनदास करमचन्द गांधी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली 1963

17. सत्यार्थ प्रकाश – स्वामी दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली सं0 1935
18. संस्कारविधि – स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक मन्त्रालय, अजमेर सं0 1932
19. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (1 से 13 खण्ड) – सम्पादक भवानी लाल भारतीय, गोविन्द राम–हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली 1987
20. स्वामी श्रद्धानन्द – सत्यदेव, विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली 1933
21. स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या और इस्लाम की शिक्षा – देवेश्वर, बनारस 1927
22. स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण व्यक्तित्व – निरूपण एवं विनोद चन्द्र, आर्य प्रकाशन समिति, मेरठ 1986
23. स्वामी श्रद्धानन्द की जीवन झांकी – वेणी प्रसाद जिज्ञासु, हिन्दी साहित्य स्मारिका परिषद् कनखल 1976
24. स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती – विष्णु प्रभाकर एवं विष्णु दत्त राकेश, साहित्य अकादमी, दिल्ली 1993
25. हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप और साहित्य – कमलेश सिंह
26. हिन्दी आत्मकथा साहित्य – विश्वबन्धु
27. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामसरूप चतुर्वेदी
28. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन
29. हरियाणा के आर्य समाज का इतिहास – रणजीत सिंह आर्य प्रतिनिधि सभा, हरियाणा

अंग्रेजी पुस्तकें

30. आर्य समाज एण्ड कांग्रेस पालिटिक्स इन दि पंजाब, 1894–1908, जरनल आफ एशियन स्टडीज (26) 1967
31. लाजपत राय, आटोबाइयोग्रेफिकल राइटिंगस – वी0सी0 जोशी, दिल्ली 1965
32. महात्मा हंसराज, मेकर आफ माडर्न पंजाब – श्रीराम शर्मा उना (पंजाब) 1965
33. माई लाइफ स्टोरी आफ फिफ्टी इयर्स (1886–1941) – राजा महेन्द्र प्रताप, देहरादून, 1947
34. मोपिला मुस्लिमस आफ ए स्टडी इन इस्लामिक ट्रेन्डस– आर0ई0 मिलर, बम्बई, 1976
35. स्वामी श्रद्धानन्द हिज लाइफ एण्ड काजिज– जे0टी0एफ0, जोर्डेन्स, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रैस, न्यूयार्क 1981
36. दि आर्य समाज एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म (1875–1920)– धनपति पाण्डेय, दिल्ली 1972
37. दि वर्क्स आफ लेट पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी– लाला जीवन दास, लाहौर 1902

समाचार पत्र

38. ट्रिब्यून (अंग्रेजी) लाहौर
39. प्रकाश (उर्दू) लाहौर
40. लिबरेटर (अंग्रेजी) दिल्ली
41. लीड़र (अंग्रेजी), इलाहाबाद
42. विजय (हिन्दी) दिल्ली
43. श्रद्धा (हिन्दी) गुरुकुल कांगड़ी
44. सद्धर्म प्रचारक (उर्दू, हिन्दी)
45. जालन्धर, दिल्ली, गुरुकुल कांगड़ी के
46. हितकारी (उर्दू) लाहौर

डॉ रणजीत सिंह - एक परिचय

नाम डा० रणजीत सिंह

जन्म तिथि 8 मार्च 1926

जन्मस्थान ग्राम नारनौंद, तहसील नारनौंद, जनपद–हिसार

पितृनाम श्री चन्दन सिंह जी होत्री, श्रीमती ठरको देवी जी

अध्ययन एवं उपाधियाँ
1. गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार
2. जाट कालिज रोहतक, हरियाणा
3. गवर्नमेन्ट कालिज रोहतक, हरियाणा
4. पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर
5. ओरियन्टल कालिज, जालन्धर
एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत, इतिहास), एम०ओ.एल., पी.एच.डी., एल.एल.बी.

अध्यापन
1. जाट कालिज रोहतक, हरियाणा
2. कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
3. राजकीय कालिज, हरियाणा

लेखन 1. भारत वर्ष का इतिहास, 2. प्रतिपदा, 3. मधुलिका, 4. हरियाणा के आर्य समाज का इतिहास 5. छोटूराम गौरव गाथा, 7. निश्चलदास, 8. निश्चलदास ग्रन्थावली, 9. बांगरु, 10. धर्मप्रवेशिका, 11. धर्मभूषण, 12. ईश्वर का स्वरुप, 13. ओम् नाम का आश्रय, 14. हैदराबाद सत्याग्रह में हरियाणा का योगदान, 15. जाट इतिहास, 16. प्रो. शेरसिंह एक व्यक्तित्व, आदि इनकी रचनाएं हैं। इसके अतिरिक्त 100 से भी अधिक लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

कार्य क्षेत्र आप अन्तरंग, विद्या सभा तथा विद्या परिषद, आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा, 2. गुरुकुल कुरुक्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ तथा दयानन्द उपदेशक विद्यालय, यमुनानगर, 3. उपप्रधान, चौधरी छोटूराम मेमोरियल सोसायटी रोहतक, 4. मेम्बर, पंजाब यूनिवर्सिटी एकेडेमिक सोसायटी, हिन्दी बोर्ड, कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी कुरुक्षेत्र, 5. सदस्य, खेलकूद कार्यकारिणी, युवक कल्याण समारोह कुरुक्षेत्र, 6 चेयरमैन, पंजाब यूनिवर्सिटी रेसलिंग क्लब, कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी रेसलिंग क्लब के सदस्य रहे हैं।

रुचि भाषा विषयक तथा इतिहास विषयक विवेचन, सामाजिक समस्याओं पर चिन्तन एवं लेखन। आपकी रुचि के विषय हैं प्रस्तुत पुस्तक भी इसी का एक अंग है।